जैन धर्म

सार सन्देश

राधास्वामी सत्संग ब्यास

जैन धर्म

सार सन्देश

Ankur Denim Pvt. Ltd.
IX/644, Krishna Gali No. 1,
Subhash Road, Gandhi Nagar,
Delhi-110031

जैन धर्म

सार सन्देश

डॉ. काशी नाथ उपाध्याय

Ankur Denim Pvt. Ltd.
IX/644, Krishna Gali No. 1,
Subhash Road, Gandhi Nagar,
Delhi-110031

राधास्वामी सत्संग ब्यास

समर्पण

नाथ तिहारे नाम तैं, अघ छिन माँहि पलाय।
ज्यों दिनकर परकाश तैं, अन्धकार विनशाय॥
नाम लेत सब दुःख मिट जाय, तुम दर्शन देख्या प्रभु आय।
तुम हो प्रभु देवन के देव, मैं तो करूँ चरण तव सेव॥

बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृ. 177

Ankur Denim Pvt. Ltd.
IX/644, Krishna Gali No. 1,
Subhash Road, Gandhi Nagar,
Delhi-110031

भाग्यवान्

पुस्तकें तो आपने बहुत पढ़ी होंगी लेकिन यह पुस्तक उन सभी से अलग होगी पुस्तक के एक कण ने भी आपके मन को छू लिया तो आपके साथ-२ मेरा भी कल्याण हो जायेगा।

शुभाकांक्षी

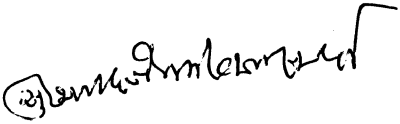

प्रकाशक :
जे. सी. सेठी, सेक्रेटरी
राधास्वामी सत्संग ब्यास
डेरा बाबा जैमल सिंह
पंजाब 143 204

© 2010 राधास्वामी सत्संग ब्यास
सर्वाधिकार सुरक्षित

पहला संस्करण 2010

मुद्रक: रैपलिका प्रैस प्राईवेट लिमिटेड

Published by:
J. C. Sethi, Secretary
Radha Soami Satsang Beas
Dera Baba Jaimal Singh
Punjab 143 204

© 2010 Radha Soami Satsang Beas
All rights reserved

First edition 2010

17 16 15 14 13 12 11 10 8 7 6 5 4 3 2 1

ISBN 978-81-8256-924-9

Printed in India by: Replika Press Pvt. Ltd.

विषय सूची

प्रकाशक की ओर से 11

प्रस्तावना 13

1. **जैन धर्म की प्राचीनता** 19
   - 'जैन', 'जिन' और 'तीर्थंकर' के अर्थ 19
   - तीर्थंकरों, गणधरों और आचार्यों की परम्परा 20
   - महावीर स्वामी के पहले आनेवाले तीर्थंकर 24
   - महावीर स्वामी का जीवन 28
   - जैन धर्म का साहित्य 30

2. **जैन धर्म का स्वरूप** 35
   - सभी सुख की खोज में 35
   - जैन धर्म क्या है ? 41
     - जैन धर्म के सामान्य लक्षण 41
     - जैन धर्म के विशेष लक्षण 45
   - जैन धर्म की उदार दृष्टि 54
   - जैन धर्म क्या नहीं है ? 62

3. **जीव, बन्धन और मोक्ष** 72
   - जीव और अजीव की भिन्नता 72
   - कर्म: बन्धन का मूल कारण 77
   - मोक्ष 83
     - बन्धन से मुक्त होने की प्रक्रिया 83
     - मोक्ष-मार्ग: रत्नत्रय 87

4. **अहिंसा** 104
अहिंसा का स्वरूप 104
गृहस्थ और अहिंसा 115
अहिंसा की महिमा 119
हिंसा की घोर निन्दा 124
मांस-मदिरा का निषेध 129

5. **मानव-जीवन** 136
मानव-जीवन की दुर्लभता 136
मानव-जीवन की क्षणभंगुरता 139
मानव-जीवन की सार्थकता 144
मानव-जीवन की निरर्थकता 155

6. **गुरु** 161
गुरु की आवश्यकता 161
गुरु का स्वरूप 176
गुरु-प्राप्ति का फल 184
शिष्य का कर्तव्य 198
कुगुरु की सेवा से हानि 209

7. **दिव्यध्वनि** 216
दिव्यध्वनि का स्वरूप 216
दिव्यध्वनि का प्रभाव 225

8. **अनुप्रेक्षा (भावना)**
वैराग्य बढ़ानेवाली भावनाएँ 234
ध्यान को स्थिर बनानेवाली भावनाएँ 258

9. अन्तर्मुखी साधना 263
मन का नियन्त्रण 264
ध्यान की अनिवार्यता 269
ध्यान का स्वरूप 271
ध्यान के भेद 275
गुरु-मूर्ति-ध्यान और मन्त्र-स्मरण 284
अनाहत ध्यान 292
रूपस्थ और रूपातीत ध्यान 296
ध्याता के आवश्यक गुण 305
ध्यान का आसन, स्थान, समय और फल 310

10. आत्मा से परमात्मा 318
बहिरात्मा 319
अन्तरात्मा 324
परमात्मा 332

सन्दर्भ सूची 347
मुख्य ग्रन्थकार: संक्षिप्त परिचय 379
सन्दर्भ ग्रन्थ 385
हमारे प्रकाशन 391

प्रकाशक की ओर से

संसार के सभी जीव सुख प्राप्त करना चाहते हैं। पर सभी किसी न किसी प्रकार न्यूनाधिक रूप में दु:खी ही दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि बहुत-से लोग गम्भीरता और गहराई से इस विषय पर विचार नहीं करते कि सच्चा सुख किसे कहते हैं और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। संसार के अनेकानेक जीवों में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि उसे विवेक की शक्ति प्राप्त है जिसका सदुपयोग कर वह सच्चे सुख के सम्बन्ध में गहराई से विचार कर सकता है और उचित साधन को अपनाकर सच्चे सुख और शान्ति की प्राप्ति कर सकता है। पर आजकल के व्यस्त संसारी जीवन में अधिकांश मनुष्य अपने विवेक को भुलाकर मन और इन्द्रियों के प्रभाव में बाहरी विषयों में सुख ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं। पर ऐसा करने से उन्हें सदा असन्तोष, अशान्ति और निराशा ही हाथ लगती है।

भारत के कुछ प्राचीन महापुरुषों ने बाहर भटकनेवाले मन तथा इन्द्रियों को वश में करके अपने मनोविकारों पर विजय प्राप्त की। इन विजेताओं को ही 'जिन' कहते हैं। ऐसे 'जिन' या महान् संयमी महापुरुषों ने आत्मसाधना द्वारा अपने सच्चे स्वरूप को पहचाना और सच्चे सुख और शान्ति की प्राप्ति की। 'जिन' के अनुयायियों को ही 'जैन' कहा जाता है। जैन-परम्परा के अनुसार अनादि काल से ही उच्चकोटि के महात्मा, 'जिन' पुरुष या मुनिजन संसार में जीवों के कल्याण के लिए आते रहे हैं। इस प्रकार जैन धर्म को भारत का एक अत्यन्त प्राचीन धर्म माना जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी जैन धर्म के मूल विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

जैन धर्म के अनुसार आत्मा अचेतन पदार्थों से बिल्कुल भिन्न एक चेतन, नित्य और अविनाशी तत्त्व है जो अनन्त सुखों का भण्डार है। जैन धर्म इसी अमर आत्मतत्त्व को पहचानने का उपदेश देता है। जो भाग्यशाली जीव आत्मा की पहचान कर लेता है, वह परमात्मा बन जाता है।

इस पुस्तक के लेखक डॉ. काशी नाथ उपाध्याय भारतीय दर्शन के एक जाने-माने विद्वान् हैं, जिन्होंने लगभग 18 वर्षों तक भारत के उच्च शिक्षण संस्थानों में और 25 वर्षों तक अमेरिका के हवाई विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शन का उच्चस्तरीय अध्यापन और अनुसन्धान-कार्य किया है। दर्शन और अध्यात्म-सम्बन्धी विषयों पर इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन्होंने जैन धर्म के विशाल साहित्य से आवश्यक सामग्री एकत्र कर जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों और उसके आचार, विचार तथा विशेष रूप से मोक्ष-प्राप्ति के साधनों से सम्बन्धित विषयों को सरल और प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में इन्होंने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि जैन धर्म किसी व्यक्ति, वर्ग, सम्प्रदाय या जाति का धर्म नहीं है बल्कि यह सभी प्रकार की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर सभी मनुष्यों को समान रूप से कल्याण का मार्ग दिखलाता है।

आशा है यह पुस्तक सच्चे जिज्ञासुओं, साधकों और सर्वसाधारण पाठकों – सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगी और सभी इसके निष्पक्ष अध्ययन द्वारा अपने आत्मकल्याण के मार्ग में आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

डेरा बाबा जैमलसिंह,
ज़िला अमृतसर, पंजाब
मई, 2010

जे. सी. सेठी,
सेक्रेटरी,
राधास्वामी सत्संग ब्यास

प्रस्तावना

दुनिया का इतिहास बताता है और आये दिन की परिस्थितियों से भी पता चलता है कि धर्म के नाम पर जितना अत्याचार हुआ है और अभी हो रहा है, उतना शायद अन्य किसी चीज़ के चलते नहीं हुआ। इसे देखते हुए लोगों की धर्म से अरुचि होती जा रही है। फिर जैन धर्म या किसी भी अन्य धर्म के सम्बन्ध में कुछ लिखने या विचार करने का प्रयोजन ही क्या है?

यहाँ शुरू में ही यह समझ लेना आवश्यक है कि धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचार का वास्तविक कारण धर्म नहीं है। यदि कोई साधु या गुरु का वेष बनाकर और बाहरी तौर पर उनकी नक़ल कर लोगों को ठगता फिरे तो इससे साधु या गुरु का पद तो बुरा नहीं हो जाता। धर्म किसी को बुराई की ओर नहीं ले जाता। पर जब मनुष्य अपनी मनुष्यता को भुलाकर पशु से भी नीच वृत्तिवाला बन जाता है तब वह धर्म जैसी पवित्र चीज़ को भी अधर्म का रूप देकर अपने और मानव-समाज के साथ घोर अत्याचार करता है।

अन्धविश्वास, पूर्वाग्रह या पक्षपात के कारण मनुष्य झूठ को भी सत्य मान सकता है। झूठ अनेक हो सकते हैं, पर सत्य सदा एक ही होता है। भले ही समय, परिस्थिति या आवश्यकता के अनुसार हम इसके अनेक पहलुओं पर विचार करें या ज़ोर दें। इस एक सत्य पर आधारित धर्म भी एक ही हो सकता है, भले ही विभिन्न समयों और परिस्थितियों में इसके अनेक पहलुओं पर ज़ोर दिया गया हो। इस सम्बन्ध में जैन, बौद्ध, योगदर्शन तथा अनेक आधुनिक ध्यान और समाधि की विधियों के गहरे और तुलनात्मक अध्ययन और अनुभव के आधार पर रणजीत सिंह कूमट ने बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहा है:

> धर्म एक है, सनातन है, सार्वजनीन (सबसे सम्बन्ध रखनेवाला) है, सबके लिए है और मंगलकारी है। भेद केवल सम्प्रदाय अथवा पंथ और पंथ के कर्मकाण्डों में है; सिद्धान्तों और सत्य वचनों में नहीं है।

सत्य के साक्षात्कार की अनुभूति सबकी एक सरीखी है। अत: 'धर्म' के नाम पर हो रहे झगड़े सत्य और सिद्धान्त पर आधारित नहीं हैं, वरन् निजी स्वार्थ व लोगों को भ्रमित करने की भावना से प्रेरित हैं।[1]

यदि किसी भी धर्म की तह में जाकर उसके मूल सिद्धान्तों पर विचार करें तो हम पायेंगे कि सभी धर्म समान रूप से मनुष्य को अपने कल्याण का मार्ग दिखलाते हैं। सच्चे सन्त-महात्मा धर्म की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर अपना कल्याण करते हैं और फिर सबको अपने ही समान समझकर उनके हित के लिए उन्हें भी उसी धर्म का उपदेश देते हैं। पर यदि हम धर्म के मर्म को समझें ही नहीं और बाहरी क्रियाओं और कर्मकाण्ड को ही धर्म मान लें तो यह हमारी अपनी भूल है। यदि कोई व्यक्ति किसी फल के गूदे को फेंककर उसके ऊपरी छिलके को ही सबकुछ मान ले तो उसे न उस स्वादिष्ट फल का स्वाद मिलेगा और न सन्तुष्टि ही होगी। इसी तरह यदि कोई अन्न को छोड़कर भूसे को ही सार तत्त्व मान ले अथवा हीरे-जवाहरात को छोड़ उनके डब्बों को ही गले में लटकाये फिरे तो यह उसकी निरी मूर्खता है।

समय-समय पर आनेवाले विभिन्न सन्तों और महात्माओं ने सत्य का साक्षात् अनुभव प्राप्त कर धर्म के सम्बन्ध में जो उपदेश दिया था वह मूलत: एकरूप था। पर समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार उन्होंने उसे विभिन्न ढंग से विभिन्न भाषाओं में समझाया था। बाद में आनेवाले धर्म के रखवालों ने, जिन्हें सत्य का साक्षात् अनुभव नहीं था, धर्म के मूल तत्त्व पर ध्यान न देकर विभिन्न परिस्थितियों से उत्पन्न बाहरी क्रियाओं, रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड पर ज़ोर देना शुरू कर दिया और अपने-अपने समय के महात्मा को सबसे बड़ा या श्रेष्ठ बतलाकर अपना-अपना अलग धर्म या सम्प्रदाय बना लिया। बाद में वे एक-दूसरे से वैर-विरोध कर आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। यहाँ यह विचार करने की बात है कि जिसे स्वयं ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है या जिसका ज्ञान केवल कुछ सांसारिक विषयों तक ही सीमित है वह महान् सन्तों और महात्माओं के आध्यात्मिक ज्ञान के ऊँचे या नीचे होने का निर्णय कैसे कर सकता है? ज़मीन पर बैठा हुआ मनुष्य आसमान के अनेकों तारों

में से भला कैसे किसी एक को सबसे बड़ा, सबसे ऊँचा और सबसे अधिक प्रकाशवान् बतला सकता है? ज़मीन पर चलनेवाली चींटी भला पहाड़ के ऊँचे-ऊँचे शिखरों में से किसी एक के सबसे ऊँचे होने का सही अनुमान कैसे लगा सकती है?

प्राचीन सन्तों, महात्माओं या तीर्थंकरों ने अपनी कठिन साधना द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचाना और दयापूर्वक जीवों के कल्याण के लिए यह समझाया कि यह आत्मा ही जीवन का सार है। यही समस्त ज्ञान और आनन्द का भण्डार है। अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहचानना ही धर्म है और यह धर्म ही मोक्ष का साधन है। अपने स्वरूप को पहचानकर आत्मा परमात्मा बन जाती है। इससे स्पष्ट है कि धर्म अपने-आपमें बुरा नहीं है। यह तो आत्मा को पवित्र करनेवाला और इसे सदा के लिए सुख-शान्ति प्रदान करनेवाला है। पर अपनी बुरी भावनाओं, द्वेषपूर्ण मनसूबों और क्रूर कर्मों द्वारा मनुष्यों ने इसे बदनाम कर रखा है।

सभी जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने आत्मतत्त्व को ही पहचानने का उपदेश दिया है। आत्मा राग-द्वेष, मोह आदि विकारों के कारण अपने को शरीर, इन्द्रियों आदि से भिन्न नहीं समझ पाती और इस कारण सदा दुःख भोगती रहती है। इन राग-द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान आदि विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर अपनी आत्मा के अनन्त ज्ञानमय और आनन्दमय स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर लेनेवाले को 'जिन' (विजेता) कहते हैं और जो 'जिन' के बताये मार्ग पर चलते हैं उन्हें जैन कहा जाता है। अनेक समयों और अनेक स्थानों में आये अनेक जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने बिना किसी भेद-भाव के सबको सदा समान रूप से आत्मतत्त्व का अनुभव प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वे अपने उपदेश को किसी चहारदीवारी में बन्द नहीं करते। वे कोई नया धर्म, सम्प्रदाय या मज़हब नहीं बनाते। सत्य का अनुभव प्राप्त कर उसकी जानकारी देनेवाले इन महापुरुषों को जैन धर्म के अनुसार जिन, महावीर, अर्हत्, बुद्ध, ब्रह्म, हरि, देव, परमात्मा आदि अनेक नामों से पुकारा जा सकता है। अथवा उन्हें इन सभी नामों से परे या स्वतन्त्र भी कहा जा सकता है। जैन धर्म के सच्चे अनुयायी इन नामों के झगड़ों में नहीं पड़ते। वे अपने को इस शब्द-जाल

से अलग रखकर किसी भी नाम से पुकारे गये उस मार्गदर्शक अर्हत् देव या सद्गुरु के उपदेश को भक्ति-भाव के साथ ग्रहण करते हैं और उस उपदेश के अनुसार अपने चित्त को उनके ध्यान में लीन करने का प्रयत्न करते हैं। जैन धर्म की इस उदार भावना की ओर संकेत करते हुए श्री जुगलकिशोर 'मुख्तार' ने बड़े ही सुन्दर ढंग से कहा है:

जिसने रागद्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति-भाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो॥[2]

अपने विचारों और कथनों को व्यापक और सर्वांगीण बनाने के लिए जैन धर्म स्याद्वाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपने विचार, दृष्टिकोण और कथन को उदार, निष्पक्ष और सर्वग्राही (सभी मतों को शामिल करनेवाला) बनाना और इन्हें संकीर्णता, हठधर्मिता और पक्षपात से दूर रखना आवश्यक है। साम्प्रदायिकता के संकुचित विचारों और परस्पर मतभेद से होनेवाले वैर-विरोध और झगड़ों से अपने को ऊपर उठाये रखने में यह सिद्धान्त बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। इसे समझाते हुए आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज कहते हैं:

> यह (जैन) दर्शन ...पदार्थों के स्वरूप का स्याद्वाद की शैली से वर्णन करता है, क्योंकि यदि सापेक्षिक भाव से पदार्थों का स्वरूप वर्णन किया जाए तब किसी भी विरोध के रहने को स्थान उपलब्ध नहीं रहता।[3]

अपने ग्रन्थ, श्री जैनतत्त्व कलिका विकास, के लिखे जाने का मुख्य उद्देश्य बतलाते हुए वे कहते हैं:

> मेरे अंत:करण में चिरकाल से यह विचार विद्यमान था कि, एक ग्रन्थ इस प्रकार से लिखा जाए जो परस्पर साम्प्रदायिक विरोध से सर्वथा विमुक्त हो।[4]

इससे पता चलता है कि जैन धर्म की प्रवृत्ति सदा से वैर-विरोध से दूर रहने की रही है।

यह मनुष्य-जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। इसे प्राप्त करने का लाभ यही है कि हम अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचानकर मोक्ष की प्राप्ति कर लें। सद्ग्रन्थों को पढ़ने से इसके लिए प्रेरणा प्राप्त होती है और साथ ही आध्यात्मिक विषयों की कुछ जानकारी भी मिलती है। पर केवल इसी से हमारा काम पूरा नहीं होता। हमें किसी मुक्तात्मा या सद्गुरु से मोक्ष-मार्ग का उपदेश ग्रहण कर आत्मज्ञान के लिए आन्तरिक साधना करने की आवश्यकता होती है। तभी आत्मानुभव या सत्य की प्राप्ति हो सकती है। सत्य वह नहीं है जिसे हम किसी अन्धपरम्परा के आधार पर या दूसरों की देखादेखी मान बैठते हैं। सत्य तो वह है जिसका हम स्वयं अपने अन्तर में साक्षात् अनुभव प्राप्त करते हैं। इस अनुभव से प्राप्त ज्ञान को हम परोपकार की भावना से दूसरों को प्रेमपूर्वक समझा सकते हैं। पर कभी भी किसी के ऊपर अपने विचारों को लादने या किसी से अनावश्यक वाद-विवाद करने की कोशिश करना व्यर्थ और अनुचित है। अपने हृदय में दया और प्रेम की भावना रखनेवाला आत्मज्ञानी मनुष्य किसी से वैर-विरोध या झगड़ा कर भी कैसे सकता है?

जैन धर्म का साहित्य बहुत विशाल है। अनेक प्राचीन प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में भी जैन धर्म के बहुत से अनुवाद और स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। पर आज के बहुधन्धी समाज में लोगों के पास इन ग्रन्थों को पढ़ने और इन पर गहराई से विचार करने का समय नहीं है। आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में आज के समाज में भौतिकता और भोगवृत्ति बढ़ती जा रही है जिससे सच्चे सुख और शान्ति की आशा दूर होती जा रही है।

प्राचीन सन्तों, महात्माओं और तीर्थंकरों ने गहरी आत्मसाधना द्वारा जिस सत्य की प्राप्ति की थी और जिससे उन्हें सच्चे सुख और शान्ति की प्राप्ति हुई थी उसकी आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी पहले कभी थी। इसीलिए जैन धर्म की सार शिक्षा को सरल, संक्षिप्त और व्यावहारिक रूप से प्रस्तुत करने का विचार किया गया। इस उद्देश्य से जैन साहित्य के अथाह समुद्र में

डुबकी लगाकर आचार्यों और विद्वानों के अनमोल विचारों को, जो अनेक प्राचीन और नवीन जैन ग्रन्थों में मोतियों के समान बिखरे पड़े थे, एकत्र कर तथा उन्हें एकसूत्र में पिरोकर पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का यहाँ प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार इस पुस्तक की सामग्री मुख्यत: जैन आचार्यों और विद्वानों की है। इस पुस्तक के लेखक ने केवल इस सामग्री को एकत्र कर इसे एक विशेष रूप से सजाया है तथा इसे अपने धागे से पिरोकर जैन धर्म के मोतियों की यह नवीन माला तैयार की है। इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये विचारों की पुष्टि अनेक जैन ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा की गयी है जिसमें इनकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह न रहे।

इस पुस्तक में विषयों का चुनाव, जैसा कि इसकी विषय सूची से स्पष्ट है, आध्यात्मिक जिज्ञासुओं और साधकों के व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया गया है। इसलिए जैन धर्म के कुछ सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन यहाँ ग्रन्थ-विस्तार के भय से नहीं किया जा सका है।

यद्यपि जैन ग्रन्थों में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग प्राय: पुलिंग में किया जाता है, फिर भी हिन्दी भाषा में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग प्राय: स्त्रीलिंग में किये जाने के कारण इस पुस्तक में इस शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में ही किया गया है।

आशा है कि यह पुस्तक परमार्थ के जिज्ञासुओं और साधकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी और साधारण पाठक भी इससे यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे।

डॉ. काशी नाथ उपाध्याय
सेवानिवृत्त प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष
दर्शन विभाग, हवाई विश्वविद्यालय
अमेरिका

जैन धर्म की प्राचीनता

'जैन', 'जिन' और 'तीर्थंकर' के अर्थ

'जैन' शब्द 'जिन' शब्द से बना है। 'जिन' शब्द का अर्थ है 'विजेता' या 'जीतनेवाला', अर्थात् राग, द्वेष आदि दोषों पर विजय प्राप्त कर अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को जीतकर जो संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है उसे 'जिन' कहते हैं। जिन के मत को माननेवाले या जिन के बताये मार्ग पर चलनेवाले को जैन कहा जाता है।

जिन की अवस्था की प्राप्ति के लिए पूर्ण ज्ञान या सर्वज्ञता (जिसे जैन धर्म में 'केवल ज्ञान' कहा जाता है) को प्राप्त करना आवश्यक है। इसलिए जिन को 'केवली जिन' भी कहते हैं। केवली जिन दो प्रकार के होते हैं—एक 'सामान्य केवली' और दूसरे 'तीर्थंकर केवली'। सामान्य केवली वे होते हैं जो पूर्ण ज्ञान या केवल ज्ञान प्राप्त कर अपने-आपको बन्धन से मुक्त कर लेते हैं। पर वे दूसरों को उपदेश देने का कार्य नहीं करते। तीर्थंकर केवली वे होते हैं जो पूर्ण ज्ञान या केवल ज्ञान प्राप्त कर दूसरों को इस ज्ञान का उपदेश देते हैं और उन्हें सही मार्ग दिखलाकर उनका कल्याण करते हैं। ऐसे पूर्ण ज्ञानी धर्म-प्रवर्तक और मार्ग-दर्शक ही जैन धर्म में तीर्थंकर कहे जाते हैं।

'तीर्थ' का अर्थ है वह पवित्र निमित्त, घाट या स्थान जहाँ से संसार-सागर को आसानी से पार किया जा सकता है और 'तीर्थंकर' वह है जो उस निमित्त या घाट को स्थापित करता या उसे दिखलाता है और उसके द्वारा जीवों को संसार-सागर से पार कराता है:

तरति संसार-महार्णवं येन निमित्तेन तत् तीर्थम्।
तीर्थंकरोति इति तीर्थंकरः।

जैन धर्म में संसार को अनादि माना जाता है। जैन-परम्परा के अनुसार अनादि काल से ही उच्च कोटि के महात्मा, जिन्हें जैन धर्म में 'जिन' या 'तीर्थंकर' कहा जाता है, इस धर्म के उपदेश द्वारा जीवों का उद्धार करने के लिए संसार में आते रहे हैं। पिछले युग में 24 तीर्थंकर आये थे, वर्तमान युग में भी 24 तीर्थंकर आये हैं और भविष्य में भी 24 तीर्थंकर आयेंगे। इस प्रकार तीर्थंकरों के इस संसार में आने का सिलसिला चलता रहता है।

वर्तमान युग के 24 तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं:

1. ऋषभ नाथ या आदि नाथ 2. अजित नाथ 3. सम्भव नाथ 4. अभिनन्दन नाथ 5. सुमति नाथ 6. पद्मप्रभ 7. सुपार्श्व नाथ 8. चन्द्रप्रभ 9. पुष्पदन्त या सुविधि नाथ 10. शीतल नाथ 11. श्रेयांस नाथ 12. वासु पूज्य 13. विमल नाथ 14. अनन्त नाथ 15. धर्म नाथ 16. शान्ति नाथ 17. कुन्थु नाथ 18. अर नाथ 19. मल्लि नाथ 20. मुनिसुव्रत नाथ 21. नमि नाथ 22. नेमि नाथ या अरिष्टनेमि 23. पार्श्व नाथ और 24. वर्द्धमान महावीर या सन्मति। सभी जैन धर्मग्रन्थों में इन तीर्थंकरों के नाम इसी क्रम से पाये जाते हैं।

तीर्थंकरों, गणधरों और आचार्यों की परम्परा

समय और परिस्थिति के अनुसार ये तीर्थंकर थोड़े बहुत समय के अन्तर पर इस संसार में आते रहे हैं। एक तीर्थंकर के संसार से जाने और दूसरे तीर्थंकर के संसार में आने के बीच के समय में जैन धर्म के उपदेश का प्रवाह मुनियों और आचार्यों की गुरु-शिष्य परम्परा से चलता रहा है। इस परम्परा का उल्लेख करते हुए पण्डित टोडरमल कहते हैं:

> अनादि से तीर्थंकर केवली (सर्वज्ञ) होते आये हैं, उनको सर्व का ज्ञान होता है; ...पुनश्च, उन तीर्थंकर केवलियों का दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा उपदेश होता है जिससे अन्य जीवों को पदों का एवं अर्थों का ज्ञान होता है; उसके अनुसार गणधरदेव अंगप्रकीर्णरूप ग्रन्थ गूँथते हैं तथा उनके

अनुसार अन्य-अन्य आचार्यादिक नानाप्रकार ग्रंथादिक की रचना करते हैं। उनका कोई अभ्यास करते हैं, कोई उनको कहते हैं, कोई सुनते हैं। इसप्रकार परम्परा मार्ग चला आता है।[1]

जैन धर्म के अनुसार तीर्थंकर के वचनों को सुनकर जो उन्हें ज्यों का त्यों याद रखता है उसके ज्ञान को द्रव्यश्रुत ज्ञान कहते हैं। पर जो उनके वचनों के केवल भाव, विचार या अर्थ को याद रखता है उसके ज्ञान को भावश्रुत ज्ञान कहते हैं। जैन धर्म के उपदेश को लिखित रूप दिये जाने के पहले द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के आधार पर ही जैन धर्म की परम्परा चलती रही है।

जैन धर्म में ज्ञान, आचार और धार्मिक पद की दृष्टि से जैन महात्माओं की क्रमशः पाँच श्रेणियाँ मानी जाती हैं: (1) अरहंत (प्राकृत) या अर्हत् (संस्कृत), (2) सिद्ध, (3) आचार्य, (4) उपाध्याय और (5) साधु। केवल इन पाँचों को ही धर्म का उपदेश देने का अधिकार है। इसलिए इन्हीं पाँचों को परम कल्याणकारी, परम पूज्य या परम इष्ट माना जाता है। जैन धर्म में इन्हें ही 'पंचपरमेष्टी' कहते हैं। आचार्यों में जो प्रमुख होते हैं उन्हें गणधर कहा जाता है। एक तीर्थंकर के संसार से जाने और दूसरे के संसार में आने के बीच के समय में ये गणधर, आचार्य, और उपाध्याय ही तीर्थंकरों के उपदेशों को सुरक्षित बनाये रखते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से *तिलोयपण्णत्ती* नामक जैन ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसमें अनेक जैन महापुरुषों के जीवनकाल की तिथियों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ के अनुसार चौबीसवें जैन तीर्थंकर महावीर के परिनिर्वाण के दिन ही उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। महावीर का परिनिर्वाण-काल ईसा पूर्व 527 माना जाता है। गौतम गणधर को ईसा पूर्व 515 में निर्वाण प्राप्त हुआ और इनके निर्वाण प्राप्त करने के बाद सुधर्मा स्वामी को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। सुधर्मा स्वामी का निवार्ण ईसा पूर्व 503 में हुआ। सुधर्मा स्वामी के निर्वाण प्राप्त करने के बाद जम्बू स्वामी को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ और उनका निर्वाण ईसा पूर्व 465 में हुआ। इस प्रकार गौतम गणधर, सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी—यही तीन 'अनुबद्ध केवली' हुए,

अर्थात् यही तीन महावीर के बाद लगातार एक के बाद एक केवल ज्ञान प्राप्त करनेवाले हुए। इनके बाद कोई 'अनुबद्ध केवली' नहीं हुआ।[2]

कहा जाता है कि ईसा पूर्व 465 के बाद से कण्ठ-परम्परा का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा। फिर भी किसी तरह आचार्य विष्णुनन्दि (ईसा पूर्व 465) से लेकर आचार्य लोहार्य या लोहाचार्य (ईस्वी सन् 38) तक आचार्य-परम्परा का क्रम चलता रहा।

बदलती परिस्थितियों में श्रुत-परम्परा का ह्रास होते देख चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पाटलिपुत्र में जैन संघ का एक सम्मेलन बुलाया गया। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में लगभग ईसा पूर्व 363 से ईसा पूर्व 351 तक मगध में बारह साल का अकाल पड़ा था। इससे साधु-संघ बिखर गया। इस अकाल से बचने के लिए आचार्य भद्रबाहु 12000 जैन साधुओं के साथ दक्षिण भारत चले गये। जो जैन साधु दक्षिण भारत नहीं गये उन्होंने आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में अपनी परम्परा जारी रखी। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैन-संघ का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें जैन धर्मग्रन्थों का वाचन और संकलन किया गया। इस सम्मेलन में परम्परागत 12 अंगों में से 11 अंगों का ही संकलन हुआ। कहा जाता है कि बाद में स्थूलभद्र ने बारहवें अंग का भी संकलन कर लिया था जिसमें पहले से चले आ रहे 14 पूर्व भी सम्मिलित थे। पर जब आचार्य भद्रबाहु दक्षिण भारत से वापस आये तो उन्होंने अपनी अनुपस्थिति में आयोजित सम्मेलन में निश्चित किये गये अंगों को मान्यता नहीं दी।

यहाँ यह बतला देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि भद्रबाहु अपने परम्परागत सिद्धान्त और आचार-नियमों में तनिक भी हेरफेर करना नहीं चाहते थे। वे नग्न रहने के नियम का पूरा-पूरा पालन करते थे। पर स्थूलभद्र ने इस नियम में ढील देकर साधु-संघ को लज्जा-निवारण के लिए श्वेत वस्त्र धारण करने की अनुमति दे दी। बाद में ऐसे ही कुछ आचार-व्यवहार की छोटी-छोटी बातों को लेकर जैन धर्म दो भागों में बँट गया। श्वेत (सफेद) वस्त्र धारण करनेवालों को 'श्वेताम्बर' और दिक् अर्थात् सभी दिशाओं को ही वस्त्र मानकर नग्न रहनेवालों को 'दिगम्बर' कहा जाने लगा।

इन दोनों सम्प्रदायों के बीच मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। दोनों ही महावीर स्वामी और अन्य तीर्थंकरों को मानते हैं और उनके उपदेशों में श्रद्धा रखते हैं। केवल आचार-विचार की कुछ गौण बातों को लेकर ही इनमें मतभेद है। प्रधान रूप से इनका मतभेद इन बातों को लेकर है:

1. दिगम्बर सम्प्रदाय के विपरीत श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष को मोक्ष का अधिकार है, उसी प्रकार स्त्री भी मोक्ष की अधिकारिणी है।
2. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार केवली भगवान् भी कवल (कौर, ग्रास) आहार करते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवली को भूख-प्यासादि की वेदना नहीं होती। वे बिना भोजन के जीवन निर्वाह करते हैं।
3. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यदि साधु-संयम में सहयोगी आवश्यक उपकरणों (वस्त्र, पात्र आदि) को रखता है तो भी वह मोक्ष का अधिकारी हो सकता है पर दिगम्बर परम्परा के अनुसार वस्त्र, पात्र आदि धारण करनेवाला साधु मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता।
4. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार माता-पिता के आग्रह पर महावीर स्वामी का विवाह हुआ। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे।
5. श्वेताम्बर आचारांग, सूत्रकृतांग आदि मूल द्वादशांगी को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि बारह अंगों में से अंतिम अंग दृष्टिवाद आज उपलब्ध नहीं है, पर शेष आगम आज भी उपलब्ध हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार काल के दुष्प्रभाव से सारे ही आगम लुप्त हो गये। वे वर्तमान में उपलब्ध आगमों की प्रामाणिकता को नहीं स्वीकार करते।

धीरे-धीरे समय के साथ ये दोनों शाखाएँ अनेक उपशाखाओं में विभक्त हो गयीं।

जैन धर्मग्रन्थों को अन्तिम रूप देने के लिए आचार्य देवर्द्धि के नेतृत्व में जैन-संघ का दूसरा सम्मेलन ईस्वी सन् 454 में वलभी में बुलाया गया। इस सम्मेलन में एकमत से निश्चित किये गये धर्मग्रन्थों को लिखित रूप दे दिया गया। बाद में इन ग्रन्थों पर आधारित और भी स्वतन्त्र ग्रन्थ, भाष्य और

टीकाग्रन्थ लिखे गये। इस प्रकार जैन धर्म का निश्चित रूप स्थापित हो गया और इसकी परम्परा को जारी रखना आसान हो गया।

महावीर स्वामी के पहले आनेवाले तीर्थंकर

ऋषभदेव को जैन धर्म का प्रथम तीर्थंकर माना जाता है। इन्हें आदिनाथ भी कहते हैं। ये चौदहवें मनु नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी के पुत्र थे। ऋषभदेव ने अयोध्या के राजा के रूप में बहुत समय तक राज्य किया। एक अत्यन्त नेक, सुयोग्य और प्रभावशाली शासक का आदर्श निभाते हुए इन्होंने भारतीय सभ्यता को बहुत आगे बढ़ाया। बाद में अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य का भार सौंपकर इन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। कठिन साधना द्वारा केवल ज्ञान की प्राप्ति कर वे जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर बने। अपने धर्म में इन्होंने अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया। इनके पुत्र भरत अत्यन्त वीर, प्रतापी और कुशल चक्रवर्त्ती राजा हुए। उन्हीं के नाम पर यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका उल्लेख *स्कन्द पुराण* में इस प्रकार किया गया है:

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभात् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्ष भारतं चेति कीर्त्यते॥[3]

अर्थात् ऋषभ नाभि के पुत्र थे और ऋषभ से भरत उत्पन्न हुए, जिनके नाम से यह देश भारतवर्ष कहा जाता है।

ऋषभदेव के पुत्र राजा भरत का उल्लेख *स्कन्दपुराण, भागवत पुराण, मार्कण्डेय पुराण, विष्णु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण* आदि में पाया जाता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास से पता चलता है कि पुराणों के समय से पहले ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में भी ऋषभदेव की मूर्ति की पूजा की जाती थी। कलिंग राजा खारवेल ने ईसा पूर्व 161 में मगध पर दूसरी बार चढ़ाई की थी। इस चढ़ाई में विजय प्राप्त करने पर वे वहाँ से बहुत सा क़ीमती सामान लेकर लौटे थे जिसमें आदि जिन ऋषभदेव की एक मूर्ति भी थी। इस मूर्ति को मगध राजा नन्द लगभग 300 साल पहले उस समय के कलिंग के राजा को हराकर ले गये थे।[4]

मथुरा से प्राप्त अभिलेखों में तो ऋषभदेव के अतिरिक्त अन्य अर्हतों (तीर्थंकरों) और अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की भी अर्चना या पूजा का उल्लेख मिलता है। ऐसे तीन अभिलेखों में कहा गया है: (1) ऋषभदेव प्रसन्न हों।[5] (2) अर्हतों की अर्चना।[6] और (3) अर्हत वर्द्धमान की अर्चना।[7]

इससे भी पहले *ऋग्वेद* में ऋषभदेव[8] का उल्लेख एक महापुरुष के रूप में मिलता है। *ऋग्वेद* वेदों का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसकी रचना अधिकांश विद्वानों के अनुसार लगभग ईसा पूर्व 3000 मानी जाती है। इससे पता चलता है कि आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष पहले ऋषभदेव को एक महापुरुष के रूप में स्वीकार किया गया था।

19 वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में सिन्धु घाटी में की गयी खुदाई से पता चलता है कि वैदिक सभ्यात से पहले वहाँ एक प्राचीन विकसित भारतीय सभ्यता मौजूद थी। इस खुदाई से प्राप्त अनेक प्रकार की वस्तुओं में कुछ ऐसी चीज़ें भी सामने आयी हैं जो इस सिन्धु घाटी की सभ्यता से जैन धर्म का सम्बन्ध सूचित करती हैं। उदाहरण के लिए, वहाँ से प्राप्त किये गये कुछ सील मुहरों पर नग्न पुरुष की आकृतियाँ बनी हुई हैं जो जैन महात्माओं की याद दिलाती हैं।

इन मुहरों पर जो शब्द अंकित हैं वे प्राकृत भाषा में हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि सिन्धु घाटी के लोगों की भाषा प्राकृत रही होगी। यह बात ध्यान देने की है कि जैनों के प्राचीन ग्रन्थ प्राकृत में हैं जबकि हिन्दुओं के वेद आदि प्राचीन ग्रन्थ संस्कृत में है। भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार प्राकृत जन-साधारण की अकृत्रिम बोली थी जबकि संस्कृत एक संस्कारित भाषा मानी जाती है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता वैदिक सभ्यता से पुरानी है, सिन्धु घाटी के निवासियों की बोलचाल की भाषा सम्भवत: प्राकृत थी और उसी भाषा में वहाँ जैन धर्म का प्रचार था। ऐसा मानने पर *ऋग्वेद* द्वारा जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख किया जाना असंगत नहीं लगता।

सिन्धु घाटी की खुदाई से कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ मिली हैं जो हिन्दू देवता शिव की प्रतिमा मानी जाती हैं। इससे पता चलता है कि सिन्धु घाटी के निवासियों के बीच जैन तीर्थंकर ऋषभदेव और हिन्दू देवता शिव की पूजा आर्यों की वैदिक सभ्यता के प्रारम्भ होने के पहले से प्रचलित थी।

हम जानते हैं कि प्राचीन काल से ही तीर्थंकर के लिए अर्हत्, अर्हन् या अर्हन्त शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। इसी प्रकार शिव के लिए रुद्र शब्द का भी प्रयोग पाया जाता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि *ऋग्वेद* के निम्नलिखित मन्त्र में अर्हन् को रुद्र रूप में स्वीकार किया गया है:

अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥[9]

भावार्थ: हे अर्हन्! तुम वस्तु स्वरूप धर्मरूपी बाणों को, उपदेशरूपी धनुष को, तथा आत्म चतुष्टयरूप आभूषणों को, धारण किये हो। हे अर्हन्! आप संसार के सब प्राणियों पर दया करते हो। हे कामादिक को जलानेवाले! आपके समान कोई रुद्र नहीं है।

इस तरह से कुछ प्रमाणों के आधार पर कुछ लोग ऋषभदेव, शिव या रुद्र को एकरूप मानते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष पहले सिन्धु घाटी में जैन और हिन्दू धर्म अपने-अपने पूर्व रूप में मौजूद थे। पर उस समय तक उनको अलग-अलग जैन और हिन्दू धर्म का नाम नहीं दिया गया था।

बौद्ध धर्म की उत्पत्ति जैन धर्म के प्रचलित होने के बाद ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी में हुई। इसलिए बौद्ध ग्रन्थों में ऋषभदेव के अतिरिक्त पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, विमल नाथ, धर्म नाथ, नेमि नाथ आदि अन्य जैन तीर्थंकरों के नामों का भी उल्लेख मिलता है।[10]

इस प्रकार अभी तक की जानकारी के मुताबिक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का समय वैदिक सभ्यता के प्रारम्भ होने के पहले रहा होगा, पर उनके समय को निश्चित रूप से निर्धारित कर पाना सम्भव नहीं लगता।

दूसरे तीर्थंकर अजित नाथ से लेकर इक्कीसवें तीर्थंकर नमि नाथ तक के सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय जानकारी प्राप्त नहीं होती। इसलिए यहाँ अब केवल बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकरों के विषय में संक्षिप्त जानकारी दी जाती है।

जैन परम्परा के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ या अरिष्ट नेमि गीता की शिक्षा देनेवाले द्वारिका नरेश कृष्ण के चचेरे भाई थे। कृष्ण राजा वसुदेव और रानी देवकी के पुत्र थे और अरिष्टनेमि के पिता राजा समुद्रविजय कृष्ण के पिता वसुदेव के भाई थे। अरिष्टनेमि की माता का नाम रानी शिवा था।[11]

अरिष्टनेमि या नेमिनाथ बचपन से ही अत्यन्त कोमल स्वभाव के थे। किसी जीव की हिंसा की कल्पना से ही उनका हृदय पिघल उठता था। युवावस्था प्राप्त करने पर जब उन्हें बड़े ही ठाट-बाट और धूम-धाम के साथ राजा उग्रसेन की पुत्री राजकुमारी राजमती (या राजुल कुमारी) से विवाह के लिए ले जाया जा रहा था तो वहाँ पहुँचने से पहले उनकी दृष्टि, बाँधकर बन्द रखे गये उन अत्यन्त दु:खी पशु-पक्षियों पर पड़ी जिन्हें उनके विवाह के अवसर पर मारकर मांसाहारी मेहमानों को खिलाया जाना था। यह जानकर कि उनके विवाह के कारण इतने पशु-पक्षियों की हत्या की जायेगी, उनका हृदय करुणा से विह्वल हो उठा। उन्होंने उसी समय अपने क़ीमती आभूषणों को उतारकर अपने सारथी को सौंप दिया और अपने विवाह का इरादा बदलकर वहाँ से चलते बने। उन्होंने जैन धर्म अपनाकर कठिन साधना की और केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद अपना सारा जीवन जैन धर्म के प्रचार में लगा दिया। अन्त में गुजरात में जूनागढ़ के गिरनार पर्वत पर इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। जब राजकुमारी राजमती को अपने होनेवाले पति के संन्यास लेने की बात मालूम हुई तो उसने भी संन्यास ग्रहण कर जैन धर्म अपना लिया और कठिन साधना द्वारा अपने मनुष्य-जीवन को सफल बनाया।

मथुरा से प्राप्त अभिलेखों में नेमिनाथ के नाम का उल्लेख पाया जाता है। कुछ ऐसी आकृतियाँ भी मिली हैं जिनके नीचे नेमिनाथ का नाम स्पष्ट रूप से अंकित है।[12]

इन बातों से पता चलता है कि जैन तीर्थंकर नेमि नाथ या अरिष्ट नेमि कृष्ण के समकालीन एक ऐतिहासिक पुरुष थे।

जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का समय ईसा पूर्व 877-777 माना जाता है। वे काशी के राजा विश्वसेन[13] और रानी वामादेवी के पुत्र थे। कठिन साधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर इन्होंने भी अपना बहुत समय जैन धर्म के

प्रचार में लगाया। *कल्प सूत्र* के अनुसार इन्होंने बिहार के हज़ारीबाग ज़िले के सम्मेद शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[14] उनके नाम पर उस शिखर को आज भी पारसनाथ पहाड़ी कहते हैं।

महावीर स्वामी का जीवन

जैन धर्म के चौबीसवें या अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध (जिनका समय ईसा पूर्व 563–483 माना जाता है) के समकालीन थे। वे बुद्ध से कुछ साल बड़े थे और बुद्ध से पहले इन्होंने परिनिर्वाण प्राप्त किया। इनका जन्म ईसा पूर्व 599 में हुआ और परिनिर्वाण ईसा पूर्व 527 में। *षट्खण्डागम* के टीकाकार स्वामी वीरसेन के कथन से इनके इस परिनिर्वाण-काल की पुष्टि होती है। *षट्खण्डागम* के वेदनाखण्ड के प्रारम्भ में वीरसेन कहते हैं कि शक सम्वत् के प्रारम्भ होने के ठीक 605 वर्ष तथा 5 मास पूर्व (अर्थात् लगभग ईसा पूर्व 527) में भगवान् महावीर का परिनिर्वाण हुआ।

बचपन में इनका नाम वर्द्धमान था और बाद में केवलज्ञान प्राप्त करने पर ये महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके पिता राजा सिद्धार्थ वैशाली के पास के कुण्डग्राम या कुण्डपुर (जिसे आजकल बसाढ़ कहते हैं) के रहनेवाले काश्यपवंशी क्षत्रिय थे और इनकी माता त्रिशला तत्कालीन वैशाली राजा चेटक की बहन थीं। इस तरह वैशाली के राजा चेटक इनके मामा थे जिनकी लड़की चेलना का विवाह मगध राजा बिम्बिसार से हुआ था। इस प्रकार अपनी माता के सम्बन्ध द्वारा ये वैशाली और मगध - दो प्रभावशाली राजघरानों से जुड़े हुए थे।

बचपन से ही वर्द्धमान की रुचि सांसारिक विषयों की ओर नहीं थी। फिर भी अपने माता-पिता के जीवनकाल तक वे उनके साथ रहे और उनकी इच्छा के अनुसार इन्होंने पारिवारिक जीवन बिताया। इनका विवाह यशोदा नामक एक रूपवती कन्या से हुआ जिससे इन्हें एक पुत्री पैदा हुई। पर दिगम्बर मत के अनुसार ये सदा अविवाहित रहे। जो भी हो, अपने माता-पिता के मरने के बाद 28 वर्ष (या कुछ के अनुसार 30 वर्ष) की अवस्था में अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर इन्होंने घर-बार छोड़ दिया। घर-बार छोड़ने के एक वर्ष बाद इन्होंने वस्त्र का पूरी तरह त्याग कर दिया और नग्न रूप में

रहकर वे कठिन साधना में लगे रहे। बारह वर्ष की कठिन साधना के बाद इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसके बाद का सारा जीवन इन्होंने जीवों के कल्याण के लिए जैन धर्म का उपदेश देने और इसका विकास करने में लगा दिया। अन्त में बिहार के पावापुरी में इन्होंने अपने शरीर का त्याग किया।

जैन धर्म का विकास करने और इसे वर्तमान रूप देने में महावीर का योगदान सबसे अधिक है। इसलिए जैन धर्म में इन्हें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वैशाली और मगध के प्रसिद्ध राजघरानों से सम्बन्धित होने के कारण जैन धर्म के प्रचार में इन्हें सफलता भी बहुत अधिक मिली।

बुद्ध और महावीर के समकालीन होने और उन दोनों के धर्म-प्रचार के क्षेत्र भी बहुत कुछ एक होने से बौद्ध धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ पालि त्रिपिटक द्वारा महावीर के जीवन और उनके विचारों के सम्बन्ध में कई बातें मालूम होती हैं। बुद्ध और महावीर दोनों ही श्रमण-परम्परा से सम्बन्धित माने जाते हैं और दोनों के विचारों में कुछ समानताएँ भी दिखाई देती हैं। इन दोनों के धर्मग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इतना अवश्य पता चलता है कि बुद्ध और महावीर समकालीन थे तथा जैन धर्म की परम्परा महावीर के बहुत पहले से चली आ रही थी। पर उस परम्परागत धर्म में आवश्यक सुधार लाने और उसके सिद्धान्तों और आचार-नियमों को निश्चित रूप देने में महावीर का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन धर्म के कुछ आचार-नियमों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विचारों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर ने बदलती परिस्थितियों को ध्यान में रखकर जैन धर्म में आवश्यक सुधार किया।

जैन धर्म के उत्तराध्ययन सूत्र XXIII में पार्श्वनाथ की परम्परा को माननेवाले केशी और महावीर के शिष्य गौतम के बीच दो आचार-नियमों के सम्बन्ध में संवाद होने का उल्लेख है: (1) जैन परम्परा के अनुसार पार्श्वनाथ 'चातुर्याम' यानी चार संयम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह) का उपदेश देते थे जबकि महावीर ने 'पंचयाम' या 'पंच महाव्रत' (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का प्रचार कर ब्रह्मचर्य के नये नियम को उसमें जोड़ दिया।[15] (2) पार्श्वनाथ ने कटिवस्त्र और उत्तरीय धारण करने अर्थात् कमर में

वस्त्र लपेटने और कन्धे के ऊपर वस्त्र डालने की अनुमति दी थी। पर वर्द्धमान महावीर ने वस्त्र के पूर्ण त्याग का नियम बना दिया।[16] इसलिए केशी ने महावीर के शिष्य गौतम से पूछा:

दोनों धर्मों का उद्देश्य एक ही है, फिर यह अन्तर क्यों?[17]

इस पर गौतम ने उत्तर दिया:

> पार्श्वनाथ अपने समय को भली-भाँति जानते थे। इसलिए अपने समय के लोगों के लिए उन्होंने चातुर्याम का उपदेश दिया। पर इस समय के लोगों के लिए जैन धर्म को उपयोगी बनाने के लिए महावीर ने उन्हीं चार यामों को पाँच यामों के रूप में उपस्थित किया। वास्तव में दोनों तीर्थंकरों के उपदेशों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।[18]

महावीर और पार्श्वनाथ के परिनिर्वाण-काल में 250 वर्षों का अन्तर है। लगता है कि इस लम्बे समय के बीच कुछ लोग आचार-नियमों के पालन में ढिलाई करने लगे थे। इसीलिए महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को, जो पहले अपरिग्रह में ही सम्मिलित माना जाता था, एक स्वतन्त्र व्रत का रूप दे दिया। इसी प्रकार उन्होंने यह अनुभव किया कि यदि घर-बार और संसार की सभी वस्तुओं का त्याग ही करना है तो वस्त्र का भी पूरी तरह त्याग क्यों न कर दिया जाये?

कुछ लोगों का मत है कि नग्न रहने का नियम महवीर का चलाया हुआ नहीं है। वे तो नग्न रहने का विरोध करते थे।

जो भी हो, अपने पहले के तीर्थंकरों के उपदेशों को सँवारने-सुधारने, उन्हें विकसित और व्यवस्थित करने, जैन धर्म का स्वरूप निश्चित करने और उसका व्यापक और प्रभावशाली प्रचार कर उसे एक सबल धर्म का रूप देने में महावीर को सबसे अधिक सफलता मिली।

जैन धर्म का साहित्य

जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकरों या केवलज्ञानियों से प्रकट होनेवाली अलौकिक वाणी या दिव्यध्वनि के आधार पर गणधरों और आचार्यों ने जैन धर्म के मूल ग्रन्थों की रचना की।

प्राचीन समय में जब लिखने की सुविधा का अभाव था, तब सभी भारतीय धर्मों की परम्परा श्रुतज्ञान के आधार पर ही चलती थी। सबसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थ वेद का अस्तित्व भी अनेक शताब्दियों तक श्रुत-परम्परा के ही आधार पर क़ायम रहा। इसलिए इसे श्रुति भी कहते हैं। शिष्य द्वारा गुरु के मुख से सुने वचनों या उपदेशों को याद रखकर उन्हें फिर अपने शिष्यों को प्रदान करने की परम्परा को ही श्रुत-परम्परा कहते हैं। जैन धर्म और बौद्धमत के उपदेश भी कई शताब्दियों तक श्रुत-परम्परा के आधार पर ही जीवित रहे।

जैन धर्म के सम्बन्ध में पहले यह कहा जा चुका है कि ईसा पूर्व 363 से 351 तक जब मगध में बारह वर्ष का अकाल पड़ा था उसी समय के बीच आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में जैन संघ का पहला सम्मेलन पाटलिपुत्र में बुलाया गया था। उस सम्मेलन में 11 अंगों का वाचन और संकलन किया गया था। पर आचार्य भद्रबाहु ने, जो उन दिनों दक्षिण भारत में होने के कारण इस सम्मेलन में शामिल नहीं थे, अपनी अनुपस्थिति में हुए संकलन को अस्वीकार कर दिया। अंत में करीब 800 वर्षों बाद 454 ईस्वी में[19] आचार्य देवर्द्धि के नेतृत्व में वलभी में जैन संघ का दूसरा सम्मेलन हुआ जिसमें एकमत से स्वीकृत जैन धर्मग्रन्थों को लिखित रूप दे दिया गया।

जैन धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थों को पूर्व कहा जाता है, क्योंकि वे महावीर के पहले के माने जाते हैं। उनकी संख्या 14 कही जाती है। महावीर के समय में 12 अंगों की रचना हुई। पर बाद में दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग और सभी पूर्व ग्रन्थ (जिन्हें दृष्टिवाद में सम्मिलित किया गया था) लुप्त हो गये।

हरमन जाकोबी के अनुसार दृष्टिवाद में मुख्यत: महावीर के विरोधियों के विचारों का खण्डन किया गया था। इसलिए वह जैनियों के लिए जटिल और नीरस बन गया था। इसके अतिरिक्त बाद के अंग साहित्य में जैन मत के विचारों को स्पष्ट और सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित किये जाने के कारण पूर्व साहित्य अनावश्यक लगने लगा और लोग उसे भूलते चले गये।[20]

श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों मतों के अनुसार सभी पूर्व ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं। केवल उन ग्रन्थों की सूची समवायांग नामक चौथे अंग और नन्दीसूत्र

में पायी जाती है। इसलिए अभी जो मूल ग्रन्थ प्राप्त हैं उन्हें निम्नलिखित छः वर्गों में रखा जा सकता है:

1) *अंग साहित्य:* जैन आगम में इसका सर्वप्रमुख स्थान है। इसके बारह अंग हैं जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है:

1. *आचारांग सूत्र:*- यह सबसे प्राचीन अंग है। इसमें जैन भिक्षुओं द्वारा पालन किये जानेवाले आचार नियमों का उल्लेख मिलता है। इसमें महावीर के उन उपदेशों का संकलन हुआ है जो उन्होंने अपने शिष्य सुधर्म को दिया था और जिसे सुधर्म ने अपने शिष्य जम्बू को सुनाया था।
2. *सूत्रकृतांग:*- इस अंग का मुख्य विषय है उन युवक साधकों के लिए चिंता जो नये-नये जैन धर्म में दीक्षित हुए थे। विरोधी मतों द्वारा दिये जानेवाले प्रलोभनों से नवदीक्षित साधुओं को सावधान किया गया है।

3/4. *स्थानांग सूत्र* और *समवायांग सूत्र:*- इनमें जैन दर्शन का भण्डार है और जैनाचार्यों के ऐतिहासिक चरित्र भी हैं।

5. *भगवती सूत्र:*- इसमें महावीर के जीवन तथा कृत्यों और अन्य समकालीन व्यक्तियों के साथ इनके सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। अच्छे तथा बुरे कर्मों द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्ग और नरक का भी वर्णन इसमें प्राप्त होता है।
6. *ज्ञातृधर्म कथा:*- इसमें महावीर की शिक्षाओं का वर्णन कथा, पहेलियों आदि के माध्यम से किया गया है।
7. *उपासकदशा सूत्र:*- इसमें जैन उपासकों के आचार, नियमों आदि का संग्रह है। तपस्या के बल पर स्वर्ग प्राप्त करनेवाले व्यापारियों का भी इसमें उल्लेख मिलता है।

8/9. *अन्तकृद्दशा* और *अनुत्तरोपपासिक दशा:*- इन दोनों में उन भिक्षुओं का वर्णन है जिन्होंने तप द्वारा शरीर का अन्त कर स्वर्ग प्राप्त किया है।

10. *प्रश्न व्याकरण:*- जैन धर्म से सम्बन्धित पाँच महाव्रतों तथा अन्य नियमों का वर्णन हुआ है।
11. *विपाक सूत्र:*- इस अंग में पाप और पुण्य कर्मों के बारे में बहुत सारी कथाएँ हैं।

12. *दृष्टिवाद:*- यह अंग अप्राप्य है। इसके विषय में अन्य ग्रन्थों में कुछ उल्लेख मिलता है।

2) *उपांग:* उपांग भी बारह हैं। इनमें ब्रह्माण्ड का वर्णन, प्राणियों का वर्गीकरण, खगोल विद्या, काल-विभाजन, मरणोत्तर जीवन का वर्णन आदि प्राप्त होते हैं।

3) *प्रकीर्ण:* इनकी संख्या दस है। इनमें नाना विषयों का विवेचन है। ये प्रमुख ग्रन्थों के परिशिष्ट हैं।

4) *छेद सूत्र:* इनकी संख्या छ: है। इनमें जैन-भिक्षुओं के लिए उपयोगी विधि नियमों का संकलन है।

5) *मूल सूत्र:* इनकी संख्या चार है। इनमें जैन धर्म के उपदेश, भिक्षुओं के कर्त्तव्य, विहार के जीवन, यम-नियम, आदि का वर्णन है।

6) *चूलिका सूत्र:* इसमें *नान्दी सूत्र* तथा *अनुयोग द्वार* शामिल हैं। ये दोनों जैनियों के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं जो एक प्रकार के विश्वकोष हैं। इनमें भिक्षुओं के लिए आचरणीय प्राय: सभी बातें लिखी गयी हैं। साथ ही साथ कुछ लौकिक बातों का भी विवरण मिलता है।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैनियों के लिए हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के लोग इनकी प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि वीरसेन स्वामी तथा उनके बाद में आनेवाले आचार्यों को अपनी पूर्व-परम्परा से जैन साहित्य की जो भी जानकारी थी उसके आधार पर उन्होंने उन ग्रन्थों के नाम सहित उनमें वर्णित विषयों का विवरण अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। आचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने अपने *गोम्मटसार जीवकाण्ड* में तथा महाकवि रइघू ने अपने *गाथाबद्ध सिद्धान्तार्थसार* में उक्त साहित्य का संक्षिप्त, पर महत्त्वपूर्ण परिचय दिया है।

इन ग्रन्थों के अलावा दिगम्बर सम्प्रदाय में अन्य बहुत से स्वतन्त्र ग्रन्थ, भाष्य और टीकाग्रन्थ प्राकृत और संस्कृत में लिखे गये हैं। उनमें उमास्वाति रचित *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* (जो दिगम्बर सम्प्रदाय के अतिरिक्त श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है), भद्रबाहु रचित *कल्पसूत्र,* गुणधर रचित *कसायपाहुड,* धरसेन रचित *षट्खण्डागम,* यतिवृषभ रचित *तिलोयपण्णत्ती,*

नेमिचन्द्र रचित *द्रव्यसंग्रह* और मल्लिसेन रचित *स्याद्वादमञ्जरी* के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बाद में जैन धर्म के सिद्धान्तों और उपदेशों को आसानी से सामान्य जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से हिन्दी तथा अन्य अनेक भारतीय भाषाओं में भी बहुत-से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये हैं।

जैन साहित्य में धर्म और दर्शन के अतिरिक्त तर्कशास्त्र, जीवनचरित्र, नैतिक कथा, नाटक, व्याकरण आदि विषयों पर भी अनेक ग्रन्थ गद्य और पद्य—दोनों में पाये जाते हैं। इस प्रकार जैन साहित्य में अध्ययन और चिन्तन के लिए पर्याप्त सामग्री भरी पड़ी है।

जैन धर्म का स्वरूप

सभी सुख की खोज में

सांसारिक विकारों से ग्रस्त होने के कारण आत्मा अपने परमसुखमय स्वरूप को खो चुकी है और संसार के आवागमन के चक्र में पड़कर दु:ख भोग रही है। पर दु:खी रहना कोई भी नहीं चाहता। संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दु:ख से डरते हैं। इसका कारण यह है कि सभी प्राणी मूलत: चेतन और सुख रूप हैं। इसलिए सभी में सुख को अनुभव करने की इच्छा सदा बनी रहती है। वे अपने स्वभाव-वश अधिक से अधिक सुख अुनभव करना चाहते हैं। इसप्रकार अपने सहज स्वभाव के कारण ही उन्हें सुख प्रिय लगता है और दु:ख अप्रिय मालूम पड़ता है।

परमात्मा अनन्त सुख का भण्डार है। यद्यपि सभी जीव परमात्मा के ही अव्यक्त रूप हैं, फिर भी परमात्मा और जीव में अन्तर यह है कि परमात्मा परम चेतन और परम आनन्दमय है, वह सभी सद्गुणों से भरपूर और सभी विकारों या अवगुणों से रहित है तथा अपने-आप में पूर्ण है, पर जीव अनेक प्रकार से अपूर्ण हैं। उनकी चेतना मन्द पड़ गयी है जिससे उन्हें अपने भले-बुरे की ठीक-ठीक सूझ भी नहीं रह गयी है। उचित ज्ञान के न होने से वे भ्रम में पड़े रहते हैं और ऐसे कर्म करते हैं जिनके फलस्वरूप उन्हें सुख के बदले दु:ख भोगना पड़ता है। इस प्रकार वे जन्म-मरण के चक्र में पड़कर सदा दु:ख के शिकार बने रहते हैं। जब तक वे किसी सच्चे ज्ञानदाता और सच्चे मार्गदर्शक के सम्पर्क में नहीं आते, वे संसार के इस दु:खमय जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं पा सकते।

इस तथ्य को बड़ी ही स्पष्टता के साथ व्यक्त करते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> वास्तविक दृष्टि से संसार का प्रत्येक प्राणी परमात्मस्वरूप है। परमात्मा उसे कहते हैं, जो राग, द्वेष रहित, सर्वज्ञ, पूर्ण सुखी, अनन्त शक्तिसम्पन्न, जन्म-मरण से रहित, निर्दोष और निष्कलंक हो। ऐसे परमात्मा बनने की शक्ति सम्पूर्ण संसारी भव्य (मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखनेवाली) आत्माओं में विद्यमान है, और वही आत्मा का असली स्वरूप है। भेद यह है कि संसारी आत्माएँ राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि विकारों और पाप वासनाओं में फँसी हुई हैं, व जन्म मरणादि के कष्टों को भोग रही हैं; किन्तु परमात्मा इन सब झंझटों से मुक्त है। सांसारिक आत्माएँ चूँकि नाना प्रकार के पाप-पुण्यादि कर्मों को करती रहती हैं, अत: उनके फलस्वरूप उनकी अवस्थाएँ भी विचित्र होती रहती हैं; किन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा का स्वभाव परमानन्दमय है। इसीलिए प्रत्येक आत्मा सुख चाहती और दु:खों से डरती है, एवं अपने को सुखी बनाने के लिए ही वह भ्रमवश नाना प्रकार के भले-बुरे कार्यों को करती रहती है; किन्तु सुख पाने का सच्चा मार्ग मालूम न होने से वह वास्तविक सुख तो पा ही नहीं पाती; वरन् संसार में भी शान्ति से नहीं जीने पाती।[1]

जिस आत्मा में अनन्त सुख का भण्डार भरा पड़ा है, जो स्वयं अपना ही स्वरूप है और जिसके अनुभव द्वारा जीव सदा के लिए सभी दु:खों से मुक्त और सच्चे अर्थ में पूर्ण सुखी बन सकता है, उसकी ओर वह ध्यान नहीं देता और उसे अपना लक्ष्य नहीं बनाता। उलटे, अपने से भिन्न वस्तुओं और व्यक्तियों को जो न अपने हैं और न कभी अपने बन ही सकते हैं, उन्हें अपना बनाने और उनसे सुख प्राप्त करने की व्यर्थ कोशिश में वह जीवन बरबाद कर डालता है। इस बात को अच्छी तरह समझकर हमें अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने की पूरी कोशिश करनी चाहिए और आत्मज्ञान या आत्मानुभव प्राप्त करने के प्रयत्न में शीघ्रातिशीघ्र लग जाना चाहिए।

चूँकि सुख और शान्ति आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, इसलिए सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि आत्मा अपने को अपने-आपमें लीन कर अपने असली स्वरूप को पहचाने। पर भ्रम में पड़ा हुआ जीव अपने अन्दर सुख की तलाश न कर उसे बाहरी वस्तुओं और व्यक्तियों में ढूँढ़ने की कोशिश करता है। वह अधिक से अधिक ज़मीन-जायदाद, धन-दौलत और संसार की अनेक प्रकार की भोग-विलास की वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाना चाहता है और इसके लिए वह अपनी एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देता है। इसी प्रकार अपने कुटुम्ब-परिवार और सम्बन्धियों को सुखी बनाने के लिए वह पवित्र से पवित्र नैतिक नियमों का भी उल्लंघन कर देता है। अपने भ्रमवश वह भूल जाता है कि इन पदार्थों और व्यक्तियों से उसे कभी भी सच्चा या स्थायी सुख नहीं मिल सकता और न इनमें से कोई भी उसका साथ ही दे सकता है। सबको यहीं छोड़कर उसे एक दिन ख़ाली हाथ ही जाना पड़ता है। औरों की तो बात दूर रहे, अपने कुटुम्ब-परिवार वाले भी केवल अपने स्वार्थ के ही संगी होते हैं। अपना स्वार्थ पूरा होते ही वे अपना मुँह मोड़ लेते हैं।

आत्मा से भिन्न शरीर को तथा सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों को अपना समझने की भूल में पड़े व्यक्ति को सुन्दर, बलवान्, धनवान, कुलीन, प्रतिष्ठित आदि होने का अभिमान होता है और यह अभिमान उसके सर्वनाश का कारण बन जाता है।

इस सम्बन्ध में गणेशप्रसाद जी वर्णी के कुछ चुने हुए पद अर्थसहित नीचे दिये जाते हैं जिनमें जीव को अपना परम आनन्दमय परमात्मरूप प्राप्त करने के लिए परायी वस्तुओं से ध्यान को हटाकर उसे आत्मस्वरूप में लीन करने का उपदेश ज़ोरदार शब्दों में दिया गया है[2]:

इस भव वन के मध्य में जिन बिन जाने जीव।
भ्रमण यातना सहनकर पाते दुःख अतीव॥

'जिन' (राग-द्वेष आदि दोषों पर विजय प्राप्त कर चुके सच्चे मार्गदर्शक) को जाने बिना जीव इस संसाररूपी वन के बीच आवागमन का कष्ट सहते हुए अपार दुःख उठाते हैं।

कब आवे वह सुभग दिन जा दिन होवे सूझ।
पर पदार्थ को भिन्न लख होवे अपनी बूझ॥

कब वह सौभाग्यशाली दिन आयेगा जब हमें (सचाई की) सूझ होगी और हम 'पर' (आत्मा से भिन्न) पदार्थों को अपने से भिन्न समझकर अपने-आपका ज्ञान प्राप्त करेंगे?

आत्म-ज्ञान पाये बिना भ्रमत सकल संसार।
इसके होते ही तरे भव दुख पारावार* ॥

आत्म ज्ञान (अपनी आत्मा का ज्ञान) पाये बिना सारा संसार भटक रहा है। आत्मज्ञान के होते ही मनुष्य संसार-सागर के दु:ख से पार हो जाता है।

भव-बन्धन का मूल है अपनी ही वह भूल।
या के जाते ही मिटे सभी जगत का शूल॥

अपने स्वरूप को न जानने की वह भूल ही सांसारिक बन्धन का मूल कारण है। इस भूल के दूर होते ही संसार के सभी दु:ख मिट जाते हैं।

जो चाहत निज वस्तु तुम पर को तजहु सुजान।
पर पदार्थ संसर्ग से कभी न हो कल्याण॥

हे ज्ञानीजन! यदि तुम अपनी वस्तु को प्राप्त करना चाहते हो तो पर (अपने से भिन्न) पदार्थों को छोड़ो। पर पदार्थों से लगाव रहने पर तुम्हारा कल्याण कभी भी नहीं हो सकता।

हितकारी निज वस्तु है पर से वह नहिं होय।
पर की ममता मेंटकर लीन निजातम होय॥

अपनी ही वस्तु (आत्मा) कल्याणकारी है, पर वस्तुओं से अपना कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए पर वस्तुओं के प्रति अपने ममत्व को मिटाकर हमें अपने को अपनी आत्मा में ही लीन करना चाहिए।

---

* समुद्र, सागर

जो सुख चाहे आपना तज दे विष की वेल।
पर में निज की कल्पना यही जगत का खेल॥

यदि तुम अपना सुख चाहते हो तो पर वस्तु के प्रति अपने ममत्व को, जो विष की लता के समान है, छोड़ दो। पर वस्तु में ममत्व का भाव होने से ही संसार का खेल चलता रहता है।

जब तक मन में बसत है पर पदार्थ की चाह।
तब लग दुख संसार में चाहे होवे शाह॥

जब तक मन में पर पदार्थ की चाह बसी हुई है तब तक संसार में दुःख लगा रहता है, भले ही कोई शहंशाह भी क्यों न हो।

समय गया नहिं कुछ किया नहिं जाना निज सार।
परपरणति* में मग्न हो सहते दुःख अपार॥

जीवन का समय यों ही बीत गया। अपने कल्याण के लिए कुछ भी नहीं कर सके, अपनी असलियत को समझे ही नहीं! जीवनभर अपने से भिन्न पदार्थों की बातों में मग्न रहे। ऐसे जीवों को अपार दुःख सहना पड़ता है।

पर में आपा मानकर दुःखी होत संसार।
ज्यों परछाहीं श्वान लख भोंकत बारम्बार॥

जो अपने से भिन्न है उसमें अपनेपन की कल्पना कर संसार दुःखी हो रहा है, जैसे शीशे में अपनी परछाई देखकर कुत्ता उसे अपने जैसा ही कुत्ता समझकर उसकी ओर बार-बार भौंकता रहता है। (इस प्रकार वह व्यर्थ ही अपनी शक्ति *और समय को बरबाद कर परेशान होता रहता है और नाहक भौंक-भौंककर* दूसरों को भी तबाह करता है।)

यह संसार महा प्रबल या में वैरी दोय।
पर में आपा कल्पना आप रूप निज खोय॥

---

* दूसरों की स्थिति या अवस्था

इस संसार का बन्धन बहुत ही मज़बूत है, क्योंकि इसमें दो बड़े ही बलवान् शत्रु हैं: एक है अपने स्वरूप को भुला देना और दूसरा है अपने से भिन्न वस्तु में अपनत्व की कल्पना करना।

जो सुख चाहत हो सदा त्यागो पर अभिमान।
आप वस्तु में रम रहो शिव-मग* सुख की खान॥

यदि तुम सदा के लिए सुख-चाहते हो तो अपने से भिन्न पदार्थ में अपनत्व की भावना का त्याग करो और अपने को अपनी ही आत्मा में लीन कर लो। यही कल्याण का मार्ग और सुख का भण्डार है।

सबसे सुखिया जगत में होता है वह जीव।
जो पर सङ्गति परिहरहि ध्यावे आत्म सदीव॥

संसार में वही जीव सबसे सुखी होता है जो अपने से भिन्न की संगति का त्याग कर सदा आत्मा के ही ध्यान में लगा रहता है।

राग द्वेष मय आत्मा धारत है बहु वेष।
तिन में निज को मानकर सहता दु:ख अशेष॥

अपने से भिन्न पदार्थों के प्रति राग और द्वेष की भावना रखने के कारण ही आत्मा को विभिन्न योनियों में अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। इस प्रकार अपने से भिन्न पदार्थों में अपनत्व की कल्पना करने के कारण आत्मा को अनन्त दु:ख सहने पड़ते हैं।

आज घड़ी दिन शुभ भई पायो निज गुण धाम।
मन की चिन्ता मिट गई घटहिं विराजे राम॥

आज का समय और दिन (यह जीवन-काल) जबकि मैंने आत्म-गुणों और आत्म-धाम को प्राप्त कर लिया है, मेरे लिए शुभ या कल्याणमय बन गये हैं। अब मेरे मन की चिन्ता दूर हो गयी है और मेरे अन्दर परमात्मा विराज रहे हैं।

---

* कल्याण का मार्ग

जैन धर्म क्या है?

इस पुस्तक का आरम्भ करते हुए पहले अध्याय में ही कहा जा चुका है कि 'जैन' शब्द 'जिन' शब्द से बना है और 'जिन' शब्द का अर्थ है 'विजेता' या 'जीतनेवाला'। राग-द्वेष आदि दोषों और काम-क्रोध, मोह आदि विकारों पर विजय प्राप्त कर जो पूर्ण रूप से मुक्त और सुखी हो जाता है उसे ही 'जिन' कहा जाता है। ऐसे जिन पुरुष अनादि काल से जीवों के कल्याण के लिए संसार में आते रहे हैं। जैन-परम्परा के अनुसार वर्तमान युग में भी ऐसे चौबीस महापुरुष आ चुके हैं जिनका उल्लेख प्रथम अध्याय में ही किया जा चुका है। सभी जिन पुरुषों के समान रूप से सर्वज्ञ और मुक्त होने से उनका बताया हुआ मोक्ष-मार्ग भी सदा एक ही होता है। इन जिन पुरुषों द्वारा बताये गये मोक्ष-मार्ग को ही जैन धर्म कहते हैं।

जैन धर्म का स्वरूप बतलाते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन ने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया है। वे कहते हैं:

> जिस महापुरुष ने राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान आदि कर्म शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो और आत्मा को पूर्ण सुखी व अनन्त ज्ञान का भण्डार बना लिया हो, उसे 'जिन' कहते हैं (मोहादि कर्म शत्रून् जयतीति जिनः) और इस ही वीर एवं महापुरुष के द्वारा जो विश्व के दुःखी प्राणियों को भेद-भाव के बिना कल्याणमय सच्चा मार्ग प्रकट किया जाता है, जिससे कि संसार की दुःखी आत्माएँ उसके ही समान परमात्मा बन सकें, उस मार्ग को ही जैन धर्म कहते हैं। सारांश यह है कि सांसारिक आत्माओं की दीनता को दूर कर वीरता के साथ पापवासनाओं व रागद्वेषादि विकारों पर उन्हें पूर्ण विजयी बनाकर वास्तविक आनन्द तथा शांति के प्रशस्त मार्ग पर ले जा परमात्मपद प्रदान करेनवाले धर्म को जैन धर्म कहते हैं।[3]

जैन धर्म के सामान्य लक्षण

धर्म के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध उक्ति है: 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। आत्मा ही मूल वस्तु है और अनन्त दृष्टि, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द (अनन्त चतुष्टय) इसका स्वभाव या इसका

अपना वास्तविक स्वरूप है। आत्मा के इस वास्तविक स्वरूप को पहचानना ही धर्म है। दूसरे शब्दों में, जिससे आत्मा की वास्तविकता की पहचान होती है, अर्थात् जिससे आत्मा के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति होती है, उसे ही धर्म कहते हैं।

'धर्म' शब्द का अर्थ धारण करना, सँभाल करना अथवा अवलम्ब या सहारा देकर बचाना या रक्षा करना भी किया जा सकता है। इस अर्थ के अनुसार जो आत्मा को उसके दोषों और विकारों से बचाकर पवित्र बनाये रखे, उसे उसके अनन्त चेतन और अनन्त आनन्दमय स्वरूप में धारण किये रहे, उसे उसके मूल गुण दया से सदा ओत-प्रोत रखे तथा उसे दुर्गति और दुःख से बचाये, उसे ही धर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जो आत्मा को सदा के लिए सुख-शान्ति प्रदान करे वही धर्म है। सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाकर नित्य या अविनाशी सुख-शान्ति को प्राप्त करने को ही मोक्ष प्राप्त करना कहते हैं। इसलिए जैन परम्परा के अनुसार, धर्म को मोक्ष का साधन या कारण माना जाता है।

जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के सहारे आकाश मण्डल के असंख्य ग्रह और तारे अपने-अपने स्थान पर रहते हुए अपनी-अपनी गति से अपनी-अपनी राह पर चलते रहते हैं और आपस में टकराते नहीं, उसी प्रकार धर्म का सहारा लेकर ही सभी जीव अपने-अपने स्वरूप को क़ायम रखते हुए सदा सुख-शान्ति अनुभव कर सकते हैं और सबके साथ सुख-शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के अभाव में ग्रहों और तारों की स्थिति बिगड़ सकती है और वे नष्ट-भ्रष्ट हो सकते हैं, उसी प्रकार धर्म को ठीक रूप से ग्रहण न करने के कारण जीव भी दुःख और दुर्गति प्राप्त करते हैं। इसलिए धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझना और उसे पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

जैन धर्म के मर्मज्ञ आचार्यों ने धर्म की व्याख्या अनेक प्रकार से की है और इसके अनेक लक्षणों का उल्लेख किया है। उन्होंने इस मूल बात की ओर हमारा ध्यान दिलाया है कि धर्म का सम्बन्ध बाहरी वस्तुओं से नहीं, बल्कि अपनी आत्मा से है। आत्मा जब राग, द्वेष और मोह से प्रभावित होती है या जब क्रोध, मान, माया और लोभ नामक विकार, जिन्हें जैन धर्म में कषाय कहा

जाता है, इसे दूषित करते हैं तो इसकी शुद्धता भंग हो जाती है। यह मलिन और अपवित्र बन जाती है। ऐसी अवस्था में किये गये इसके कर्म ही बन्धन में डालकर इसे दु:खी बनाये रखते हैं। इसलिए धर्म का यह मूल प्रयोजन है कि (1) यह आत्मा को पवित्र करे; (2) इसे संसार के दु:खों से छुटकारा दिलाकर ऐसी स्थिति में ला दे जहाँ आत्मा सदा सुखी बनी रहे; (3) इस लोक में और इस लोक के परे भी सर्वत्र और सभी प्रकार से यह आत्मा को सुख प्रदान करे और (4) यह आत्मा को सदा दया-भाव से, जो धर्म का मूल है, ओत-प्रोत रखे। इस प्रकार जैनाचार्यों ने धर्म के इन चार सामान्य लक्षणों पर विशेष बल दिया है।

जैन धर्म के पहले लक्षण को बताते हुए *परमात्मप्रकाश ग्रन्थ* में कहा गया है:

निजी शुद्ध या पवित्र भाव का नाम ही धर्म है।[4]

यही कथन *महापुराण*[5] और *चारित्रसार*[6] नामक ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

जैन धर्म के दूसरे लक्षण की ओर संकेत करते हुए *प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति* में कहा गया है: "मिथ्यात्व और रागादि में नित्य संसरण करने रूप भावंसंसार से प्राणी को उठाकर जो निर्विकार शुद्ध चैतन्य में धारण कर दे, वह धर्म है।"[7] *सर्वार्थसिद्धि*[8] और *राजवार्तिक*[9] में कहा गया है कि "जो इष्ट स्थान में धारण करता है उसे धर्म कहते हैं।" इसे और भी अधिक स्पष्ट करते हुए *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* में कहा गया है: "जो प्राणियों को संसार के दु:ख से उठाकर उत्तम सुख में धारण करे उसे धर्म कहते हैं।"[10] *महापुराण*[11] में भी यही भाव व्यक्त किया गया है। *पंचाध्यायी* में इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है: "जो धर्मात्मा पुरुषों को नीचपद से उच्चपद में धारण करता है वह धर्म कहलाता है। उनमें संसार नीचपद है और मोक्ष उच्चपद है।"[12]

जैन धर्म के तीसरे लक्षण की ओर संकेत करते हुए शुभचन्द्राचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ, *ज्ञानार्णव* में कहा है: "लक्ष्मीसहित चिन्तामणि, दिव्यनवनिधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब धर्म के चिरकाल से किंकर (सेवक) हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।"[13] तात्पर्य यह है कि सच्चे धर्म का पालन कर जब साधक सर्वोत्तम सुख मोक्ष को प्राप्त कर लेता है तब लोक और परलोक के सभी

सुख अपने-आप उसकी मुट्ठी में आ जाते हैं, मानो सभी मनोरथों को सिद्ध करनेवाली कामधेनु और सभी अभिलाषाओं को पूरा करनेवाला कल्पवृक्ष सदा उसकी सेवा में उपस्थित हों।

जैन धर्म के चौथे लक्षण को बताते हुए *बोध पाहुड़ ग्रन्थ* में कहा गया है: "धम्मो दया विशुद्धो" अर्थात् "धर्म दया द्वारा विशुद्ध होता है"[14] दूसरे शब्दों में दया ही धर्म का मूल है। इसलिए *कुरल काव्य* में यह उपदेश दिया गया है: "सही तरीके से सोच-विचारकर हृदय में दया धारण करो, क्योंकि सभी धर्म कहते हैं कि दया ही मोक्ष का साधन है।"[15] बिना दया के धर्म सम्भव ही नहीं है।

शुभचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थ *ज्ञानार्णव* में 'धर्मभावना' की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए अपने पहले ही श्लोक में जैन धर्म के इन चारों सामान्य लक्षणों का उल्लेख संक्षेप में इस प्रकार किया है:

> पवित्री क्रियते येन येनैवोद्धियते जगत्।
> नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै॥[16]

अर्थात् जिससे जीव पवित्र किये जाते हैं, जिससे संसार के जीवों का उद्धार किया जाता है और जो दया के रस से गीला या भीगा हुआ है, उस धर्मरूपी कल्पवृक्ष के लिए मेरा नमस्कार है।

इस प्रकार इस मंगलात्मक श्लोक में शुभचन्द्राचार्य ने धर्म के चारों सामान्य लक्षणों को बतलाकर उसे नमस्कार किया है।

जैन धर्म के इन्हीं सामान्य लक्षणों को ध्यान में रखकर नाथूराम डोंगारीय जैन ने धर्म के स्वरूप को इन शब्दों में व्यक्त किया है:

> जैनाचार्यों के कथनानुसार धर्म ही ऐसी वस्तु है जो प्राणीमात्र को चाहे वह कितना ही पतित क्यों न हो, संसार के दु:खों से छुड़ाकर उत्तम सुख (वास्तविक आनन्द) प्रदान कर सकती है। वह न केवल परलोक में सुख देनेवाली चीज़ है; बल्कि सच्चा धर्म वह है जो जिस क्षण से पालन किया जाता है उसी क्षण से सर्वत्र और सर्वदा आत्म शांति प्रदान करता है और अपने साथ दूसरों को भी सुखी बनाता है।[17]

जैन धर्म के जिन चार लक्षणों के विषय में ऊपर विचार किया गया है वे जैन धर्म के सामान्य और व्यापक लक्षण हैं जो सिद्धान्त रूप में धर्म की पहचान और उसका प्रयोजन बताते हैं। पर दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में धर्म की पहचान करने के लिए जैनाचार्यों ने धर्म के कुछ विशेष लक्षणों की ओर भी हमारा ध्यान दिलाया है जिनकी जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

जैन धर्म के विशेष लक्षण

धर्म के विशेष लक्षणों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया जाता है। जैनाचार्यों ने अहिंसा को धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लक्षण माना है। कहा जा चुका है कि दया ही धर्म का मूल है। स्पष्ट है कि जीवों की हिंसा करना दया का ठीक विरोधी है। इसलिए अहिंसा को परम धर्म कहा जाता है और इसे धर्म का सार माना जाता है। जैन धर्म में अहिंसा को बहुत ही व्यापक अर्थ में लिया जाता है और यह माना जाता है कि इसका पालन किये बिना धर्म के किसी भी नियम का ठीक-ठीक पालन नहीं हो सकता। हम इस पुस्तक के एक अलग अध्याय में विस्तार के साथ अहिंसा के प्रमुख पहलुओं पर विचार करेंगे।

जैन धर्म में अहिंसा की प्रमुखता स्थापित करते हुए *राजवार्तिक* में स्पष्ट कहा गया है:

> अहिंसादि लक्षणो धर्मः।[18]

अर्थात् धर्म अहिंसा आदि लक्षणवाला है।

द्रव्यसंग्रह टीका[19] में भी इसकी पुष्टि की गयी है।

अहिंसा के व्यापक अर्थ को दिखलाते हुए *सर्वार्थसिद्धि* में कहा गया है:

> जिनेन्द्रदेव ने जो यह अहिंसा लक्षणवाला धर्म कहा है—सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से वह रक्षित है, उपशम (शान्ति) उसकी प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है और निष्परिग्रहता (अनावश्यक वस्तुओं का संचय न करना) उसका अवलम्बन है।[20]

इससे यह संकेत मिलता है कि अहिंसा में धर्म के अनेक प्रमुख नियम अपने-आप समाये हुए हैं।

जीवों की रक्षा करना अहिंसा का स्वाभाविक अंग है। इसलिए *कार्तिकेयानुप्रेक्षा* में कहा गया है:

जीवाणं रक्खणं धम्मो[21]

अर्थात् जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।

यही बात *दर्शनपाहुड टीका*[22] में भी कही गयी है।

इस सम्बन्ध में गणेशप्रसाद जी वर्णी ने बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहा है:

> जीवों की रक्षा करना ही धर्म है। जहाँ जीवघात में धर्म माना जावे वहाँ जितनी भी बाह्य क्रिया है, सब विफल है। धर्म वह पदार्थ है जिसके द्वारा यह प्राणी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। जहाँ प्राणिघात को धर्म बताया जावे उनके दया का अभाव है; जहाँ दया का अभाव है वहाँ धर्म का अंश नहीं, जहाँ धर्म नहीं वहाँ संसार से मुक्ति नहीं।[23]

जैन धर्म के अनुसार धर्म के पालन के लिए विनय (नम्रता) और निर्लेपता को अपनाना भी आवश्यक है, क्योंकि इनका सम्बन्ध मान (अहंकार) और ममत्व (मेरेपन) के त्याग से है। जब तक जीव अहंकार और ममत्व का त्याग नहीं करता तब तक वह सच्चे अर्थ में धर्मात्मा नहीं बन सकता। विनय की व्याख्या करते हुए और उसकी आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए गणेशप्रसाद जी वर्णी कहते हैं:

> विनय का अर्थ नम्रता या कोमलता है। कोमलता में अनेक गुण वृद्धि पाते हैं। यदि कठोर ज़मीन में बीज डाला जाये तो व्यर्थ चला जाता है। पानी की बारिश में जो ज़मीन कोमल हो जाती है उसी में बीज जमता है। ...जिसने अपने हृदय में विनय धारण नहीं किया वह धर्म का अधिकारी कैसे हो सकता है? ...आप किसी को हाथ जोड़कर या सिर झुकाकर उसका उपकार नहीं करते बल्कि अपने हृदय से मानरूपी शत्रु को हटाकर अपने-आपका उपकार करते हैं।[24]

लोभ का सम्बन्ध ममत्व से है। *राजवार्तिक* में लोभ का अर्थ इस प्रकार बताया गया है:

धन आदि की तीव्र आकांक्षा (इच्छा) ही लोभ है ।[25]

धवला पुस्तक में इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है:

बाह्यार्थेषु ममेदं बुद्धिर्लोभः ।[26]

अर्थात् बाह्य पदार्थों में जो 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुरागरूप बुद्धि होती है वही लोभ है।

कुछ लोग धन के लोभ में पड़कर लोगों के सामने धार्मिक होने का दिखावा करते और उन्हें धर्म का उपदेश देते फिरते हैं। ऐसे लोगों से सावधान रहने के लिए ही वर्णी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है:

धर्म वही कर सकता है जो निर्लोभ हो।[27]

जैन ग्रन्थों में बार-बार धर्म को दश लक्षणोंवाला बताते हुए उसके दश लक्षणों का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए, *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* में[28] धर्म के दश लक्षणों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं:

1. उत्तम क्षमा

   क्रोध उत्पादक गाली-गलौज, मारपीट, अपमान आदि परिस्थितियों में भी मन को कलुषित न होने देना क्षमा धर्म है।

2. उत्तम मार्दव (अभिमान के बदले मृदुता या कोमलता ग्रहण करना)

   कुल, जाति, रूप, ज्ञान, तप, वैभव, प्रभुत्व एवं शील आदि सम्बन्धी अभिमान करना मद कहलाता है। इस मद या मान कषाय को जीतकर मन में सदैव मृदुता-भाव रखना मादर्व है।

3. उत्तम आर्जव (सरलता)

   मन में एक बात सोचना, वचन से कुछ और कहना तथा शरीर से कुछ और ही करना, यह कुटिलता कहलाती है। इस माया कषाय को जीतकर मन वचन और काया की क्रिया में एकरूपता रखना आर्जव है।

4. उत्तम शौच (निर्दोष पवित्र भावना)

मन को मलीन बनानेवाली जितनी दुर्भावनाएँ है उनमें लोभ सबसे प्रबल अनिष्टकारी है। इस लोभ कषाय को जीतकर मन को पवित्र बनाना शौच धर्म है।

5. उत्तम सत्य

असत्य की प्रवृत्ति को रोककर सदैव यथार्थ हित-मित-प्रिय वचन बोलना सत्य धर्म है।

6. उत्तम संयम (इन्द्रिय नियन्त्रण)

इन्द्रियों और मन को विषयों की ओर से मोड़कर सद्वृत्तियों में लगाना संयम धर्म है।

7. उत्तम तप (कष्ट की परवाह न कर अपनी साधना में लगे रहना)

तप लौकिक दृष्टि से साधना में मन की एकाग्रता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तप वह अग्नि है जिसमें मन के विकार जल जाते हैं और आत्मा का शुद्ध चैतन्य स्वभाव जागृत हो उठता है।

8. उत्तम त्याग (अनासक्ति)

बिना किसी स्वार्थ भावना के दूसरों के हित व कल्याण के लिए अन्न, धन, ज्ञान, विद्या आदि का दान देना त्याग धर्म है।

9. उत्तम आकिञ्चन्य (आत्मा से भिन्न पदार्थ को अपना न मानना)

घर-द्वार, धन-दौलत, बन्धु-बान्धव, शत्रु-मित्र सबसे ममत्व छोड़ना, ये मेरे नहीं हैं, यहाँ तक कि शरीर भी सदा मेरे साथ रहनेवाला नहीं है, ऐसा अनासक्त भाव आकिञ्चन्य धर्म है।

10. उत्तम ब्रह्मचर्य

रागोत्पादक परिस्थितियों में भी मन को काम वेदना से विचलित न होने देना और उसे आत्म-चिन्तन में लगाये रखना ब्रह्मचर्य धर्म है।

उक्त सभी लक्षणों के पहले 'उत्तम' शब्द को विशेषणरूप में लगाने का उद्देश्य यह है कि धर्म के इन नियमों को केवल विशुद्ध धर्म-भावना से ही अपनाया जाये, न कि अपनी ख्याति (यश) अथवा अपनी पूजा-प्रतिष्ठा या आदर-सत्कार के लिए, जैसा कि *चारित्रसार* में स्पष्ट किया गया है:

उत्तम ग्रहणं ख्याति पूजादि निवृत्त्यर्थम्।[29]

अर्थात् ख्याति और पूजादि की भावना की निवृत्ति के लिए 'उत्तम' विशेषण रूप में दिया गया है। दूसरे शब्दों में, ख्याति, पूजा आदि के अभिप्राय से धारण की गयी क्षमा या किसी अन्य धार्मिक नियम को उत्तम नहीं माना जा सकता।

ज्ञानार्णव[30] में भी धर्म के इन्हीं दश लक्षणों का उल्लेख पाया जाता है। जैन धर्म के इन लक्षणों को वही पूरी तरह अपना सकता है जो जैन धर्म में बताये गये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र नामक 'रत्नत्रय' का दृढ़तापूर्वक पालन करता है। यही कारण है कि *रत्नकरण्ड श्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, तत्त्वानुशासन* आदि ग्रन्थों में कहा गया है कि "गणधरादि आचार्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं।"[31] *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में भी कहा गया है:

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति।[32]

अर्थात् इस लोक में रत्नत्रयरूप धर्म निर्वाण का ही कारण है।

नाथूराम डोंगरीय जैन ने भी इसे 'सच्चा धर्म' बताते हुए कहा है:

> इस सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्र को ही सच्चा धर्म कहते हैं, जिसके प्रभाव से महान् पापिष्ठ और पतित आत्माएँ भी पावन और परमात्मा बन सकती हैं।[33]

गणेशप्रसाद जी वर्णी भी कहते हैं:

> वास्तव में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) ही मोक्ष का एक मार्ग है।[34]

धर्म के सभी नियमों सहित रत्नत्रय की साधना आत्मा के स्वरूप को पहचानने या आत्मा को अपने-आपमें लीन करने के लिए ही की जाती है। आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त हो जाने पर राग-द्वेष, मोह-क्षोभ आदि विकारों का उसमें प्रवेश नहीं हो पाता, आत्मा अपनी साम्यता, वीतरागता या

स्वरूपलीनता की अवस्था में आ जाती है और धर्म के सभी लक्षण अपने-आप आत्मा के स्वाभाविक गुण बन जाते हैं। इसलिए अनेक जैन ग्रन्थों में समता, वीतरागता तथा राग-द्वेष और मोह-क्षोभ से रहित अवस्था को ही सच्चा धर्म माना गया है। उदाहरण के लिए, *भाव पाहुड़* ग्रन्थ में कहा गया है:

> रागादि समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा का आत्मा में ही रत हो जाना धर्म है।[35]

इसी बात की पुष्टि करते हुए *भाव पाहुड़, मूल, परमात्म प्रकाश, मूल* और *तत्त्वानुशासन* में भी कहा गया है:

> मोह और क्षोभ रहित अर्थात् रागद्वेष और योगों से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहते हैं।[36]

जैन धर्म के अुनसार सभी मनुष्य सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना द्वारा अपनी आत्मा का अनुभव प्राप्त कर परमात्मा बन सकते हैं। इसलिए धर्म को किसी व्यक्ति, जाति या वर्ग की सम्पत्ति मानना भूल है। इसे स्पष्ट करते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन फिर कहते हैं:

> इस सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को ही सच्चा धर्म कहते हैं, जिसके प्रभाव से महान् पापिष्ठ तथा पतित आत्माएँ भी पावन और परमात्मा बन सकती हैं। कल्याण और आत्मोन्नति का इच्छुक प्रत्येक प्राणी, चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति और अवस्था में क्यों न हो, अपनी योग्यतानुसार उपरोक्त रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, रूप धर्म को धारण करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। यह धर्म किसी व्यक्ति, जाति, समाज या वर्ग विशेष की सम्पत्ति न होकर प्राणी मात्र की सम्पत्ति है और प्रत्येक व्यक्ति उससे अपना व दूसरों का कल्याण कर सकता है।[37]

जैन आचार्यों के इन कथनों पर ध्यान देने से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म का मर्म अपनी आत्मा के उस मूल स्वरूप को पहचानने में है

जो मोह, क्षोभ आदि विकारों से सर्वथा रहित है। इसी बात पर ज़ोर देते हुए कानजी स्वामी कहते हैं:

> जैन धर्म किसी घेरे में, सम्प्रदाय में, वेष में या शरीर की क्रिया में नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप की पहिचान में ही जैन धर्म है—जैनत्व है।[38]

वे फिर कहते हैं:

> इसलिए ज्ञानीजन यही कहते हैं कि सर्वप्रथम सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा आत्मस्वरूप को जानो, उसी की प्रतीति-रुचि-श्रद्धा और महिमा करो। समस्त तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि और सभी सत्शास्त्रों के कथन का सार यही है।[39]

वास्तव में मोह-क्षोभ से परे आत्मा के साम्य भाव को प्राप्त करना ही सच्चा धर्म है, जैसा कि गणेशप्रसाद जी वर्णी ने भी बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहा है:

> आत्मा की उस निश्चल परिणति का नाम धर्म है जहाँ मोह और क्षोभ को स्थान नहीं।[40]

वे फिर कहते हैं:

> धर्म का लक्षण मोह और क्षोभ का अभाव है। जहाँ मोह और क्षोभ है वहाँ धर्म नहीं।[41]

यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि आत्मा के स्वरूप को जाने बिना, या यों कहें कि अपनी स्वरूपलीनता की अवस्था को प्राप्त किये बिना, राग-द्वेष या मोह-क्षोभ से पूरी तरह छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। इसीलिए हीरालाल जैन ने बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहा है:

> जो जीव राग-द्वेष से छूटना चाहते हैं उन्हें सबसे पहले आत्म-स्वरूप का जानना आवश्यक है; क्योंकि आत्म-स्वरूप को जाने बिना दुःखों से या राग-द्वेष से मुक्ति मिलना सम्भव नहीं है।[42]

अपनी आत्मा की पहचान करने और उसमें लीन होने के इस धर्म का पालन जाति, वर्ग, सम्प्रदाय आदि का भेद किये बिना सभी मनुष्य समान रूप से कर सकते हैं, जैसा कि *योगसार योगेन्दुदेव ग्रन्थ* में स्पष्ट कहा गया है:

> गृहस्थ हो या मुनि हो, जो कोई भी निज आत्मा में बास करता है, वह शीघ्र ही सिद्धिसुख को पाता है, ऐसा जिन भगवान् ने कहा है।[43]

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना जैनाचार्यों के अनुसार धर्म का सर्वमान्य और सर्वोत्तम लक्षण है। इसे सर्वोत्तम मानने का कारण यह है कि इसे प्राप्त करना ही धर्म का वास्तविक लक्ष्य है और धर्म के अन्य सभी लक्षण इसमें अपने-आप समा जाते हैं, जैसा कि *परमात्मप्रकाश टीका* में स्पष्ट किया गया है:

> यहाँ धर्म शब्द से निश्चय से जीव के शुद्ध परिणाम ग्रहण करने चाहिएँ। उसमें ही नयविभागरूप से वीतरागसर्वज्ञप्रणीत सर्व धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं। वह ऐसे है – (1) अहिंसा लक्षण धर्म है सो जीव के शुद्धभाव के बिना सम्भव नहीं। (2) सागार अनगार (गृहस्थ-मुनि) लक्षणवाला धर्म भी वैसा ही है। (3) उत्तमक्षमादि दश प्रकार के लक्षणवाला धर्म भी जीव के शुद्धभाव की अपेक्षा करता है। (4) रत्नत्रय लक्षणवाला धर्म भी वैसा ही है। (5) रागद्वेष-मोह के अभावरूप लक्षणवाला धर्म भी जीव का शुद्ध स्वभाव ही बताता है और (6) वस्तुस्वभाव लक्षणवाला धर्म भी वैसा ही है।[44]

धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से गहराई से विचार कर इसके अनेक लक्षणों सहित उक्त सर्वोत्तम लक्षण को बताते हुए भी जैनाचार्य यह नहीं भूलते कि सर्व-साधारण को अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में धर्म-अधर्म की पहचान आसानी से कर सकने के लिए उन्हें धर्म के एक अत्यन्त सरल और व्यावहारिक लक्षण की आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से वे धर्म का एक बहुत ही सरल पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और कारगर लक्षण बताते हैं। वे कहते हैं:

धर्म का मुख्य चिह्न यह है कि जो जो क्रियाएँ अपने को अनिष्ट (बुरी) लगती हों, सो सो अन्य के लिए मन-वचन-काय से स्वप्न में भी नहीं करनी चाहिएँ।[45]

जैन-परम्परा के अनुसार धर्म को ही संसार की सबसे उत्तम वस्तु माना जाता है। इस सम्बन्ध में *ज्ञानार्णव ग्रन्थ* में कहा गया है:

धर्म, कष्ट के आने पर समस्त जगत् के त्रस-स्थावर (चर-अचर) जीवों की रक्षा करता है और सुखरूपी अमृत के प्रवाहों से समस्त जगत् को तृप्त करता है।

नरकरूपी अन्धकूप में स्वयं गिरते हुए जीवों को धर्म ही अपने सामर्थ्य से, मानो हाथ का सहारा देकर, बचाता है।

धर्म परलोक में जीव के साथ जाता है, उसकी रक्षा करता है, निश्चित रूप से उसका हित करता है तथा उसे संसाररूपी कीचड़ से निकालकर निर्मल मोक्षमार्ग में स्थापित करता है।

धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बान्धव है, हितू है, और धर्म ही बिना कारण अनाथों की प्रीतिपूर्वक रक्षा करनेवाला है। इसलिए प्राणी को धर्म के अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है।[46]

इसीलिए गणेशप्रसाद जी वर्णी ने कहा है:

धर्म से उत्तम वस्तु संसार में नहीं। धर्म में ही वह शक्ति है कि संसार बन्धन से छुड़ाकर जीवों को सुख-स्थान में पहुँचा दे।[47]

ऐसे धर्म को ग्रहण करने में हमें भूलकर भी विलम्ब नहीं करना चाहिए और इसे शीघ्रातिशीघ्र अपनाकर अपने उद्धार के कार्य में लग जाना चाहिए, तभी हम अपने जीवन को सफल बना सकेंगे। इसलिए *कुरल काव्य* हमें अविलम्ब धर्मकार्य में लगने के लिए इन शब्दों में प्रेरित करता है:

यह मत सोचो कि मैं धीरे-धीरे धर्म मार्ग का अवलम्बन करूँगा। किन्तु अभी बिना विलम्ब किये ही शुभ कर्म करना प्रारम्भ कर दो, क्योंकि धर्म ही वह अमर मित्र है, जो मृत्यु के समय तुम्हारा साथ देनेवाला है।[48]

इन बातों पर ध्यान देते हुए हमें धर्म के वास्तविक स्वरूप को भली-भाँति समझकर दृढ़ संकल्प के साथ अविलम्ब इसे अपने जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग बना लेना चाहिए।

जैन धर्म की उदार दृष्टि

धर्म के मर्म को न समझने के कारण धर्म के नाम पर समाज में अनेक बुराइयाँ और कुरीतियाँ फैली हुई हैं और धर्म के सम्बन्ध में लोगों का विचार संकुचित और पक्षपातपूर्ण बन गया है। पर जैन धर्म में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें ठीक से ग्रहण करने पर हम इन कुरीतियों से बच सकते हैं और अपने विचार को उदार और पक्षपातरहित बनाये रख सकते हैं।

सर्वप्रथम, जैसा कि हम देख चुके हैं, जैन धर्म का मूल उद्देश्य अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहचानकर, अर्थात् इसके सच्चे स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर, इसे परमात्मरूप बनाना है। चूँकि सबकी आत्मा मूलरूप में एक समान है और सभी एक समान ही सुख की चाह रखते हैं, इसलिए जैन धर्म का स्वाभाविक लक्ष्य अपने और समस्त विश्व को सुखी और शान्तिपूर्ण बनाना है। यह साम्प्रदायिक संकीर्णता और जाति, वर्ग या समाज की पारस्परिक द्वेष-भावना से दूर रहकर सबकी समानता दिखलाते हुए सबमें पस्स्पर सद्भाव, सहानुभूति, मित्रता और प्रेम को स्थापित कर सबको विश्व-प्रेम और विश्व-शान्ति की ओर प्रेरित करना चाहता है।

जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त की उदारता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है। स्याद्वाद का मूल व्यावहारिक उद्देश्य है अपनी दृष्टि, विचार और कथन को संकीर्ण, एकांगी, एकपक्षीय और पक्षपातपूर्ण न बनाकर इन्हें व्यापक, उदार, निष्पक्ष और सर्वग्राही बनाने का प्रयत्न करना। इस प्रकार यह सिद्धान्त स्वाभाविक रूप से जैन धर्म की दृष्टि को उदार बनाता है।

जैन धर्म की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह अपने को किसी एक युग या किसी एक समय में उत्पन्न किसी एक महात्मा या महापुरुष के उपदेश पर आधारित न मानकर अनादिकाल से आते रहनेवाले पूर्ण रूप से

मुक्त महापुरुषों के उपदेशों को अपना आधार मानता है। इन मुक्त महापुरुषों के उपदेश स्वभावत: एकरूप होते हैं। किसी एक व्यक्ति के उपदेश से बँधे न होने के कारण जैन धर्म में कट्टरता, हठधर्मिता और रूढ़िवादिता आने की सम्भावना स्वभावत: कम हो जाती है और इसकी दृष्टि सहज रूप से उदार बन जाती है।

अहिंसा को परम धर्म मानना जैन धर्म की चौथी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यह जैन धर्म की उदारता का प्रमुख आधार है। अहिंसा का संक्षिप्त अर्थ है किसी भी प्राणी को किसी भी तरह मन, वचन और कर्म से कष्ट न पहुँचाना। अहिंसा की यह प्रमुखता जैन धर्म को साम्प्रदायिक घृणा और द्वेष से दूर रखकर परस्पर सद्भाव और प्रेम की ओर प्रेरित करती है।

जैन धर्म के विद्वानों ने बार-बार जैन धर्म की उदार दृष्टि की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। उदाहरण के लिए, नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> जैन धर्म किसी व्यक्ति, वर्ग, सम्प्रदाय या जाति का धर्म न होकर प्राणी मात्र के हितों की रक्षा करने व उसके जीवन को शांतिपूर्वक व्यतीत करवाकर उन्नति की ओर ले जाता हुआ उसे परमात्मपद प्रदान करने का दावा रखता है।[49]

जैन धर्म को 'सच्चा धर्म' कहते हुए वे उसे सामाजिक विषमता और द्वेष का नाशक तथा समता और प्रेम का प्रचारक बताते हैं। वे अपने विचार को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:

> सच्चा धर्म वह है जो प्राणियों को संसार के दु:खों से छुड़ाकर सच्चा सुख और शांति प्रदान करे, एवं विषमता, पारस्परिक द्वेष व पाखंड का नाश कर समता तथा प्रेम का प्रचारक हो, और आत्मा को कर्म कलंक से पवित्र कर परमात्मा बना देने का सामर्थ्य रखता हो। इसके विपरीत कोई भी धर्म वास्तविक धर्म नहीं कहला सकता।[50]

कुछ लोग धर्म के ठेकेदार बनकर धर्मात्मा होने का अहंकार करते हैं और किसी धर्म विशेष में ममत्व की भावना रखकर, अर्थात् उसे निजी धर्म

समझकर पक्षपातपूर्ण दृष्टि से उसका प्रचार करते फिरते हैं। वे भूल जाते हैं कि सभी मनुष्य समान रूप से धर्म के अधिकारी हैं और धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं है। इस बात की ओर संकेत करते हुए गणेशप्रसादजी वर्णी बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:

> वास्तव में धर्म की प्रभावना करना (महिमा को उजागर करना, उसे बढ़ावा देना) चाहते हो तो जातीय पक्षपात को छोड़कर प्राणीमात्र का उपकार करो, क्योंकि धर्म किसी जाति का पैतृक विभव (धन, सम्पत्ति या ऐश्वर्य) नहीं अपितु प्राणीमात्र का स्वभाव धर्म है। अत: जिन्हें धर्म की प्रभावना करना इष्ट है तो उन्हें उचित है कि प्राणीमात्र के ऊपर दया करें, अहंबुद्धि ममबुद्धि को तिलाञ्जलि दें, तभी धर्म की प्रभावना हो सकती है।[51]

इस प्रकार जैन धर्म के अनुसार अपने सुख और शान्ति की चाह रखनेवाले व्यक्ति को अपने ही समान अन्य जीवों की सुख-शान्ति का ख़याल रखना आवश्यक है। इसलिए नाथूराम डोंगरीय जैन हमें अपनी संकीर्ण स्वार्थपूर्ण भावना को त्यागने और उदारतापूर्वक विश्वहित की कामना करते हुए विश्व-प्रेम की भावना को अपनाने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं:

> यदि तुम सचमुच ही सुखी बनना चाहते हो और दूसरों को सुखी बनाते हुए संसार में शान्ति स्थापित करना चाहते हो तो सर्व प्रथम विश्व-प्रेम के पवित्र सूत्र में बँध जाओ और अपने से भिन्न किसी भी सम्प्रदाय, जाति, वर्ग या देश के मनुष्यों से घृणा व द्वेष मत करो तथा उनसे समानता व प्रेम का मित्रतापूर्ण व्यवहार करो, इतना ही नहीं; पशु पक्षियों एवं कीड़े मकोड़ों को भी अपनी ही तरह जानदार समझते हुए बेरहमी से कभी मत सताओ, और उनके प्राणों की रक्षा का यथाशक्ति ध्यान रक्खो। जब तक एक मनुष्य या प्राणी दूसरे मनुष्यों और प्राणियों को हृदय से प्यार नहीं करता और उनके दु:ख को अपने दु:ख के समान अनुभव नहीं करता; बल्कि उनको सताता रहता है व उनके सुख की

कुछ भी परवाह नहीं करता तब तक संसार में शान्ति का होना कठिन ही नहीं, असंभव है।[52]

वास्तव में धर्म का मूल प्रयोजन जोड़ना है, तोड़ना नहीं। दूसरे शब्दों में, इसका प्रयोजन एकता लाना है, अलगाव पैदा करना नहीं। इस प्रकार इसका मूल उद्देश्य आत्मा को परमात्मा से एक करना है और समाज में भी व्यक्तियों के बीच एकता बनाये रखना है। पर अज्ञानवश आत्मा अनन्त काल से राग, द्वेष और मोह के प्रभाव में आकर तथा कोध्र, मान, माया लोभ आदि विकारों से दूषित और पथ-भ्रष्ट होकर अपने मूल उद्देश्य से विमुख हो गयी है। यह परमात्मा से एक होने की ओर ध्यान नहीं देती और समाज की एकता को भी भंग कर इसे विभिन्न वर्गों, जातियों और सम्प्रदायों में बाँट देती है तथा एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने में उलझ जाती है।

यदि आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव हो जाये और उसे यह भी समझ में आ जाये कि सबकी आत्मा एक जैसी ही है तो फिर आपस में वैर-विरोध रखने और लड़ाई-झगड़ा करने का कोई कारण या आधार ही नहीं रहेगा। जिस प्रकार सबकी आत्मा एक समान है उसी प्रकार संसार के सभी धर्म भी अपने-अपने ढंग से एक ही सत्य की ओर संकेत करते हैं। पर हम इतनी बुरी तरह भ्रम के शिकार हो गये हैं कि हमें न अपनी पहचान है और न किसी दूसरे की। हम न अपने धर्म के मर्म को समझते है और न किसी दूसरे के धर्म पर गहराई से विचार करने की कोशिश करते हैं। इसलिए अधिकांश लोगों के लिए धर्म एक सम्प्रदाय बनकर रह गया है और बहुत-से लोग जातीय विरोध और साम्प्रदायिक झगड़ों में पड़कर धर्म के नाम को बदनाम कर रहे हैं। इस स्थिति की ओर ध्यान दिलाते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

प्रायः देखा जाता है कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय से, एक जाति दूसरी जाति से, एक पार्टी दूसरी पार्टी से, और यहाँ तक कि एक भाई दूसरे भाई से इसलिए लड़ता है कि उससे भिन्न सम्प्रदाय, जाति, पार्टी या भाई के विचार उसके विचारों से भिन्न हैं, उसके अनुकूल नहीं।

> मतभेद और दृष्टिकोण की भिन्नतामात्र से धर्म के नाम पर प्राचीन समय में भी लोगों ने साम्प्रदायिकता के नशे में मत्त होकर अपने से भिन्न सम्प्रदाय और विचार के निरपराध लोगों पर जो असंख्य और निर्मम अत्याचार किये हैं, एवं उन्हें ज़िन्दा जलाकर, कोल्हू में पेलकर, तलवार के घाट उतारकर, दीवारों में चिनवाकर और खाल खींच भुस भरवाकर अपने राक्षसी कृत्यों द्वारा धर्म के पवित्र नाम को कलंकित कर, इतिहास के पृष्ठों को रक्तरंजित किया है वह किसी भी विज्ञ पाठक से छिपा नहीं है।[53]

इससे यह स्पष्ट है कि एक ही सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी हम अपने अन्धविश्वास और भ्रम के वश हो उसे भिन्न-भिन्न रूप में समझकर एक-दूसरे से वैर-विरोध करने लगते हैं। यदि हमारे धर्म के सिद्धान्त सही भी हों तब भी जब तक हम उन्हें सही रूप से नहीं समझते और उन पर सही रूप से अमल नहीं करते, तब तक हमारे वैर-विरोध की सम्भावना बनी ही रहेगी। हमारे वैर-विरोध का कारण हमारे मतों और विचारों की भिन्नता है और यह भिन्नता बहुत कुछ हमारे ज्ञान, वातावरण, परम्परा, परिस्थितियों आदि पर निर्भर है। इसलिए सर्व-साधारण लोगों के बीच के मतभेद को पूरी तरह दूर कर पाना अत्यन्त ही कठिन है। इस सम्बन्ध में नाथूराम डोंगरीय जैन अपना विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं:

> जैन धर्म कहता है कि अनादि काल से ही ससांर में प्रत्येक प्राणी के विचार एक दूसरे से भिन्न रहे हैं, व रहेंगे; क्योंकि हर एक के विचार उसकी अपनी परिस्थिति, समझ एवं मानसिक इच्छाओं तथा आवश्यकताओं के भिन्न होने से एक से हो जाने नामुमकिन से हैं। सबका ज्ञान और उसके साधन भी परिमित (सीमित) व भिन्न हैं। यह बात दूसरी है कि किसी विषय या बात के सम्बन्ध में एक से अधिक भी मनुष्य सहमत हो गये हों या हो जायें, किन्तु यह असम्भव है कि सम्पूर्ण मनुष्यों के विचार किसी भी समय एक से हो जायें।[54]

ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिए? जैन धर्म की शिक्षा यह है कि सबसे पहले हमें स्वयं निष्पक्ष और उदार दृष्टि अपनाकर सत्य की खोज करनी चाहिए और इसकी प्राप्ति के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। अपने समाज में जो धार्मिक विश्वास और विधि-विधान परम्परा से चले आ रहे हैं उन्हें आँख मूँदकर स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए, बल्कि उन्हें अच्छी तरह सत्य की कसौटी पर कसकर उनके उचित या अनुचित होने की पहचान कर उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए। इसी बात की ओर संकेत करते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> अपने विचारों को उदार, सहिष्णु और पक्षपातहीन बनाने के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के हित की दृष्टि से यह उसका प्रथम कर्तव्य है कि अपनी नीति सत्य को ग्रहण कर असत्य को त्यागने की बनावे। जो सत्य हो वही अपना है, न कि जो अपना माना हुआ है वही सत्य।[55]

हुकमचन्द भारिल्ल ने भी पण्डित टोडरमल कृत *मोक्षमार्ग प्रकाशक* की प्रस्तावना में स्पष्ट कहा है कि किसी परम्परा को बिना स्वयं परीक्षा किये धर्म मान लेना उचित नहीं है। वे कहते हैं:

> कुल और परम्परा से जो तत्त्वज्ञान को स्वीकार लेते हैं वह भी सम्यक् (उचित) नहीं है। उनके (पण्डित टोडरमल के) अनुसार धर्म परम्परा नहीं, स्वपरीक्षित साधना है।[56]

अन्धविश्वास और अन्धपरम्परा के सहारे हम सत्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। सत्य की प्राप्ति के लिए हमें पूरी सावधानी और सूझ-बूझ के साथ किसी सच्चे मार्गदर्शक या गुरु की खोज करनी होगी जो हमें सही मार्ग दिखलाकर तथा सत्य का अनुभव कराकर मोक्ष की प्राप्ति करा सके। सच्चे गुरु की पहचान करने में सावधानी की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए हुकमचन्द भारिल्ल बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:

> गुरु के स्वरूप को समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि गुरु तो मुक्ति के साक्षात् मार्गदर्शक होते हैं। यदि उनके स्वरूप

को भली-भाँति न समझ पाया तो ग़लत गुरु के संयोग से भटक जाने की सम्भावना अधिक बनी रहती है।[57]

नाथूराम डोंगरीय जैन भी अन्धविश्वास को त्यागकर पहले पूरी सावधानी के साथ गुरु की परख कर लेने की सलाह देते हैं। वे कहते हैं:

जब हम पैसे की हांडी को भी ठोक बजाकर मोल लेते हैं तो जिस धर्म या देव, गुरु आदि के द्वारा हम संसार-समुद्र से पार होकर सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हैं, उसका अन्धे होकर सहारा लेना, चाहे उससे हानि के बदले लाभ ही क्यों न हो, बुद्धिमत्ता नहीं हो सकती। इसलिए प्रत्येक समझदार व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह सत्य की कसौटी पर धर्म से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को कसे, और इसके बाद ही उस पर विश्वास करे।[58]

धर्म के नाम पर लोगों को ठगनेवाले झूठे या नक़ली गुरुओं को संसारी ठगों से अधिक भयानक और विनाशकारी समझना चाहिए, क्योंकि वे अपने शिष्यों को मोक्ष-मार्ग से विमुख कर उनके दुर्लभ मनुष्य-जीवन को ही बरबाद कर डालते हैं। इसलिए गणेशप्रसादजी वर्णी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:

धर्म के नाम पर जगत् ठगाया जाता है। प्रत्यक्षठग से धर्मठग अधिक भयंकर होता है।[59]

जब तक हमें स्वयं सत्य की ठीक-ठीक जानकारी नहीं होती तब तक दूसरों को समझाने की हमारी कोशिश प्रभावरहित और निष्फल ही सिद्ध होती है। जो स्वयं पूरी तरह जानकार नहीं है, उसे दूसरों को समझाने का कोई अधिकार नहीं। उसके लिए ऐसी चेष्टा करना न तो उचित है और न उसकी चेष्टा किसी को लाभ ही पहुँचा सकती है। इसलिए स्वयं सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही हमें सच्चे जिज्ञासु या सत्य के खोजी को स्थिति के अनुसार समझाने की कोशिश करनी चाहिए। पर हमें कभी भी किसी के ऊपर अपने विचारों को थोपने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में नाथूराम डोंगरीय जैन बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहते हैं:

ज़बरदस्ती अपने विचार दूसरों पर लादने का दुष्प्रयत्न कभी न करो, जो कि कभी सफल नहीं हो सकता। हो सकता है कि कोई जानबूझकर या बिना जाने ग़लती कर रहा हो या उसने वस्तु के स्वरूप व अन्य बातों को ग़लत समझ रखा हो, तो भी उससे द्वेष न कर यदि तुमसे बन सके और तुम उसे समझाने का पात्र समझो तो उसे वास्तविकता समझा दो, वर्ना मध्यस्थ रहो और उसकी मूर्खता पर या ज्ञान की हीनता पर झुँझलाओ नहीं, बल्कि दया करो। असहिष्णु बनकर लड़ने-झगड़ने की मूर्खता कदापि मत करो।[60]

उक्त कथनों से यह स्पष्ट है कि जैन धर्म सुख-शान्ति चाहनेवाले जीवों को अनेक प्रकार से उदार दृष्टि अपनाने और सबके साथ सहानुभूति और सद्भाव रखते हुए समता, मित्रता, प्रेम आदि सद्गुणों को ग्रहण करने का सन्देश देता है। नाथूराम डोंगरीय जैन ने जैन धर्म के इस दृष्टिकोण को बड़ी ही स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है। वे कहते हैं:

जैन धर्म यह बतलाता है कि भाइयों! यदि तुम सचमुच ही शान्ति के इच्छुक हो तो दुनिया के प्रत्येक प्राणी को अपना मित्र समझते हुए उससे उदारता का व्यवहार करो और मतभेद होने मात्र से किसी को अपना दुश्मन समझकर उससे द्वेष या झगड़ा मत करो; क्योंकि विभिन्न प्राणियों के नाना स्वभाव और विचित्र दृष्टिकोणों के होने के कारण मतभेद होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार जैन धर्म साम्प्रदायिकता (संकुचित विचारों) का नाश कर दुनिया के प्रत्येक प्राणी को मतभेद रहते हुए भी परस्पर मित्रता के साथ रहने, सत्य को उदारता से ग्रहण करने तथा फूट, कलह, विसंवाद व विरोध को दूर कर—समता, स्वतन्त्रता, निर्भयता और वात्सल्य का पूर्ण समर्थन करने के साथ ज़ोरों से घोषणा करता है कि मतभेद मात्र से किसी से घृणा और द्वेष करना कदापि उचित और धर्म नहीं हो सकता है। धर्म का उद्देश्य और स्वरूप तो विषमता तथा द्वेष का अन्त कर संसार में समता और प्रेम को स्थापित करना है।[61]

इस प्रकार हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जैन धर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त ही उदार है और इसे सही रूप से अपनाने पर कोई भी व्यक्ति इससे निष्पक्षता और उदारता की प्रेरणा ले सकता है।

जैन धर्म क्या नहीं है?

जैन धर्म का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है और धर्म ही इसका साधन है। इससे स्पष्ट है कि धर्म से बढ़कर इस संसार में अन्य कोई चीज़ नहीं। इसलिए धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझकर इसका दृढ़ता से पालन करना हमारा सबसे प्रमुख कर्तव्य है। पर जो चीज़ जितनी ही अच्छी होती है उसकी उतनी ही अधिक नक़ल इस संसार में होने लगती है। इसलिए धर्म के नाम पर भी संसार में बहुत-सी ऐसी चीज़ें चल पड़ी हैं, जो वास्तव में धर्म नहीं हैं, फिर भी वे न केवल सीधे-सादे साधारण जनों को बल्कि बड़े-बड़े समझदार और बुद्धिमान व्यक्तियों को भी भ्रम में डालकर गुमराह कर देती हैं। इसलिए जनहित की दृष्टि से जैन धर्म हमें यह बताने की कोशिश करता है कि जैन धर्म क्या नहीं है, अर्थात् जैन विचारधारा के अनुसार किसे धर्म नहीं कहते।

हम देख चुके हैं कि धर्म का सम्बन्ध किसी बाहरी वस्तु से नहीं, बल्कि अपनी आत्मा से है। इसलिए आन्तरिक साधना द्वारा आत्मशुद्धि कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप की पहचान न करना और भ्रमवश बहिर्मुखी क्रियाओं में लगे रहना धर्म नहीं हैं। जब तक मन से राग-द्वेष, मोह तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को निकालकर इसे शुद्ध नहीं किया जाता तब तक आत्मा की शुद्धि और मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए बहिर्मुखी क्रियाओं को सही अर्थ में धर्म नहीं कहा जा सकता। शुभचन्द्राचार्य ने अपने *ज्ञानार्णव ग्रन्थ* में बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहा है:

> नि:सन्देह मन की शुद्धि से ही जीवों की शुद्धि होती है, मन की शुद्धि के बिना केवल काय को क्षीण करना व्यर्थ है:[62]

वे फिर कहते हैं:

> जो व्यक्ति चित्त की शुद्धि प्राप्त किये बिना भले प्रकार मुक्त होना चाहता है वह केवल मृगतृष्णा की नदी में जल पीता है। अर्थात् मृगतष्णा में

भला जल कहाँ से आ सकता है? उसी प्रकार चित्त की शुद्धता के बिना मुक्ति कैसे हो सकती है?[63]

भाव पाहुड़ ग्रन्थ में भी कहा गया है:

जो व्यक्ति भावनारहित (शुद्ध भाव से रहित) है, उसका बाह्य अपरिग्रह (बाहरी वस्तुओं का त्याग), गिरि, कन्दराओं आदि में आवास तथा ध्यान, अध्ययन आदि सब निरर्थक है।[64]

गणेशप्रसाद वर्णी ने भी आन्तरिक शुद्धि या आत्मनिर्मलता पर ज़ोर देते हुए बड़ी ही स्पष्टता के साथ बहिर्मुखी क्रियाओं की व्यर्थता दिखलायी है। वे कहते हैं:

अन्तरङ्ग की विशुद्धि से ही कर्मों का नाश सम्भव है, अन्यथा नहीं।

आत्मनिर्मलता के अभाव में यह आत्मा आज तक नाना संकटों का पात्र बनी रही है तथा बनेगी, अतः आवश्यकता इस बात की है कि आत्मीय भाव निर्मल बनाया जाये। ...आत्मनिर्मलता के लिए अन्य बाह्य कारणों के जुटाने का जो प्रयास है वह आकाशताड़न (आकाश को पीटने) के सदृश है।

आत्मनिर्मलता का सम्बन्ध भीतर से है, क्योंकि स्वयं आत्मा ही उसका मूल हेतु है। यदि ऐसा न हो तो किसी भी आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता।

जो कुछ करना है आत्मनिर्मलता से करो।

जब तक वह (आत्मा में लगी) कलुषता (कालिमा) न जावेगी तब तक संसार में कहीं भी भ्रमण कर आइये, शान्ति का अंशमात्र लाभ न होगा, क्योंकि शान्ति को रोकनेवाली कलुषता तो भीतर ही बैठी है; क्षेत्र छोड़ने से क्या होगा! एक रोगी मनुष्य को साधारण घर से निकालकर एक दिव्य महल में ले जाया जाये तो क्या वह नीरोग हो जावेगा? अथवा काँच के नग में स्वर्ण की पच्चीकारी करा दी जाय तो क्या वह हीरा हो जावेगा?

जिन जीवों ने आत्मशुद्धि नहीं की उनका व्रत, उपवास, जप, तप, संयम आदि सभी निष्फल हैं; क्योंकि बाह्य क्रियायें पुद्गलकृत (बाह्य परमाणुओं द्वारा बनाये गये) विकार है।[65]

इसलिए वे दृढ़ता के साथ कहते हैं:

मोक्षमार्ग मन्दिर में नहीं, मसजिद में नहीं, गिरजाघर में नहीं, पर्वत-पहाड़ और तीर्थराज में नहीं; इसका उदय तो आत्मा में है।[66]

नाथूराम डोंगरीय जैन भी इस सम्बन्ध में अपना विचार बड़े ही स्पष्ट और ज़ोरदार शब्दों में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:

धर्म, मंदिरों या मूर्तियों में, तीर्थक्षेत्रों या धर्मशास्त्रों में चिपकी रहनेवाली वस्तु नहीं है, जिसे हम वहाँ पहुँचकर पकड़ सकते या प्राप्त कर सकते हों; बल्कि धर्म तो अपने आत्मा के ही उत्तम और स्वाभाविक गुणों का नाम है। ...यह याद रखना चाहिए कि मंदिरों, मूर्तियों, तीर्थस्थानों अथवा पूजा, प्रार्थना आदि के नाम पर उन्मत्त होकर दूसरों पर टूट पड़ना और ख़ून बहाना कभी भी धर्म नहीं हो सकता। जो लोग ऐसा करते हैं वे दुनियाँ को ही नहीं, बल्कि अपने-आपको भी धोखा देते हैं और धर्म के नाम पर पाप कर धर्म को कलंकित करते हैं।[67]

जहाँ धर्म के नाम पर वैर-विरोध कर एक-दूसरे का ख़ून बहाया जाता है या जहाँ बलि चढ़ाने के लिए प्राणियों की हत्या की जाती है, उसे धर्म नहीं, बल्कि घोर अनर्थ और अन्धविश्वास कहना चाहिए। गणेशप्रसाद वर्णी का कथन है:

जहाँ प्राणिघात को धर्म बताया जावे उनके दया का अभाव है, जहाँ दया का अभाव है वहाँ धर्म का अंश नहीं।[68]

धर्मग्रन्थों का अध्ययन और उनका पाठ भी आत्मनिर्मलता या आत्मस्वरूप की पहचान के बिना व्यर्थ ही है, जैसा कि गणेशप्रसाद वर्णी ने स्पष्ट कहा है:

केवल शास्त्र का अध्ययन संसार-बन्धन से मुक्त करने का मार्ग नहीं। तोता राम-राम रटता है, परन्तु उसके मर्म से अनभिज्ञ (अनजान) ही रहता है। इसी तरह बहुत शास्त्रों का बोध होने पर जिसने अपने हृदय को निर्मल नहीं बनाया उससे जगत् का कोई कल्याण नहीं हो सकता।[69]

कानजी स्वामी ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। वे कहते हैं:

यदि आत्मस्वभाव की पहिचान न करे तो वैसे जीव का हज़ारों शास्त्रों का अभ्यास भी व्यर्थ है—आत्मकल्याण का कारण नहीं है। जीव यदि मात्र शास्त्रज्ञान करने में ही लगा रहे, परन्तु शास्त्र की ओर के विकल्पों से परे—ऐसा जो चैतन्य आत्मस्वभाव है, उस ओर उन्मुख न हो तो उसके धर्म नहीं होता, सम्यग्ज्ञान नहीं होता।[70]

धर्म के नाम पर कई लोग परम्परागत रूढ़ियों से बँध जाते हैं और अपने समाज, कुल या जाति की रीतियों को कभी परखने की कोशिश नहीं करते। बिना विचारे कि ये रीतियाँ धर्म के अनुकूल हैं या प्रतिकूल—वे उन्हें पकड़े रहते हैं। फिर कुछ लोगों के मन में ऐसी धारणा है कि केवल वे ही अपने ऊँचे कुल या जाति के कारण धर्म के अधिकारी हैं। जैन धर्म इन रूढ़िवादी विचारों को स्वीकार नहीं करता। पण्डित टोडरमल ने स्पष्ट कहा है:

वहाँ कितने ही जीव कुलप्रवृत्ति से अथवा देखा-देखी लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधते हैं, उनके तो धर्मदृष्टि नहीं है।[71]

जैन धर्म के अनुसार किसी कुल में जन्म लेने से कोई बड़ा या छोटा नहीं होता। मनुष्य अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आचरण से बड़ा होता है। इसकी ओर संकेत करते हुए पं. हीरा लाल जैन कहते हैं:

नीच कुल में जन्मा हुआ चाण्डाल भी यदि सम्यग्दर्शन से युक्त है, तो श्रेष्ठ है—अतः पूज्य है। किन्तु उच्च कुल में जन्म लेकर भी जो मिथ्यात्व-युक्त हैं, वे श्रेष्ठ और आदरणीय नहीं हैं।[72]

नाथूराम डोंगरीय जैन भी कहते हैं:

> धर्म के नाम पर कभी-कभी कई लोकरूढ़ियाँ भी प्रचलित हो जाती हैं। ...यदि किसी रूढ़ि के सेवन से हमारी धार्मिक श्रद्धा में दोष लगता हो या हमारे आचरण में शिथिलता पैदा होने की सम्भावना हो, अथवा जिसमें धर्म का लेश भी नहीं है और उसके सेवन से पाप बढ़ता हो, या हमारा जीवन कष्टमय होता हो तो उसे तुरन्त ही त्याग देना चाहिये।[73]

किसी विशेष प्रकार की वेश-भूषा धारण करने से भी कोई धर्मात्मा या मोक्ष-मार्गी नहीं बन जाता। गणेशप्रसाद वर्णी ने स्पष्ट घोषणा की है:

> भेष में मोक्ष नहीं, मोक्ष तो आत्मा का स्वतन्त्र परिणमन है।[74]

भगवती आराधना, मूल, ग्रन्थ में भी बगुले का दृष्टान्त देकर कहा गया है:

> यदि किसी मुनि का आचरण ऊपर से अच्छा या निर्दोष दीख पड़ता है परन्तु उसके अन्दर के विचार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ आदि) से मलिन, अर्थात् गन्दे हैं, तो उसका यह बाह्याचरण, उपवास, अवमौदर्यादिक तप (अपने स्वाभाविक आहार से कम आहार लेने का तप) उसकी कुछ उन्नति नहीं करते, क्योंकि इन्द्रिय कषायरूप, अन्तरंग मलिन परिणामों से उसका अभ्यन्तर तप नष्ट हुआ होता है, जैसे बगुला ऊपर से स्वच्छ और ध्यान धारण करता हुआ दीखता है, परन्तु अन्तरंग में मत्स्य (मछली) मारने के गन्दे विचारों से युक्त ही होता है।[75]

सुधर्मोपदेशामृतसार में भी ऐसा ही विचार व्यक्त करते हुए आचार्य कुंथुसागर जी कहते हैं:

> जो केवल भेष धारणकर संसार को ठगते फिरते हैं ऐसे साधुओं में वैराग्य की सत्ता कभी नहीं हो सकती।[76]

बिना आन्तरिक निर्मलता के केवल बाहरी वेष धारण कर लेने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जैन धर्म के अनुसार वेषधारी पाखण्डियों को आदर-सत्कार देना मूर्खता है, जैसा कि *जैनधर्मामृत* में स्पष्ट कहा गया है:

> जो परिग्रह (धन-संचय की प्रवृत्ति) आरम्भ और हिंसा से युक्त हैं, संसाररूपी समुद्र के भँवर में पड़े हुए डुबकियाँ ले रहे हैं, ऐसे पाखण्डी विविध वेषधारी गुरुओं का किसी सिद्धि आदि पाने की अभिलाषा से आदर-सत्कार करना पाखण्डिमूढ़ता जानना चाहिए।[77]

सभी यह स्वीकार करते हैं कि सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति मोह या आसक्ति बन्धन का कारण है। इसे छोड़े बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए प्राचीन काल से ही कुछ लोगों के बीच यह धारणा चली आ रही है कि मुक्ति की चाह रखनेवालों को घर-बार, धन-सम्पत्ति आदि सबकुछ को छोड़कर जंगलों या पहाड़ों में चले जाना चाहिए। कुछ साधक तो किसी से बोलना भी ठीक नहीं समझकर मौन धारण कर लेते हैं और कुछ पहननेवाले वस्त्रों का भी पूर्ण त्याग कर देना आवश्यक समझते हैं। इन विचारों के बहुत से समर्थक और अनुयायी आज भी पाये जाते हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सबकुछ छोड़कर जंगलों या सुनसान स्थानों में चले जाने पर भी मन तो साथ ही जाता है और मन के अन्दर से सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति चिरकाल से जमी हुई आसक्तियों या मोह को अचानक निकाला नहीं जा सकता। पर संसार के प्रति मोह या आसक्ति को अपने मन से निकालना निश्चय ही केवल बाहरी त्याग करने से ज़्यादा आवश्यक है। यदि कोई साधक घर-बार को बिना छोड़े अपनी दृढ़ साधना द्वारा सांसारिक मोह और आसक्तियों से ऊपर उठ जाये तो वह घर में रहता हुआ भी पूर्ण उदासीन, वीतरागी या वैरागी बन सकता है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए गणेशप्रसाद वर्णी कहते हैं:

> मोह को नष्ट करना संसार के बन्धन से मुक्त होना है।
>
> सभी वेदनाओं का मूल कारण मोह ही है। जब तक यह प्राचीन रोग आत्मा के साथ रहेगा भीषण से भीषण दुःखों का सामना करना पड़ेगा।

जब तक मोह नहीं छूटा तब तक अशान्ति है। यदि वह छूट जावे तो आज शान्ति मिल जाये।

जिसने मोह पर विजय पायी वही सच्चा विजयी है, उसी की डगमगाती जर्जर जीवन-नैया संसार-सागर पार होने के सन्मुख है।

कल्याण का कारण अन्तरङ्ग की निर्मलता है न कि घर छोड़ना और मौन ले लेना।

यदि गृह छोड़ने से शान्ति मिले तब तो गृह छोड़ना सर्वथा उचित है। यदि इसके विपरीत आकुलता का सामना करना पड़े तब गृहत्याग से क्या लाभ?

जिनकी आत्मा अभिप्राय (आन्तरिक भाव) से निर्मल हो गयी है वह व्यापारादि कार्य करते हुए भी अकर्ता है और जिनकी आत्मा अभिप्राय से मलीन है वह बाह्य में दिगम्बर होकर कार्य न करते हुए भी कर्ता है।

कषाय (क्रोध, मान, माया, मोह आदि) के अस्तित्व में चाहे निर्जन वन में रहो, चाहे पेरिस जैसे शहर में रहो, सर्वत्र ही आपत्ति है। यही कारण है कि मोही दिगम्बर भी मोक्षमार्ग से पराङ्मुख (विमुख) है और निर्मोही (मोहरहित) गृहस्थ मोक्षमार्ग के सम्मुख है।[78]

इस सम्बन्ध में हुकमचन्द भारिल्ल ने कुन्द कुन्दाचार्य के *अष्टपाहुड़ ग्रन्थ* के विचारों का उल्लेख इन शब्दों में किया है:

कुन्दकुन्दाचार्य ने बाह्य में नग्न-दिगम्बर होने पर भी जो अन्तर में मोह-राग-द्वेष से युक्त हों, उनमें भी गुरुत्व का निषेध करते हुए सावधान किया है। वे लिखते हैं:

द्रव्य से (वस्तुत:) बाह्य में तो सभी प्राणी नग्न होते हैं। नारकी जीव और तिर्यञ्च जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं।

मनुष्यादि भी कारण पाकर नग्न होते देखे जाते हैं तो भी वे सब परिणामों से अशुद्ध हैं, अत: भावश्रमणपने (साधुत्व-भाव) को प्राप्त नहीं होते हैं।

जिन-भावना से रहित अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित नग्न-श्रमण सदा दुःख पाता है, संसार-सागर में भ्रमण करता है और वह बोधि अर्थात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को चिरकाल तक नहीं पाता है।[79]

जैनधर्मामृत में भी कहा गया है:

मोहरहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्ग पर स्थित है, किन्तु मोहवान् मुनि मोक्षमार्ग पर स्थित नहीं है, क्योंकि मोही (मोहग्रसित) मुनि से निर्मोही (मोहरहित) गृहस्थ श्रेष्ठ माना जाता है।[80]

कुछ लोग स्वयं निर्मल हुए बिना केवल यश प्रतिष्ठा या धन-प्राप्ति के लोभ से दूसरों को धर्म का उपदेश देते फिरते हैं। इस सम्बन्ध में पण्डित टोडरमल ने कहा है:

वक्ता कैसा होना चाहिए कि जिसको शास्त्र वांचकर आजीविका आदि लौकिक कार्य साधने की इच्छा न हो; क्योंकि, यदि आशावान हो तो यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता, ...यदि वक्ता लोभी हो तो वक्ता स्वयं हीन हो जाय...। इसलिए जो आत्मरस का रसिया वक्ता है, उसे जिन धर्म के रहस्य का वक्ता जानना। ...ऐसा जो वक्ता धर्मबुद्धि से उपदेशदाता हो वही अपना तथा अन्य जीवों का भला करे। और जो कषाय बुद्धि (राग, द्वेष, मोह, माया, लोभ आदि से सनी बुद्धि) से उपदेश देता है वह अपना तथा अन्य जीवों का बुरा करता है—ऐसा जानना।[81]

गणेशप्रसाद वर्णी ने भी बड़े ही स्पष्ट रूप से कहा है:

आप जब तक निर्मल न हों तब तक उपदेश देने के पात्र नहीं हो सकते।[82]

धर्म के वास्तविक मर्म को पूरी तरह न जाननेवाले या अपने लोभवश दूसरों को उपदेश देनेवाले लोग जन-साधारण को अनेक प्रकार की बहिर्मुखी क्रियाओं या हठकर्मों में उलझा देते हैं जिससे उनका जीवन बरबाद हो जाता है। जैन धर्म में ऐसे कर्मों को करना 'लोकमूढ़ता' है।

धर्म के नाम पर इस प्रकार प्रपञ्च फैलानेवाले केवल दूसरों को ही नहीं, बल्कि अपने को भी धोखा देते हैं। अपना जीवन निष्फल बना लेते हैं। इसकी ओर ध्यान दिलाते हुए शुभचन्द्राचार्य कहते हैं:

> अहो विभ्रान्तचित्तानां पश्य पुंसां विचेष्टितम्।
> यत्प्रपञ्चैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निःफलम्॥
>
> अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि देखो, भ्रमरूप चित्तवाले पुरुषों की चेष्टा साधुपने में भी पाखंड प्रपंच करके जन्म को निष्फल कर देती है।[83]

कुछ लोग समझते हैं कि पाप से बचना और पुण्य कमाना ही धर्म है। इसलिए वे पाप से बचने और पुण्य कमाने पर ज़ोर देते हैं। यह ठीक है कि पुण्य करना अच्छा या भला है और पाप करना बुरा है। पर अपने भले-बुरे कर्मों द्वारा हम केवल शुभ-अशुभ कर्मों को इकट्ठा करते हैं और तदनुसार अपने शुभ-अशुभ कर्मों के भुगतान के लिए संसार की अच्छी-बुरी योनियों में भटकते रहते हैं। पुण्य कर्मों से कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जब तक हम मोह, क्षोभ आदि विकारों को दूर कर आत्मशुद्धि या वीतरागता की अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक पाप और पुण्य दोनों लोहे और सोने की बेड़ियों के समान बन्धनकारी बने रहते हैं। *भाव पाहुड़ मूल* में स्पष्ट कहा गया है:

> जो आत्मा को तो प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते और सभी प्रकार से पुण्यकर्मों को करते हैं, वे भी मोक्ष को प्राप्त न करके संसार में ही भ्रमण करते हैं।[84]

नयचक्र बृहद् गाथा में भी कहा गया है:

> मोह के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण द्रव्य व भाव दोनों प्रकार के शुभ व अशुभ कर्मों से संसार भ्रमण होता है।[85]

पुण्य और पाप को सोने और लोहे की बेड़ियों के समान बताते हुए पण्डित पन्नालाल *समयसार* की प्रस्तावना में कहते हैं:

> बन्धन की अपेक्षा (दृष्टि से) सुवर्ण और लोह—दोनों की बेड़ियाँ समान हैं। जो बन्धन से बचना चाहता है उसे सुवर्ण (पुण्य) की बेड़ी भी तोड़नी होगी। ...परमार्थ का विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध इस जीव को संसार में ही रोकनेवाला है।[86]

जैन धर्म में आत्मशुद्धि या आत्मज्ञान को ही धर्म कहा गया है। कर्मों का नाश और मोक्ष की प्राप्ति इससे ही होती है। इसलिए आत्मशुद्धि और आत्मज्ञान के लिए अन्तर्मुखी साधना न कर बहिर्मुखी क्रियाओं में लगना और तप आदि कर्म द्वारा शरीर को कष्ट देना व्यर्थ और निष्फल है। जैन ग्रन्थ *रयणसार* में इसके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से चेतावनी दी गयी है:

> हे बहिरात्मा! तू क्रोध, मान, मोह आदि का त्याग न करके जो व्रत तपश्चरणादि (तप आदि कर्म) के द्वारा शरीर को दण्ड देता है, क्या इससे तेरे कर्म नष्ट हो जायेंगे? कदापि नहीं। इस जगत् में क्या कभी बिल को पीटने से भी सर्प मरता है? कदापि नहीं।[87]

यही कारण है कि जैन धर्म में हठकर्मों और बहिर्मुखी क्रियाओं को धर्म नहीं माना गया है और उन्हें छोड़कर किसी सच्चे गुरु की सहायता से सच्चे धर्म को अपनाने और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। उदाहरण के लिए, *अमृताशीति* में कहा गया है:

> गिरि गहन, गुफा आदि तथा शून्य वनप्रदेशों में स्थिति, इन्द्रियनिरोध, ध्यान, तीर्थसेवन, पाठ, जप, होम आदिकों से व्यक्ति को सिद्धि नहीं हो सकती। अतः हे भव्य (मोक्षार्थी)! गुरुओं के द्वारा कोई अन्य ही उपाय खोज।[88]

'धर्म क्या है और क्या नहीं है' के सम्बन्ध में यहाँ जो कुछ कहा गया है उससे जैनाचार्यों के धर्म-विषयक दृष्टिकोण की यथार्थता या सत्यता सहज ही प्रकट होती है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनाचार्यों ने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर ही धर्म के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों की विस्तारपूर्वक विवेचना की है और अपने विचारों को स्पष्टता और निर्भीकता के साथ व्यक्त किया है।

जीव, बन्धन और मोक्ष

जीव और अजीव की भिन्नता

जैन धर्म के अनुसार संसार के सभी पदार्थों को मूलतः दो भागों में बाँटा जाता है—(1) जीव और (2) अजीव। इनका वास्तविक स्वरूप एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। जीव तत्त्व चेतना और जीवन-शक्ति से युक्त होता है, जबकि अजीव तत्त्व चेतना और जीवन-शक्ति से रहित होता है। जैन धर्म में बताये गये जीव के अतिरिक्त अन्य पाँचों पदार्थ—(1) पुद्गल (भौतिक तत्त्व या परमाणु), (2) धर्म (गति तत्त्व), (3) अधर्म (स्थैर्य तत्त्व), (4) आकाश और (5) काल (समय)—अजीव के ही भेद हैं। जीव और शरीर को एक समझना भारी भूल है। जीव को कभी भी निर्जीव शरीर का गुण अथवा शरीर से उत्पन्न होनेवाली कोई चीज़ नहीं समझनी चाहिए। यद्यपि प्रत्येक प्राणी का निर्माण जीव और निर्जीव तत्त्व (शरीर) की मिलावट से हुआ है, फिर भी प्रत्येक प्राणी में मिले जीव और शरीर का वास्तविक स्वरूप भिन्न-भिन्न है। निर्जीव तत्त्वों से बने शरीर को जीव तत्त्व (आत्मा) से मिले होने के कारण ही जीवित कहा जाता है। शरीर से जीव के अलग होते ही शरीर निर्जीव बन जाता है। जिस प्रकार हम अपनी बाहरी इन्द्रियों द्वारा बाहरी निर्जीव वस्तुओं या पदार्थों को देखते अथवा उनका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार हम अपनी आन्तरिक दृष्टि द्वारा जीव (आत्मा) का भी अपने अन्तर प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं।

जीव और अजीव की भिन्नता को न समझने के कारण हम अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य और अपने मूल कर्तव्य को ठीक से नहीं समझ पाते। इस नासमझी या अज्ञान के कारण हम अपने सर्वाधिक आवश्यक कर्तव्य को भुलाकर ऐसे कर्मों में उलझ जाते हैं जो हमें बन्धन में जकड़कर संसार के दुःख-भरे आवागमन के चक्र में फँसा देते हैं।

इसलिए जीव और अजीव की मौलिक भिन्नता का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इस ज्ञान को ही जैन धर्म में 'भेद-विज्ञान' कहा जाता है। जीव और अजीव के एक दूसरे से भिन्न होने या न होने के विषय से सम्बन्धित अनेकों प्रश्नों पर गहराई से विचार करने को ही तत्त्व-विचार कहते हैं। अपना कल्याण चाहनेवाले को तत्त्व-विचार करने की प्रेरणा देते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> वस्तु के उस वास्तविक स्वरूप को तत्त्व कहते हैं जिसे जानकर हम अपना कल्याण कर सकें। हम क्या हैं? हमारे दुःख का वास्तविक कारण क्या है? क्यों हम संसार व इसके जन्म, मरण, शरीर, सुख, दुःखादि बन्धनों में फँसे हुए हैं, व किस भाँति इनसे छूट कर सुखी बन सकते हैं? स्थिर और आकुलता रहित सच्चा सुख व शान्ति हमें मिल सकती है या नहीं? आदि बातों पर निष्पक्ष भाव से ठीक-ठीक विचार करना ही तत्त्व-विचार है। वास्तव में मूल तत्त्व दो हैं: 1. जीव (आत्मा) 2. अजीव (प्रकृति)। ज्ञान, दर्शन, आनन्द अथवा चेतनामय पदार्थ को आत्मा कहते हैं, जो प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। ...अजीव वह तत्त्व है जिसमें उपरोक्त चेतना या जानने देखने की शक्ति नहीं है। ...संसारी जीव और अजीव के अन्तर्गत पुद्गल के परमाणु (कर्म) अनादि काल से सम्बन्धित हैं, और इसी कारण आत्मा संसार में जन्म मरणादि के दुखों को उठाती हुई नवीन शरीरों को धारण कर नाना योनियों में भटक रही है।
>
> ...संसारी आत्माएँ, जो कि अनादि से कर्म-मल से लिप्त हैं, आत्मध्यान आदि के द्वारा कर्म कलंक को धोकर व अपने सहज पवित्र स्वभाव को प्राप्त होकर पूर्ण सुखी बन जाती हैं।[1]

जीव दो प्रकार के होते हैं: (1) कर्म से लिप्त और (2) कर्म से रहित। पहले को बद्ध या संसारी और दूसरे को मुक्त या असंसारी कहते हैं। जो जीव कर्मों के बन्धन में बँधकर आवागमन के चक्र में फँसे हुए हैं, उन्हें बद्ध जीव कहते हैं और जो अपने सभी कर्मों को नष्टकर अपने शुद्ध स्वभाव में स्थित हो मोक्ष की प्राप्ति कर चुके होते हैं, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं।

जीव अपनी सहज शुद्ध अवस्था में सब प्रकार से परिपूर्ण होता है। वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य (शक्ति), अर्थात् अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न होता है। मोक्ष की प्राप्ति कर वह सदा के लिए आवागमन से मुक्त हो जाता है। पर संसारी जीवों की शुद्धता न्यूनाधिक रूप में कर्म-मल से प्रभावित रहती है। इसलिए उनके ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, शक्ति-अशक्ति आदि में भिन्नता पायी जाती है। कर्मों से जकड़े संसारी जीवों को ज्ञान, सुख आदि की प्राप्ति अपने-आप सहज रूप से नहीं होती। कर्मों के आवरण से ढके होने के कारण उन्हें केवल इन्द्रियों के माध्यम से सीमित ज्ञान, सुख आदि की प्राप्ति होती है। इसलिए उनकी इन्द्रियों की संख्या के अनुसार उन्हें ऊँची या नीची श्रेणियों में बाँटा जाता है। ऊँची या नीची—किसी भी श्रेणी के जीव में चेतना का गुण सदा किसी न किसी अंश में अवश्य रहता है, भले ही जीव के अन्य सभी गुण लुप्त हो गये हों। इसलिए चेतना को जीव का लक्षण कहा गया है:

चेतनालक्षणो जीवः।[2]

अर्थ—चेतना जीव का लक्षण है।

संसार में अनगिनत जीव हैं। उनकी गिनती नहीं की जा सकती। चूँकि उन्हें जो भी ज्ञान होता है, वह उनकी इन्द्रियों के सहारे ही होता है। इसलिए इन्द्रियों की संख्या के अनुसार उन्हें पाँच भागों में बाँटा जाता है: (1) एक इन्द्रियवाले (2) दो इन्द्रियोंवाले (3) तीन इन्द्रियोंवाले (4) चार इन्द्रियोंवाले और (5) पाँच इन्द्रियोंवाले। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति, अर्थात पेड़-पौधों को सबसे कम विकसित जीव माना जाता है, क्योंकि इन्हें केवल एक ही स्पर्श का अनुभव करानेवाली

इन्द्रिय प्राप्त है, जिससे इन्हें आंशिक रूप से केवल स्पर्श का ज्ञान होता है। *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* में स्पष्ट कहा गया है:

वनस्पत्यन्तानाम् एकम्।[3]

अर्थ—वनस्पति तक, अर्थात् पृथ्वीकायिक (पृथ्वी की कायावाले सूक्ष्मतम परमाणुरूप जीव) जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति तक के जीवों में केवल एक स्पर्शेन्द्रिय होती है।

वनस्पति (पेड़-पौधे) चल-फिर नहीं सकते। इसलिए उन्हें 'स्थावर' जीव कहा जाता है। शेष सभी संसारी जीव चल-फिर सकते हैं। इसलिए उन्हें 'त्रस' कहा जाता है।

वनस्पति से ऊपर की श्रेणी में कीड़े-कीटाणु, पिपीलिका (चींटी), भौंरे और मनुष्य हैं जिनमें क्रमशः एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है, जैसा कि *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* में कहा गया है:

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनाम् एकैक वृद्धानि।[4]

अर्थ—कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्य आदि में क्रमशः एक-एक इन्द्रिय अधिक होती जाती है।

इस प्रकार कीड़े और कीटाणुओं को दो इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय (जिह्वा), जिनसे ये क्रमशः स्पर्श और स्वाद का अनुभव करते हैं। फिर चींटियों को तीन इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, और घ्राणेन्द्रिय (नाक), जिनसे ये क्रमशः स्पर्श, स्वाद और गन्ध का अनुभव करती हैं। फिर भौंरे आदि जीवों को चार इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय (आँख), जिनसे ये क्रमशः स्पर्श, रस (स्वाद), गन्ध और रूप-रंग का अनुभव करते हैं। अन्त में उच्च पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों को पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय (कान), जिनसे वे क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का अनुभव करते हैं। देव योनि के जीवों, नारकी जीवों और मनुष्यों को इन पाँचों इन्द्रियों के अतिरिक्त एक आन्तरिक इन्द्रिय भी प्राप्त होती है,

जिसे मन कहते हैं। इसके द्वारा वे विवेक-विचार कर सकते हैं। उन्हें 'संज्ञी' कहा जाता है। उनसे नीचे की श्रेणी के सभी जीव 'असंज्ञी' कहलाते हैं, क्योंकि उनमें मन का अभाव होता है। इसलिए उनमें विवेक-विचार करने की क्षमता नहीं होती।

जीव नित्य या अमर तत्त्व है। वह ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता और स्वपरभासी है। अर्थात् जीव ही ज्ञान प्राप्त करता है, कर्म करता है, सुख-दु:ख भोगता है और स्वयं प्रकाशमान है तथा दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। यद्यपि यह नित्य जीव शरीर, इन्द्रिय और मन आदि से भिन्न है, फिर भी संसारी अवस्था में इन सबों के प्रभाव से इसमें परिवर्तन होता रहता है।[5]

यद्यपि जीव अमूर्त है, इसकी कोई मूर्ति या आकार नहीं है, फिर भी संसारी अवस्था में यह आवागमन के चक्र में पड़कर जैसा भी शरीर धारण करता है, वैसा ही इसका आकार हो जाता है। जिस प्रकार जब कोई दीपक किसी छोटे या बड़े घर में रखा जाता है, तब घर के आकार के समान ही उस दीपक के प्रकाश का विस्तार भी हो जाता है। छोटे-बड़े जीवित शरीर के प्रत्येक भाग में चेतनता का अनुभव किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि समूचे शरीर में जीव का अस्तित्व है। इसीलिए जैन धर्म जीव को न अणु-रूप मानता है और न सर्वव्यापी ही। उसके अनुसार जीव मध्यम परिमाण वाला है। इसी अर्थ में अमूर्त जीव को जैन धर्म में अस्तिकाय (विस्तारयुक्त) माना गया है।

यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि जीव का विस्तार जड़ पदार्थों के विस्तार से भिन्न प्रकार का होता है। जिस स्थान में कोई एक जड़ पदार्थ (जैसे ईंट या पत्थर) रखा जाता है, ठीक उसी स्थान में उसी समय कोई दूसरा जड़ पदार्थ नहीं रखा जा सकता। परन्तु जहाँ एक जीव का निवास है, वहाँ दूसरे जीव का भी प्रवेश हो सकता है। जिस प्रकार एक ही कमरे को एक, दो या अधिक दीपक एक साथ प्रकाशित कर सकते हैं, उसी प्रकार दो या अधिक जीव एक ही साथ एक ही स्थान में रह सकते हैं।

जीव और अजीव के एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होने पर भी यह संसार इन्हीं दोनों की मिलावट के आधार पर चल रहा है। जब कोई जीव अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान कर लेता है, तब वह संसार के मोहक विषयों

से उदासीन हो आत्मलीन हो जाता है और आत्मानन्द में मग्न हो संसार से मुक्त हो जाता है।

अब हम जीव के बन्धन के कारण पर विचार करेंगे।

कर्म: बन्धन का मूल कारण

इस अध्याय के पहले खण्ड में हम देख चुके हैं कि जीव अपने मूल रूप में पूर्ण और अनन्त है। पर अपने अज्ञानवश वह जिस प्रकार के कर्मों को करता है, उनके भुगतान के लिए उसे उसी प्रकार का शरीर धारण करना पड़ता है और जिस प्रकार का वह शरीर धारण करता है, उसी प्रकार की सीमाओं और बाधाओं से उसके अनन्त गुण ढक जाते या प्रभावित हो जाते हैं। जिस प्रकार पूरी धरती को प्रकाशित करनेवाला सूर्य बादल या कुहासे के कारण दिखाई नहीं पड़ता, पर बादल या कुहासे के हटते ही अपने पूर्ण प्रकाश के साथ चमक उठता है, उसी प्रकार कर्मों से ढके हुए जीव के स्वाभाविक गुण कर्मों के नष्ट होते ही प्रकाशित हो उठते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि जीव के स्वरूप को ढक लेनेवाला या उसे प्रभावित करनेवाला शरीर क्यों और कैसे बनता है? शरीर पुद्गलों (जड़ तत्त्वों) की मिलावट से बनता है। पुद्गल का अर्थ है जिसका संयोग और विभाग हो सके, अर्थात् जिन्हें जोड़कर एक बड़ा आकार दिया जा सके या जिन्हें तोड़कर छोटा भी किया जा सके। पुद्गल के सबसे छोटे भाग को परमाणु कहते हैं, जिसका और विभाग नहीं हो सकता। विशेष प्रकार के शरीर के लिए विशेष प्रकार के पुद्गलों की आवश्यकता होती है। जीव ही अपनी विशेष प्रकार की विकारयुक्त प्रवृत्तियों और वासनाओं के अनुरूप विशेष प्रकार के कर्म-पुद्गलों (कर्माणुओं) को अपनी ओर आकृष्ट करता है। इसलिए जीव स्वयं ही अपने शरीर का निमित्त कारण है और जिन पुद्गलों से शरीर बनता है, वे उस शरीर के उपादान कारण हैं। शरीर से केवल स्थूल शरीर का ही अर्थ नहीं लेना चाहिए, बल्कि इससे इन्द्रिय, मन और प्राण का भी बोध होता है। ये सभी जीव के स्वाभाविक गुणों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीव की अपनी ही इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ, संस्कार और वासनाएँ उसके शरीर के निर्माण के मूल कारण हैं।

संसारी जीव किसी न किसी इच्छा या मनोभाव से ही कोई कर्म करता है। उस कर्म के कर लिए जाने के बाद भी जिस इच्छा या मनोभाव से वह कर्म किया गया था उसका अन्त नहीं हो जाता। वह इच्छा या मनोभाव विशेष प्रकार की वासना का रूप लेकर अपना विशेष फल उत्पन्न करता है। एक जीवन में जो कर्म किये जाते हैं, उनका फल किसी न किसी आगामी जीवन में अवश्य भोगना पड़ता है। इस प्रकार अपने किये हुए पुण्य और पाप कर्मों की प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार जीव को अनेक योनियों में जन्म लेकर सुख और दुःख भोगने पड़ते हैं। जिस प्रकार नीम की प्रकृति कड़वाहट है और गुड़ की प्रकृति मिठास, है, उसी प्रकार जीव के साथ बँधे कर्मों की प्रकृति के अनुसार जीव अनेक प्रकार के अच्छे या बुरे फलों को प्राप्त करता है। ये फल दो प्रकार के होते हैं: (1) जीव के स्वाभाविक गुणों का घात करनेवाले, अर्थात् उन्हें ढकने या बाधित करनेवाले और (2) जीव के स्वाभाविक गुणों का घात न कर, अर्थात् उन्हें बाधित न कर, उसके आगामी जीवन का स्वरूप निर्धारित करनेवाले। पहले को घातिया कर्म और दूसरे को अघातिया कर्म कहते हैं। प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। इस प्रकार कर्मों की प्रकृति या स्वभाव के अनुसार उनके आठ भेद कहे जाते हैं। इन आठों का उल्लेख *जैनधर्मामृत* में इस प्रकार किया गया है:

> ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ प्रकृतिबन्ध के (अपने स्वभाव के अनुसार बन्धन में डालनेवाले कर्मों के) भेद हैं, इन्हें कर्मों की मूल प्रकृतियाँ जानना चाहिए।[6]

इन आठ प्रकार के बन्धनकारी कर्मों में प्रथम चार घातिया कर्म के भेद हैं और शेष चार अघातिया कर्म के भेद हैं। इनके विशेष प्रकार के प्रभावों को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है:

घातिया कर्म के भेद:

1. ज्ञानावरणीय कर्म: जो कर्म जीव के यथार्थ ज्ञान को ढक लेते या प्रभावित करते हैं, उन्हें ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

2. दर्शनावरणीय कर्म: जो कर्म देव, गुरु और शास्त्र (सद्ग्रन्थ) के प्रति जीव के उचित श्रद्धा-विश्वास (दर्शन) को ढक लेते या प्रभावित करते हैं, उन्हें दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।
3. वेदनीय कर्म: जो कर्म जीव के स्वाभाविक अनन्त सुख को ढककर या प्रभावित कर उसमें सांसारिक दु:ख-सुख उत्पन्न करते हैं, उन्हें वेदनीय कर्म कहते हैं।
4. मोहनीय कर्म: जो कर्म उचित श्रद्धा-विश्वास और उचित चारित्र (मोक्ष की ओर ले जानेवाले विचारों और आचरणों) को ढककर या प्रभावित कर भ्रम और मोह उत्पन्न करते हैं। इस कारण जीव धन-सम्पत्ति, परिवार आदि के मोह में पड़कर सांसारिक जाल में उलझ जाता है। सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों के मोह में उलझा जीव सदा विषय-सुख की आस में ही दौड़ता रहता है और अपने वास्तविक लक्ष्य से विमुख हो जाता है। इसलिए मोहनीय कर्म को जीव का सबसे बड़ा शत्रु और आवागमन के चक्र का मूल कारण माना जाता है।

अघातिया कर्म के भेद:

1. आयु कर्म: जो कर्म जीव की आयु, अर्थात् अगले जीवन की अवधि, निश्चित करते हैं, उन्हें आयु कर्म कहते हैं।
2. नाम कर्म: जो कर्म इन बातों को निश्चित करते हैं कि जीव किस योनि में किस प्रकार के सुन्दर या कुरूप शरीर के साथ तथा किस प्रकार के गुणों और शक्तियों के साथ जन्म लेगा, उन्हें नाम कर्म कहते हैं।
3. गोत्र कर्म: जो कर्म जीव के अगले जन्म की परिस्थितियों और वातावरण को निश्चित करते हैं और यह निर्धारित करते हैं कि वह किस देश, समाज, कुल और परिवार में उत्पन्न होगा, उन्हें गोत्र कर्म कहते हैं।
4. अन्तराय कर्म: जो कर्म जीव के सत्कर्म करने की इच्छा में रुकावट पैदा करते या विघ्न डालते हैं, उन्हें अन्तराय कर्म कहते हैं। अन्तराय कर्मों के ही कारण जीव चाहता हुआ भी अनुकूल साधनों और परिस्थितियों के बावजूद उचित मार्ग पर नहीं चल पाता।

चूँकि अघातिया कर्मों का सम्बन्ध केवल अगले एक जीवन से ही होता है, इसलिए वे उस विशेष जीवन-काल में अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। कुछ अन्य भारतीय दार्शनिकों या विचारकों के अनुसार ऐसे कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि जिस योनि में हम जन्म लेते हैं, जिस प्रकार का शरीर हमें मिलता है, जिस प्रकार के समाज या परिस्थितियों में हमें रहना होता है, जिस प्रकार की हमारी रुझान या प्रवृत्ति होती है और जितने समय तक हम जीवित रहते हैं—ये सभी बातें हमारे पूर्व कर्मों द्वारा ही निर्धारित होती हैं। इसलिए इन्हें न अकारण या आकस्मिक समझना चाहिए और न इनके लिए किसी दूसरे को दोषी ठहराना चाहिए। हम अपने ही किये कर्मों के कारण बन्धन में पड़ते हैं। इसलिए हम अपने ही पुरुषार्थ द्वारा अपने को मुक्त कर सकते हैं।

हम अपने ही मन के विकारों या दुर्भावनाओं के प्रभाव में आकर अनेकों प्रकार के कर्म करते हैं और ये कर्म हमें सांसारिक बन्धनों में बाँध देते हैं। जैन धर्म के अनुसार हमारे चार प्रमुख विकार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हें जैन धर्म में कषाय कहा जाता है। यह बताते हुए कि कषाय किसे कहते हैं, ये क्या करते हैं और ये कितने प्रकार के हैं, *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> जो मोक्ष के कारणभूत चारित्र धारण करने के परिणाम (विकास या परिवर्तन) न होने देवें, और आत्मा के स्वरूप को कषें, दुःख देवें, उन्हें कषाय कहते हैं: वे कषाय मूल में चार प्रकार के हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।[7]

जीव जब भी कषाय से युक्त होकर अपने तन, मन या वचन से कोई कर्म करता है, तब उसमें एक स्पन्दन (हलन-चलन) होता है, जिसमें एक अजीब आकर्षण शक्ति होती है जो उस कर्म के अनुसार पुद्गल-परमाणुओं को (जो सर्वत्र संसार में भरे हुए हैं) अपनी ओर खींच लेती है। जैसे गीली (चिपचिपी) दीवाल पर उड़कर आयी हुई धूलि उससे चिपक जाती है, वैसे ही कषाय-युक्त जीव से आनेवाले कर्माणु बँध जाते हैं। पर जैसे सूखी दीवाल पर उड़कर आनेवाली धूलि उस दीवाल पर ठहर नहीं पाती, उससे लगकर झड़ जाती है,

उसी प्रकार कषायरहित जीव के तन, मन और वचन से किये गये कर्म जीव से नहीं बँधते। दूसरे शब्दों में, कषायरहित जीव के कर्म बन्धनकारी नहीं होते।

जीव के कषाय (दूषित मनोभाव) के कारण ही पुद्गल-परमाणुओं (कर्माणुओं) का जीव की ओर खिंचाव होता है। इनके इस खिंचाव या आकर्षण को जैन धर्म में 'आस्रव' कहा जाता है। जीव का दूषित मनोभावों से युक्त होना ही कर्माणुओं के आकर्षण का कारण है। इसलिए इसे 'भावास्रव' कहते हैं और कर्माणुओं के वास्तव में जीव से चिपक जाने को 'द्रव्यास्रव' कहते हैं।

जीव के शुभ या अशुभ मनोभावों के अनुसार ही जीव में शुभ या अशुभ कर्माणुओं का प्रवेश होता है। शुभ और अशुभ मनोभावों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार ही पुण्य और पाप के आस्रव में भी विशेषता होती है। इस प्रकार कषाय (मनोविकार) ही जीव के बन्धन के कारण हैं। बन्धन की परिभाषा देते हुए *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* में कहा गया है:

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।[8]

अर्थ—कषाय से युक्त होने से जीव अपने कर्मों के उपयुक्त पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बन्धन है।

जैन धर्म में बन्धन के दो भेद किये जाते हैं: (1) भाव बन्ध और (2) द्रव्य बन्ध। चूँकि कषाय (मन के विकारों) के कारण ही कर्म-पुद्गल जीव की ओर आकृष्ट होते हैं, इसलिए मनोविकारों के प्रकट होने को ही 'भाव बन्ध' कहते हैं और इसके फलस्वरूप कर्म-पुद्गलों के जीव के साथ चिपक जाने को यानी बँध जाने को द्रव्य बन्ध कहते हैं।

विभिन्न कषायों से ग्रसित जीव की मन, वचन और काय की शुभ और अशुभ क्रियाएँ जीव को छः प्रकार के सूक्ष्म रंगों से रँग देती हैं, जिन्हें जैन धर्म में 'लेश्या' कहा जाता है। लेश्याओं के छः रंग बताये गये हैं—1. कृष्णा (काला) 2. नील (नीला) 3. कापोत (भूरा) 4. पीत (सोने के समान पीला) 5. पद्म (कमल के रंग का) और 6. श्वेत (उजला) इनमें पहली तीन लेश्याएँ अशुभ और शेष तीन लेश्याएँ शुभ के सूचक हैं। सभी संसारी जीवों में से लेश्याएँ

न्यूनाधिक अंश में पायी जाती हैं, पर केवल वे ही इन्हें देख सकते हैं जिन्हें आन्तरिक दृष्टि प्राप्त है। साधारण संसारी जीवों को ये लेश्याएँ दिखाई नहीं देतीं। मुक्त जीवों को लेश्या नहीं होती, क्योंकि उनमें कषायों का अन्त हो चुका होता है।

कुछ लोग पाप कर्मों से दूर रहने और अधिक से अधिक पुण्य कर्म करने पर ज़ोर देते हैं। पाप कर्मों से पुण्य कर्म अवश्य ही अच्छे हैं, पर केवल पुण्य कर्मों के करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यदि पाप कर्मों से जीव अशुभ लेश्याओं से रंजित होता है तो पुण्य कर्मों से शुभ लेश्याओं से रंजित होता है। इस प्रकार पाप और पुण्य—दोनों जीव को बन्धन में फँसाये ही रखते हैं। अन्तर केवल यह है कि पुण्य कर्म सुखदायी भोग-विषयों से युक्त मनुष्य योनि या देवयोनि में जन्म लेने का कारण बनते हैं, जबकि पाप कर्म दु:खों से भरे नरक या पशु-पक्षियों की योनि में जन्म लेने का कारण बनते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पाप कर्मों द्वारा जीव लोहे की सख़्त बेड़ियों से बाँधा जाता है और पुण्य कर्मों द्वारा वह सुन्दर दीखनेवाली सोने की बेड़ियों से बाँधा जाता है। पर इनमें से किसी भी कर्म से जीव को मुक्ति नहीं मिलती। वह संसार का क़ैदी ही बना रहता है और आवागमन के चक्र से छुटकारा नहीं पाता। हुकमचन्द भारिल्ल ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है:

> सामान्यजन पुण्य को भला और पाप को बुरा समझ लेते हैं, क्योंकि पुण्य से मनुष्य और देव गति की प्राप्ति होती है और पाप से नरक व तिर्यंच गति की।
>
> उनका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि चारों गतियाँ संसार हैं और संसार दु:खरूप ही है। पुण्य और पाप दोनों संसार के ही कारण हैं। संसार में प्रवेश करानेवाले पुण्य-पाप भले कैसे हो सकते हैं? पुण्य-पाप बंधरूप हैं और आत्मा का हित अबंध (मोक्ष) दशा प्राप्त करने में है। यद्यपि पाप की अपेक्षा पुण्य को भला कहा गया है, किन्तु मुक्ति के मार्ग में उसका स्थान अभावात्मक ही है।

> शुभ भावों से पुण्यास्रव और पुण्यबंध होता है तथा अशुभ भावों से पापास्रव और पापबंध होता है। बंध चाहे पुण्य का हो या पाप का, वह है तो आखिर बंध ही। उससे आत्मा बँधती ही है, मुक्त तो नहीं होती। पुण्य को सोने की बेड़ी एवं पाप को लोहे की बेड़ी बताया है।[1]

बन्धन की अवस्था में जीव और पुद्गल एक-दूसरे के साथ उसी प्रकार एकमेक (घुल-मिलकर एक) हो जाते हैं जिस प्रकार दूध और पानी आपस में मिलकर एकमेक हो जाते हैं; अथवा जैसे तप्त लाल अंगारे में कोयला और आग या तप्त लाल लोहे में लोहा और आग—दोनों एकमेक हो जाते हैं। पानी से मिले दूध की किसी भी बूँद में दूध और पानी मिले हुए ही रहते हैं। इसी तरह तप्त अंगारे या तप्त लोहे के प्रत्येक भाग में क्रमशः कोयला और आग तथा लोहा और आग मिले हुए ही पाये जाते हैं। इसी प्रकार सजीव शरीर के प्रत्येक भाग में पुद्गल और चैतन्य (जो जीव का लक्षण है) मिले हुए पाये जाते हैं।

जब उचित विधि से पानी से मिले दूध को औंटा जाता है, तभी दूध को पानी से अलग किया जा सकता है। उसी तरह जब अंगारे और तप्त लोहे को ठंढा किया जाता है, तभी कोयला और लोहा आग से अलग होते हैं। उसी प्रकार जब उचित विधि से जीव अपने को कर्मों से अलग कर लेता या कर्मों को मिटा देता है, तब वह कर्मों से छुटकारा पाकर मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

अब हम मोक्ष-प्राप्ति की प्रक्रिया और साधन पर विचार करेंगे।

मोक्ष

बन्धन से मुक्त होने की प्रक्रिया

हम देख चुके हैं कि जीव का पुद्गलों से संयोग होना ही बन्धन है। इसलिए जीव का पुद्गलों से वियोग होना ही मोक्ष है। जीव का पुद्गलों से वियोग तभी हो सकता है जब जीव में नये पुद्गलों का प्रवेश (आस्रव) बन्द हो जाये और जीव में जो पुद्गल पहले से प्रविष्ट हैं, वे झड़ जायें या नष्ट हो जायें। जैन धर्म में पहले को 'संवर' और दूसरे को 'निर्जरा' कहते हैं।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में संवर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है:

आस्रवनिरोध: संवर: ।[10]

अर्थ—कर्मों के आस्रव का निरोध करना (उसे रोकना) संवर है।

संवर के दो भेद कहे गये हैं—भाव संवर और द्रव्य संवर। जीव के जिन आन्तरिक भावों से कर्मों का आस्रव रुक जाता है, उन भावों को ही भाव संवर कहते हैं तथा इन भावों के फलस्वरूप नये कर्म-पुद्गलों का जीव के साथ न बँधना ही द्रव्य संवर कहलाता है।

कर्म-परमाणु जीव की ओर आकृष्ट न हों और जीव से न बँधें, इसके लिए जिन उपायों को अपनाने की आवश्यकता है, उन्हें संवर का कारण कहा जाता है। वे छ: प्रकार के बताये गये हैं: (1) गुप्ति—मन, वचन और काय की चंचलता को रोकना। कर्मों के आस्रव को रोकने के लिए यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। पर मन-इन्द्रिय की चंचलता को एकाएक रोक पाना प्राय: असम्भव है। इसलिए निम्नलिखित सहायक साधन बतलाये गये हैं: (2) समिति—चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने आदि में इस प्रकार सावधानी बरतना कि जीव-हिंसा न होने पावे। (3) धर्म—विषय-विकारों से बचे रहने के लिए सत्पुरुषों द्वारा बताये धर्माचरण को अपनाना (विशेष विस्तार के लिए अध्याय 3: जैन धर्म का स्वरूप देखें)। (4) अनुप्रेक्षा—संसार, देह और भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के लिए इन सबकी अनित्यता आदि की भावना करना (विशेष विस्तार के लिए अध्याय 6: अनुप्रेक्षा देखें)। (5) परीषहजय—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि से उत्पन्न कष्टों या कठिनाइयों को सहन करने की क्षमता प्राप्त करना और (6) चारित्र—सत्पुरुषों के बताये मार्ग पर चलते हुए सदाचार के नियमों का पालन करना और आन्तरिक साधना में लगना (विशेष विस्तार के लिए इसी अध्याय में आगे सम्यक् चारित्र देखें)

संवर के इन उपायों का उल्लेख *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र* में इन शब्दों में किया गया है:

स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रै: ॥[11]

अर्थ—वह (संवर) गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।

यद्यपि संवर से नये कर्मों का आना रुक जाता है, नये कर्म जीव में प्रवेश नहीं कर पाते, फिर भी पुराने कर्म जीव में संचित ही रहते हैं। जब तक इनसे जीव का पूरी तरह छुटकारा नहीं हो जाता, तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन संचित कर्मों के विनाश के लिए ही साधकों को कठिन साधना करने की आवश्यकता है। जीव के कर्मों के नष्ट हो जाने या झड़ जाने को ही निर्जरा कहते हैं। भाव संवर और द्रव्य संवर की तरह निर्जरा के भी दो भेद हैं—भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। जीव के जिन शुद्ध भावों के होने से कर्म झड़ते या नष्ट होते हैं उन भावों का होना ही भाव निर्जरा है और कर्मों का वास्तव में झड़ जाना या नष्ट हो जाना द्रव्य निर्जरा है।

निर्जरा दो प्रकार की होती है—सविपाक (विपाकजा) निर्जरा और अविपाक (अविपाकजा) निर्जरा। जब जीव के कर्मों का यथासमय भुगतान हो जाता है, तब अपना फल दे चुके कर्म अपने-आप झड़ जाते हैं। इसे सविपाक या विपाकजा निर्जरा कहते हैं। पर जब जीव अपनी ध्यान आदि साधना द्वारा अपने कर्मों को उनके फल देने के पूर्व ही जला देता या नष्ट कर देता है, तब उसे अविपाक या अविपाकजा निर्जरा कहते हैं। यह उसी तरह होता है, जैसे आम आदि फल यथासमय अपने-आप पकते हैं या अपने-आप पकने के पूर्व ही उन्हें उचित उपाय से पका लिया जाता है। संसारी जीवों का कर्मफल सविपाक (विपाकजा) होता है, पर सच्चे साधक अपने संचित कर्मों को उनके फल देने के पूर्व ही अपनी साधना द्वारा नष्ट कर देते हैं। इसलिए अविपाक निर्जरा केवल सच्चे साधकों या सन्त-महात्माओं को ही होती है।

जैनधर्मामृत में निर्जरा और उसके इन दो भेदों का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है:

> उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा।
> आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा॥
>
> अर्थ—संचित कर्मके दूर करने को निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा दो प्रकार की है—एक विपाकजा निर्जरा और दूसरी अविपाकजा निर्जरा।[12]

जैन धर्म में तप को निर्जरा का उपाय बताया गया है, जैसा कि *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* में कहा गया है:

तपसा निर्जरा च।[13]

अर्थ—तप से निर्जरा होती है और साथ ही संवर भी।

जैन धर्म के अनुसार तप का वास्तविक अभिप्राय इच्छा को रोकना है। इसे स्पष्ट करते हुए *धवला पुस्तक* में कहा गया है:

इच्छानिरोधस्तपः।[14]

अर्थ—इच्छाओं के निरोध का नाम तप है।

इस प्रकार जैन धर्म के अनुसार तप का अर्थ शरीर को अनावश्यक कष्ट देना नहीं है, बल्कि उचित संयम, धर्माचरण और ध्यान की अन्तर्मुखी साधना द्वारा मन की इच्छाओं पर विजय प्राप्त करना है। यह बतलाते हुए कि तप का वास्तविक उद्देश्य इच्छा-निरोध, अर्थात् इच्छाओं को रोकना या उन पर विजय प्राप्त करना है और इसका सर्वोत्तम उपाय शुक्ल ध्यान है, जैनधर्मामृत में कहा गया है:

> जैन धर्म में शारीरिक तपस्या को वहीं तक स्थान या महत्त्व दिया गया है, जहाँ तक कि वह मानसिक तपस्या अर्थात् इच्छा-निरोध के लिए सहायक है। यदि शारीरिक तपस्या करते हुए भी मनुष्य मन की इच्छाओं का निरोध नहीं कर पाता है, तो उस तप को जैन धर्म में कोई स्थान नहीं दिया गया है, बल्कि उसे निरर्थक कहा गया है।...इसलिए बाह्य तपों को यथाशक्ति आवश्यकतानुसार करते हुए अन्तरंग तपों के बढ़ाने के लिए जैनाचार्यों ने उपदेश दिया है। मानसिक (अन्तरंग या अन्तर्मुखी) तपों में भी सर्वोत्तम तप जो शुक्ल ध्यान है, वस्तुतः वही कर्म-निर्जरा का प्रधान कारण है।[15]

यह समझने के बाद कि जीव संवर और निर्जरा की प्रक्रियाओं द्वारा कर्म-बन्धन से मुक्त होता है, हमें यह जानना आवश्यक है कि संवर और निर्जरा की प्रक्रियाओं को क्रियाशील बनाने और उन्हें शीघ्रातिशीघ्र फलीभूत

बनाकर बन्धन-मुक्त होने का कौन-सा उपाय है। दूसरे शब्दों में, हम किस साधना को अपनाकर, अर्थात् किस मार्ग पर चलकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं? अब हम इसी प्रश्न के उत्तर पर विचार करेंगे।

मोक्ष-मार्गः रत्नत्रय

जब जीव अपने अज्ञानवश राग, द्वेष, मोह, लोभ, अहंकार आदि मनो-विकारों का शिकार होकर अपने निर्मल स्वरूप को भुला देता है तब उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। वह नहीं समझ पाता कि उसे अपने वास्तविक हित के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इस कारण वह उचित मार्ग से भटक जाता है। इसके फलस्वरूप वह संसार के आवागमन के चक्र में पड़कर दुःख भोगता रहता है। इससे छुटकारा पाने, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए, जीव को अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना अत्यन्त आवश्यक है। अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने और आत्म-स्वरूप में स्थिर होने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र को दृढ़ता से धारण करने की आवश्यकता होती है। इन्हें ही मोक्ष-मार्ग कहा जाता है। *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* के प्रथम सूत्र में ही कहा गया है:

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।[16]

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का मेल मोक्ष-मार्ग है।

मोक्ष-मार्ग का अर्थ है जीव की विशुद्धि का मार्ग, जीव का अपने स्वरूप में स्थापित होने का मार्ग, जीव के अज्ञान और दुःखों का सदा के लिए अन्त करने का मार्ग और जीव का अपने अनन्त गुणों से युक्त हो सदा के लिए सुख-शान्ति प्राप्त करने का मार्ग।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही 'रत्नत्रय' कहते हैं, क्योंकि ये तीनों रत्न के समान अत्यन्त ही दुर्लभ और अनमोल हैं। इन्हें दुर्लभ इसलिए कहा गया है, क्योंकि एक तो परमार्थ या आध्यात्मिकता में रुचि रखनेवाले, अर्थात् मोक्षाभिलाषी जीव ही बहुत कम पाये जाते हैं और दूसरे, यदि कुछ मोक्षाभिलाषी जीव हों भी तो मोक्ष-मार्ग की दुर्गमता को देख इस पर अन्त तक चलते रहने का

साहस कोई विरला ही कर पाता है। इन्हें रत्न की तरह अनमोल इसलिए कहा गया है, क्योंकि मोक्ष-मार्ग उस लक्ष्य की प्राप्ति कराता है जिसका कोई मोल है ही नहीं। यह तो जीव को परमपद की प्राप्ति करा देता है। इस मोक्ष-मार्ग पर चलकर मनुष्य अपने जीवन को धन्य बना लेता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र—ये अलग-अलग मोक्ष के तीन मार्ग नहीं हैं, बल्कि ये एक ही मोक्ष-मार्ग के तीन आवश्यक अंग हैं; अर्थात् मोक्ष-मार्ग में इन तीनों का परस्पर समन्वय या मेल है। इनमें से कोई भी एक साधन अपने-आप में पर्याप्त नहीं है। न केवल दर्शन या विश्वास मात्र से, न कोरे ज्ञान से और न विश्वास और ज्ञान से रहित दिशाहीन चारित्र (आचरण) से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए तीनों में यथोचित तालमेल होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, यदि कोई मनुष्य किसी गन्तव्य स्थान पर जाना चाहता है तो उसका मस्तिष्क (दिमाग़) लक्ष्य को निर्धारित करता है, आँखें उस लक्ष्य तक पहुँचने की राह दिखाती हैं और पैर उस तक चलकर जाते हैं। यदि लक्ष्य ही निश्चित न हो या लक्ष्य तक की राह देखने का कोई साधन न हो या वहाँ पहुँचानेवाले पैर साथ न दें तो लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में परस्पर तालमेल होना आवश्यक है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति बीमार हो तो उसे अपने इलाज के लिए किसी योग्य डॉक्टर या वैद्य में विश्वास होना चाहिए, उससे उचित दवा की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए और फिर बतायी गयी दवा का संयम और नियम के साथ सेवन करना चाहिए। तभी उस व्यक्ति की बीमारी दूर हो सकती है। ठीक उसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनों में से कोई एक अपने-आप में पर्याप्त नहीं है, बल्कि इन तीनों को ताल-मेल के साथ ग्रहण करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अब हम इन तीनों पर विचार करेंगे।

1. सम्यग्दर्शन

जैन धर्म में 'दर्शन' शब्द मुख्यतः श्रद्धा और विश्वास का सूचक माना जाता है। जब जीव में अपने विवेक से या किसी सद्ग्रन्थ या सद्गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान या तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, तब वह इसकी प्राप्ति के लिए देव, शास्त्र और गुरु में सच्ची श्रद्धा और दृढ़ विश्वास करने लगता है। उसके इस श्रद्धा-विश्वास को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।

यह श्रद्धा-विश्वास अन्ध-विश्वास से बिल्कुल भिन्न है; क्योंकि यह विश्वास सम्यक् (सच्चा या यथार्थ) है, जो प्रारम्भिक सोच-समझ और आवश्यक जाँच-पड़ताल के बाद अपने निजी अनुभव के आधार पर किया जाता है।

अनेक जैनाचार्यों ने अपने-अपने विशेष अभिप्राय या दृष्टिकोण से इसकी अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं, पर इन परिभाषाओं के बीच वस्तुतः कोई मौलिक अन्तर या मतभेद नहीं है। मुख्य रूप से सम्यग्दर्शन की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी गयी हैं:

1. सच्चे देव-शास्त्र और गुरु के प्रति श्रद्धा-विश्वास रखना सम्यग्दर्शन है।
2. जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थों में श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।
3. स्वपर-भेदविज्ञान ही सम्यग्दर्शन है।
4. आत्मा के सच्चे स्वरूप में श्रद्धा-विश्वास रखना ही सम्यग्दर्शन है।

पहली परिभाषा देते हुए *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* में कहा गया है:

> सत्यार्थ अथवा मोक्ष के कारणीभूत देव, शास्त्र और गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा जाता है।[17]

यही परिभाषा *जैनधर्मामृत* में भी दी गयी है।[18]

दूसरी परिभाषा देते हुए *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* में कहा गया है:

> तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्[19]

अर्थ—जीवादि तत्त्वार्थों का सच्चा श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

तीसरी परिभाषा का उल्लेख करते हुए *मोक्ष-मार्ग प्रकाशक* में कहा गया है:

> आत्मा का परद्रव्य से भिन्न अवलोकन वही नियम से सम्यग्दर्शन है।[20]

चौथी परिभाषा को *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में इस प्रकार व्यक्त किया गया है:

> दर्शनमात्मविनिश्चितिः।[21]

अर्थ—अपनी आत्मा का ही यथार्थ रूप से निश्चय करना सम्यग्दर्शन है।

यद्यपि ऊपर से देखने पर ये परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं, पर ध्यानपूर्वक विचार करने पर हम पाते हैं कि इन सबका अभिप्राय अलग-अलग

नहीं है। सबका अन्तिम लक्ष्य आत्म तत्त्व का ही साक्षात्कार करना है। केवल भिन्न-भिन्न प्रयोजन को मुख्य रखने के कारण विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। उदाहरण के लिए, अरहन्तादि देव, शास्त्र और गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास सभी तत्त्वों के श्रद्धान और ज्ञान का कारण है। फिर सद्शास्त्र के अन्तर्गत निश्चित रूप से सप्त तत्त्वों का श्रद्धान आ जाता है और सप्त तत्त्वों का ज्ञान होने पर देव शास्त्र और गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास होना आवश्यक ही है। यह भी स्पष्ट है कि सप्त तत्त्वों के अन्तर्गत आत्म तत्त्व मुख्य रूप से ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार स्वपर-भेद विज्ञान में भी मुख्य प्रयोजन आत्मा को ही अजीवादि अन्य तत्त्वों से भिन्न रूप में जानना है। इस प्रकार प्रत्येक परिभाषा में किसी एक को मुख्य रूप से लेने पर भी गौण रूप से अन्य सभी उसके अन्दर आ जाते हैं। अत: इन सभी परिभाषाओं का अन्तिम लक्ष्य आत्म तत्त्व का ही श्रद्धान करना है, जिसकी शुरुआत देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान से होती है।

प्रथम परिभाषा में आये देव, शास्त्र और गुरु शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना चाहिए, क्योंकि मोक्ष-मार्ग पर क़दम बढ़ाते समय इनकी विशेष आवश्यकता होती है। संक्षेप में, मोक्ष तत्त्व को प्राप्त आत्मा ही देव कहे जाते हैं तथा संवर-निर्जरा द्वारा सभी कर्मों से रहित निर्मल आत्मा को ही गुरु कहते हैं, जो आप्त (प्रामाणिक या यथार्थ ज्ञान से युक्त) और सच्चे हितोपदेशी होते हैं। ऐसे देव और गुरु की उपदेशयुक्त वाणी ही शास्त्र है।

अरहन्त देव या सच्चे गुरुदेव को ही 'आप्त' कहते हैं। 'आप्त' का अर्थ बतलाते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> जो राग-द्वेषादि दोषों से रहित वीतराग हो, सर्वज्ञ हो, आगम का ईश अर्थात् हितोपदेशी हो, वही नियम से आप्त अर्थात् सच्चा देव हो सकता है। अन्यथा—इन तीनों गुणों में से किसी एक के बिना आप्तपना सम्भव नहीं है।[22]

उपर्युक्त स्वरूपवाले देव, शास्त्र और गुरु में दृढ़ श्रद्धा और विश्वास होने को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के प्रसंग में नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> जो आत्मशुद्धि करने की ओर अपनी रुचि रखता है और तत्त्व के स्वरूप को भली-भाँति समझता है, इस बात पर कभी आशङ्का नहीं कर सकता कि आत्मा इन सब सांसारिक दु:खों से अवश्य छूट सकती है, तथा इनसे छूटने का उपाय सम्यक्दर्शन ज्ञान व चारित्र है, वह यह भी जानता है कि तत्त्व का सच्चा स्वरूप नि:स्वार्थ और निष्पक्ष वीतराग व सर्वज्ञदेव ही ठीक-ठीक बता सकते हैं, न कि रागी द्वेषी असर्वज्ञ। ऐसी श्रद्धा को नि:शक्ति अङ्ग कहते हैं।[23]

ऐसी निस्सन्देह श्रद्धा और दृढ़ विश्वास को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।

यही सच्ची श्रद्धा और दृढ़ विश्वास साधक को सदा लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता रहता है, जिसके सहारे वह मोक्ष मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का साहस के साथ सामना करता हुआ अन्त में उन्हें पार कर लेता है। जिनके पास श्रद्धा-विश्वासरूपी दुर्लभ रत्न नहीं है या जिनका विश्वास कमज़ोर है, वे इच्छा रहते हुए भी परमार्थ के मार्ग में उन्नति नहीं कर पाते। उनकी अवस्था उन दुर्बल पंखोंवाले पक्षियों के समान है जो आकाश में ऊँची उड़ान भरना तो चाहते हैं, पर सच्ची श्रद्धा और विश्वासरूपी पंखों के न होने या कमज़ोर होने के कारण साधना की ऊँची उड़ान नहीं भर सकते। इसी कारण मोक्ष की प्राप्ति करने में वे विफल रहते हैं। पर दृढ़ श्रद्धा और विश्वासवाला साधक जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक श्रद्धा-विश्वासरूपी दीपक को कठिनाइयों की आँधी में सँभाल कर रखता है और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

सम्यग्दर्शन से युक्त व्यक्ति को 'सम्यग्दृष्टि' कहा जाता है। सांसारिक लोग बाहरी सांसारिक वस्तुओं की ओर दौड़ते रहते हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि आन्तरिक ज्ञान और आनन्द को अपना लक्ष्य बनाता है। वह बाहर से भोगी दीखता हुआ भी अन्तर से रागरहित योगी बना रहता है। उसके सम्बन्ध में गणेशप्रसाद वर्णी कहते हैं:

> *सम्यग्दृष्टि को आत्मा और अनात्मा का भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है। वह सकल बाह्य पदार्थों को हेय (त्यागने योग्य) जानने लगता है।*

पर (आत्मा से भिन्न) पदार्थों से उसकी मूर्छा (मोह या आसक्ति) बिलकुल हट जाती है। ...सम्यग्दृष्टि में विवेक है, वह भोगों से उदास रहता है—उनमें सुख नहीं मानता।[24]

मोक्ष-मार्ग में सम्यग्दर्शन का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। *जैनधर्मामृत* में इसकी प्राथमिकता दिखलाते हुए कहा गया है:

ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की प्रधान रूप से उपासना की जाती है, क्योंकि जिनदेव ने उस सम्यग्दर्शन को मोक्ष मार्ग के विषय में 'कर्णधार' अर्थात् पतवार या खेवटिया कहा है।

सम्यक्त्वके अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल-प्राप्ति नहीं हो सकती है, जैसे कि बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति आदि असम्भव है।

भावार्थ: सम्यग्दर्शन रत्नत्रयरूप धर्म का मूल है। इसकी महिमा अनिर्वचनीय है। इसको प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीव उत्तरोत्तर आत्म-विकास करता हुआ सभी सांसारिक अभ्युदय सुखों को पाकर अन्त में परम निःश्रेयसरूप मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।[25]

हुकमचन्द भारिल्ल ने भी ऐसा ही भाव प्रकट किया है। वे कहते हैं:

मुक्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मुक्ति-महल की प्रथम सीढ़ी है, इसके बिना ज्ञान और चारित्र का सम्यक् होना सम्भव नहीं है। ...सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है, जो इससे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट ही है, उसको मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।[26]

इस प्रकार मोक्ष-मार्ग पर क़दम रखने और निरन्तर आगे बढ़ते हुए मोक्ष की प्राप्ति करने में सम्यग्दर्शन अत्यन्त ही सहायक सिद्ध होता है।

2. सम्यग्ज्ञान

ज्ञान की शुरुआत दर्शन से ही होती है। सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन की विभिन्न परिभाषाओं का कुछ प्रभाव

सम्यग्ज्ञान की परिभाषा पर भी देखा जाता है। पर सम्यग्ज्ञान के सम्बन्ध में जैनाचार्यों के बीच मुख्य रूप से केवल दो ही प्रकार की विचारधारा पायी जाती है।

पहली विचारधारा के अनुसार ज्ञान वास्तव में दर्शन का ही विकसित रूप है। दर्शन, अर्थात् श्रद्धा-विश्वास के लिए किसी भी व्यक्ति, वस्तु या तत्त्व की केवल सामान्य जानकारी ही पर्याप्त होती है। पर ज्ञान के लिए किसी व्यक्ति, वस्तु या तत्त्व के विशेष गुणों की व्यापक और गहरी जानकारी की आवश्यकता होती है। इस प्रकार दर्शन प्रारम्भिक अवस्था का अनुभव है और ज्ञान उसी का परिपक्व स्वरूप है।

इस विचारधारा को प्रस्तुत करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र अपने *द्रव्यसंग्रह* में कहते हैं:

> गहराई में उतरे बिना वस्तुओं के सामान्य गुणों के बारे में जो ज्ञान होता है, वह 'दर्शन' है और वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं के बारे में जो सूक्ष्म ज्ञान होता है, वह 'ज्ञान' है।[27]

इसी प्रकार का विचार प्रकट करते हुए आचार्य हेमचन्द्र भी अपनी *प्रमाण-मीमांसा* में कहते हैं:

> दर्शन ही ज्ञान में बदल जाता है। ...'ज्ञान' शब्द का अर्थ यह है कि इसमें वस्तु के विशिष्ट गुणों के बारे में जानकारी मिलती है। वे दर्शन की परिभाषा करते हैं: 'वस्तु की ऐसी जानकारी जिसमें उसके विशिष्ट गुणों का निर्धारण नहीं होता।[28]

दूसरी विचारधारा के अनुसार आत्मा के अन्तर्मुखी ज्ञान को, जो श्रद्धा-विश्वास का आधार बनता है, 'दर्शन' कहते हैं और आत्मा से भिन्न सांसारिक वस्तुओं के बहिर्मुखी ज्ञान को 'ज्ञान' कहते हैं।

आचार्य वीरसेन ने *षट्खण्डागम* पर अपनी *धवला* नामक टीका में इस दूसरी विचारधारा को प्रस्तुत किया है। उन्होंने "बाह्य पदार्थों के जातिगत और विशिष्ट गुणों के बोध को ज्ञान कहा है। जब आत्मन् अपने भीतर देखता है,

तब वह स्वयं को जानता है, और इसे उन्होंने दर्शन कहा है। अत: दर्शन को अन्तर्मुख माना है और ज्ञान को बहिर्मुख।"[29]

नथमल टाटिया भी इसी विचार का समर्थन करते हुए कहते हैं:

> एक ही चेतना उद्देश्य-भेद के अनुसार दर्शन भी है और ज्ञान भी। जब यह स्वयं को समझने में प्रयत्नशील रहती है तो इसे दर्शन कहते हैं और बाह्य जगत् को समझने में प्रयत्नशील रहती है तो इसे ज्ञान कहते हैं।[30]

इन दोनों विचारधाराओं में जितना अन्तर ऊपर से दिखाई देता है, उतना अन्तर वास्तव में है नहीं। उनका अन्तर मुख्यत: विभिन्न दृष्टिकोणों को अपनाने के कारण ही दीख पड़ता है।

हम जानते हैं कि श्रद्धा-विश्वास के लिए केवल आवश्यक प्रारम्भिक जानकारी की ही आवश्यकता होती है और सम्यग्ज्ञान के लिए इसी प्रारम्भिक ज्ञान को पूर्ण रूप से विकसित किया जाता है। पर साथ ही हम यह भी जानते हैं कि साधक का मुख्य उद्देश्य आत्मज्ञान या आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करना ही है। अन्य तत्त्वों की जानकारी केवल आत्मा से उनकी भिन्नता दिखाने के लिए ही की जाती है।

आत्मा ही सार तत्त्व है। इसलिए आत्मा के ज्ञान की आवश्यकता आत्मा में लीन होने के लिए है। पर आत्मा से भिन्न अन्य सांसारिक विषय असार हैं। इसलिए उनके ज्ञान की आवश्यकता उनके प्रति मोह और आसक्ति को त्यागने के लिए है। अत: आत्म तत्त्व का ज्ञान ही मुख्य है, जबकि अन्य तत्त्वों का ज्ञान गौण है।

इन बातों को ध्यान में रखकर उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं में समन्वय या ताल-मेल करके हमें सम्यग्ज्ञान के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहिए। इसी समन्वयात्मक विचार को हुकमचन्द भारिल्ल ने इस प्रकार प्रकट किया है:

> सम्यग्ज्ञान की जितनी भी परिभाषाएँ दी हैं उन सबमें कोई अंतर नहीं है। वे मात्र भिन्न-भिन्न प्रकरणों में विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखी गयी हैं। सबसे यह तथ्य फलित होता है कि मोक्षमार्ग में प्रयोजन भूत जीवादि (जीव अजीव आदि) पदार्थों का विशेषकर आत्मतत्त्व का

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-रहित (अनिश्चितता-रहित) ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। लौकिक पदार्थों के ज्ञान से इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

सम्यग्ज्ञान एक प्रकार से सच्चा तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान में परद्रव्यों का जानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि निज आत्मतत्त्व का।[31]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सच्ची श्रद्धा और दृढ़ विश्वास के आधार पर अजीवादि द्रव्यों से भिन्न आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानना ही सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन, अर्थात् सच्ची श्रद्धा और सच्चे विश्वास से ही सच्चा ज्ञान या सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। वास्तव में दर्शन और ज्ञान—दोनों संगी हैं। दोनों एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार सूर्य से या अग्नि से प्रकाश और ताप की उत्पत्ति एक साथ होती है, उसी प्रकार सच्ची श्रद्धा और सच्चा ज्ञान भी एक साथ ही उत्पन्न होते हैं।

ज्ञान के भेद

जैन धर्म में ज्ञान पाँच प्रकार के बताये गये हैं: 1. मति 2. श्रुत 3. अवधि 4. मन:पर्यय और 5. केवल।

1. मति ज्ञान—मन और इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को मति ज्ञान कहते हैं। यद्यपि इस प्रकार के ज्ञान को साधारणतया प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है, पर जैन धर्म के अनुसार जिस ज्ञान को आत्मा बिना किसी माध्यम के स्वत: जानती है, केवल उसीको सही अर्थ में प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इसलिए मन और इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को परोक्ष ज्ञान ही समझना चाहिए। यह केवल एक व्यावहारिक या लौकिक ज्ञान है।

   वास्तव में मन और इन्द्रियाँ सच्चे ज्ञान के साधन नहीं, बल्कि बाधक हैं। इन्द्रियों और मन की बाधाओं को धीरे-धीरे दूर करके ही साधक सच्चे प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति करते हैं।
2. श्रुत ज्ञान—धर्म-ग्रन्थों एवं ज्ञानी तथा अनुभवी व्यक्तियों के शाब्दिक उपदेशों से प्राप्त ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहते हैं। लिखे हुए या बोले हुए

उपदेशों को समझने के लिए शब्दों को पढ़ने (देखने) और सुनने की आवश्यकता होती है। देखना और सुनना मतिज्ञान के अन्दर आता है। इसलिए श्रुत ज्ञान मति ज्ञानपूर्वक होता है।

श्रुत ज्ञान को मति ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि मति ज्ञान से केवल वर्तमान-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है, जबकि श्रुत ज्ञान भूत, वर्तमान और भविष्य से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान प्रदान करता है। धर्म-ग्रन्थों से सार्वकालिक सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानी और अनुभवी व्यक्तियों द्वारा प्राप्त यह ज्ञान पवित्र, प्रामाणिक, संशय-रहित और निर्विवाद होता है।

फिर भी मति ज्ञान की तरह श्रुत ज्ञान को भी परोक्ष ज्ञान ही माना जाता है। शेष तीनों ज्ञानों—अवधि, मन:पर्यय और केवल ज्ञान को वस्तुत: प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है, क्योंकि आत्मा इन तीनों प्रकार के ज्ञान को सीधे रूप से बिना किसी माध्यम के प्राप्त करती है।

3. अवधि ज्ञान—जीव जब अपने कर्मों को अंशत: नष्ट या उपशमित (शान्त) कर लेता है, तब उसे एक अतीन्द्रिय दृष्टि प्राप्त होती है, जिसके द्वारा वह इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही अत्यन्त दूर, सूक्ष्म और साधारणतया अस्पष्ट रूपी (रूपवाले) पदार्थों को जान लेता है। पर इस ज्ञान से रूपी पदार्थों के सभी पर्यायों की जानकारी नहीं होती। इस सीमा के होने के कारण इस ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते हैं।

अवधि ज्ञान दो प्रकार के होते हैं—भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। भव का अर्थ है जन्म और प्रत्यय का अर्थ है कारण। अर्थात् जिस अवधि ज्ञान के होने में जन्म ही निमित्त है, यानी जो अवधि ज्ञान जन्मजात होता है, उसे भव प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं। ऐसा जन्मजात अवधि ज्ञान केवल देव और नारकी जीवों को ही होता है। गुण-प्रत्यय अवधि ज्ञान कर्मों के न्यूनाधिक नष्ट या शान्त होने के कारण केवल कुछ मनुष्यों और पशुओं में ही पाया जाता है। इसके छ: भेद हैं: (1) अनुगामी (2) अननुगामी (3) वर्धमान (4) हीयमान (5) अवस्थित और (6) अनवस्थित। इस जन्म के बाद दूसरे जन्म में साथ जानेवाले अवधि ज्ञान को अनुगामी कहते हैं।

दूसरे जन्म में साथ न जानेवाले अवधि ज्ञान को अननुगामी कहते हैं। जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद उत्तरोत्तर बढ़ता जाये उसे वर्धमान कहते हैं, और जो उत्तरोत्तर घटता जाये उसे हीयमान कहते हैं। जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद न घटे न बढ़े, बल्कि उस जन्म भर ज्यों का त्यों बना रहे, उसे अवस्थित कहते हैं और जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद कभी घटे और कभी बढ़े, उसे अनवस्थित कहते हैं।

4. मन:पर्यय ज्ञान—दूसरों के मन के भूत और वर्तमान विचारों को जाननेवाले ज्ञान को मन:पर्यय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान केवल मनुष्यों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। राग-द्वेष आदि मानसिक विकारों के दूर हो जाने पर ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुल मति। जो दूसरों के मन के सरल विचारों को जाने उसे ऋजुमति कहते हैं और जो दूसरों के मन के जटिल से जटिल विचारों को भी जान ले उसे विपुल मति कहते हैं। संयम और नियमपूर्वक दृढ़ साधना में लगे हुए महात्माओं या साधुजनों को ही विपुलमति की प्राप्ति होती है। ऋजुमति और विपुलमति में दो बातों को लेकर अन्तर है। एक तो ऋजुमति से विपुलमति अधिक विशुद्ध होती है और दूसरे, ऋजुमति को प्राप्त करके उसे खोया भी जा सकता है। पर विपुलमति को प्राप्त करने के बाद उसे कभी खोया नहीं जा सकता। विपुलमति प्राप्त करनेवाला जीव इसी जन्म में केवल ज्ञान की भी प्रप्ति कर लेता है।

5. केवल ज्ञान—समस्त कर्ममल के पूर्णत: विनष्ट हो जाने पर आत्मा को अपने स्वाभाविक अनन्त ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसे ही सर्वज्ञता या केवल ज्ञान कहते हैं। यह अतीन्द्रिय यानी इन्द्रियों से परे का ज्ञान है। इस ज्ञान द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य से सम्बन्धित सभी द्रव्यों और पर्यायों (परिवर्तनशील रूपों, धर्मों या अवस्थाओं) को एक-साथ जाना जाता है। केवल ज्ञानी को लोक और अलोक दोनों का ज्ञान प्राप्त होता है। केवल ज्ञान के स्वरूप को *ज्ञानार्णव* में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है:

जो समस्त द्रव्यों के (अनन्त) पर्यायों को जाननेवाला है, सब जगत को देखने जानने का नेत्र है तथा अनन्त है, एक है और अतीन्द्रिय है, अर्थात् मति, श्रुत ज्ञान के समान इन्द्रियजनित नहीं है, केवल आत्मा से ही जाना जाता है, उसको विद्वानों ने केवल ज्ञान कहा है। केवल ज्ञान कल्पनातीत है, विषय को जानने में किसी प्रकार की कल्पना नहीं है, स्पष्ट जानता है तथा आपको और पर को दोनों को जानता है। जगत का प्रकाशक है, सन्देहरहित, अनन्त और सदा काल उदयरूप है तथा इसका किसी समय भी किसी प्रकार से अभाव नहीं होता है।[32]

वास्तव में यह केवल ज्ञान ही पूर्ण रूप से सच्चा ज्ञान या सम्यग्ज्ञान है और यही ज्ञान की पराकाष्ठा है।

जैसे सूर्योदय होने पर तारों का प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार केवल ज्ञान के उदय होने पर मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय—ये चारों ज्ञान लुप्त हो जाते हैं।

एक आत्मा में एक से लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं। यदि एक ज्ञान होता है, तो वह केवलज्ञान है। यदि दो होते हैं, तो मति और श्रुत ज्ञान होंगे। यदि तीन हों, तो मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मन:पर्यय ज्ञान होंगे। यदि चार हों, तो मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान होंगे। एक साथ पाँचों ज्ञान नहीं हो सकते, क्योंकि यदि किसी को केवलज्ञान होगा तो वह अकेला ही होगा, अन्य चारों ज्ञान विलीन हो जायेंगे।

सम्यग्ज्ञान की महिमा बताते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

इस संसाररूपी उग्र (तपते हुए) मरुस्थल में दु:खरूपी अग्नि से संतप्त जीवों को यह सत्यार्थ ज्ञान ही अमृत रूपी जल से तृप्त करने के लिए समर्थ है, अर्थात् संसार के दु:ख मिटानेवाला सम्यग्ज्ञान ही है।

जब तक ज्ञानरूपी सूर्य का सातिशय (पूर्ण रूप से) उदय नहीं होता है, तभी तक यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित (ढका) रहता है, किन्तु ज्ञान के प्रकट होते ही अज्ञान का विनाश हो जाता है।

> ज्ञान ही तो संसाररूपी शत्रु के नष्ट करने के लिए तीक्ष्ण खड्ग है और ज्ञान ही समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए तीसरा नेत्र है।[33]

अज्ञान के कारण ही जीव राग-द्वेष, मोह-माया आदि विकारों का शिकार होकर बुरे कर्म करता है और कर्म-बन्धन में पड़कर जन्म-जन्मान्तर में दु:ख भोगता रहता है। दु:खों के मूल कारण अज्ञान का विनाश सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

3. सम्यक् चारित्र

सच्चे विश्वास और सच्चे ज्ञान को प्राप्त कर लेने के बाद उनके अनुसार जीवन को ढालना ही सम्यक् चारित्र है। ऐसा करने पर ही जीवन के वास्तविक उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार ज्ञान के अनुरूप आचरण और साधना को अपनाना ही सम्यक् चारित्र है। सम्यक् चारित्र जन्म-जन्मान्तर से इकट्ठे किये हुए कर्मों के भण्डार को नष्ट कर देता है। यदि सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है, तो सम्यक् चारित्र उसकी परिणति है।

द्रव्यसंग्रह के अनुसार अहित कार्यों का त्याग करना और हित कार्यों का आचरण करना ही सम्यक् चारित्र है।[34]

इस प्रकार के आचरण के लिए समत्व-भाव को प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर *जैनधर्मामृत* में सम्यक् चारित्र की निम्नलिखित परिभाषा दी गयी है:

> समस्त पाप क्रियाओं को छोड़कर और पर पदार्थों में राग-द्वेष न करके उदासीन या माध्यस्थ्यभाव अंगीकार करने को चारित्र कहते हैं।[35]

समत्व भाव या माध्यस्थ्य भाव तब तक नहीं आ सकता जब तक साधक क्रोध, मान, माया लोभ आदि (कषाय) से ऊपर न उठ जाय। इसीलिए *मोक्षमार्ग प्रकाशक* में सम्यक् चारित्र को इस प्रकार परिभाषित किया गया है:

> निश्चय से नि:कषाय भाव है, वही सच्चा चरित्र है।[36]

सम्यक् चारित्र की अन्तिम दो परिभाषाओं को समेटते हुए हुकमचन्द भारिल्ल अपना विचार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:

सकल कषायरहित जो उदासीन भाव उसी का नाम चारित्र है।[37]

यदि कोई व्यक्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना अपनी इच्छानुसार या किसी अन्ध-परम्परा के अनुसार कार्य करता है, तो उसे लाभ के बदले हानि हो सकती है। इसीलिए *आदिपुराण* में हमें सावधान करते हुए कहा गया है:

> सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी (कार्य में सिद्धि दिलानेवाला) नहीं होता, किन्तु जिस प्रकार अन्धे पुरुष का दौड़ना उसके पतन का कारण होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से शून्य पुरुष का चरित्र भी उसके पतन अर्थात् नरकादि गतियों में परिभ्रमण का कारण होता है।[38]

कुछ लोग शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए दूसरों को प्रवचन सुनाते फिरते हैं या अपने शास्त्र-ज्ञान को अपने आर्थिक लाभ का साधन बना लेते हैं। पर ज्ञान का उद्देश्य स्वयं उसपर अमल करना और अपनी आत्मा का साक्षात्कार करना है, न कि मान-बड़ाई या आर्थिक लाभ प्राप्त करना। इस सम्बन्ध में कानजी स्वामी कहते हैं:

> अज्ञानी शास्त्र पढ़ लेता है, किन्तु यह नहीं जानता कि उनका क्या प्रयोजन है। शास्त्राभ्यास करके अपने में स्थिर होना शास्त्रों का प्रयोजन है; उसे सिद्ध न करे और दूसरों को सुनाने का अभिप्राय हो, तो वह मिथ्यादृष्टि है। ...क्या बहुत से लोग मानने लगें तो अपने को लाभ है? और कोई न माने तो हानि है? नहीं, ऐसा नहीं है। ...ज्ञानाभ्यास तो अपने लिए किया जाता है; उसका निमित्त पाकर पर का भला होना हो, तो होता है।[39]

शास्त्र का ज्ञानी होना सरल है, पर उसके अनुसार आचरण करना कठिन है। केवल शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसका दिखावा करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। हमें कथनी को छोड़ करनी करने की आवश्यकता होती है। शास्त्र और गुरु के बताये ज्ञान के अनुसार जब साधक सदाचार के नियमों

का पालन करते हुए आन्तरिक या अन्तर्मुखी साधना में तत्परतापूर्वक लगता है, तभी उसे सम्यक् चारित्र का वास्तविक फल प्राप्त होता है; इसे चाहे आत्मा के सच्चे स्वरूप का अनुभव कहें, सच्चा आत्मज्ञान कहें, सम्यक् चारित्र की परिणति कहें या मोक्ष की प्राप्ति कहें।

यों तो जैन धर्म में सदाचार के बहुत से नियम बताये गये हैं, पर उनमें अहिंसा, सत्य अचौर्य (चोरी नहीं करना), शील (ब्रह्मचर्य) और अपरिग्रह (अनावश्यक संचय न करना) ही प्रमुख हैं। इन्हें पंचव्रत कहा जाता है। इन व्रतों का पूरी कठोरता के साथ पालन करना संन्यासियों के लिए आवश्यक है। उनके इन व्रतों को पंच महाव्रत कहा जाता है। पर गृहस्थों के लिए इन व्रतों में कुछ ढील दी गयी है। उन्हें पंचअणुव्रत कहा जाता है। जैन धर्म में अहिंसा को परम धर्म या सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है, क्योंकि इसे ठीक तरह से पालन करने पर शेष चारों व्रत इसके अन्दर ही आ जाते हैं। 'अहिंसा' नामक अगले अध्याय में इस पर विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा।

कुछ लोग पाप कर्म को मिटाने के लिए पुण्य कर्म करते हैं। पर पुण्य कर्म द्वारा पाप कर्म को मिटाया नहीं जा सकता। शुभ फल की इच्छा रखकर कर्म करने से उस कर्म का फल अवश्य मिलता है, पर पुण्य कर्म पाप कर्म को नहीं काटता। इसलिए जैन धर्म में इच्छारहित होकर अपने उचित दायित्व को निभाते हुए सम्यक् चारित्र के नियमों का पालन करने का उपदेश दिया गया है। इच्छामुक्त होने के लिए ही जैन धर्म में तप का विधान किया गया है। तप का अर्थ ही है इच्छा को रोकना। इच्छा को रोकने के लिए राग-द्वेष से ऊपर उठना और कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) से बचे रहना आवश्यक है। इन्द्रियों और मन के नियन्त्रण के बिना इन मनोविकारों पर विजय पाना सम्भव नहीं है। इसलिए सदाचार के नियमों का पालन करते हुए इन्द्रियों और मन के नियन्त्रण द्वारा धीरे-धीरे मोह और ममत्व का त्याग कर अपने को समत्व भाव में स्थिर करना चाहिए। ये सभी चारित्र के ही अंग हैं।

इस प्रकार अपने आचार-विचार और दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना और संयम-नियमपूर्वक अन्तर्मुखी साधना (ध्यान) द्वारा कर्मों को समूल नष्ट करना ही सम्यक्चारित्र का लक्ष्य है। साधक के दृष्टिकोण और विचारधारा में

परिवर्तन लाने के लिए जैन धर्म में बारह अनुप्रेक्षाओं और चार ध्यान को स्थिर बनानेवाली भावनाओं का अभ्यास बताया गया है, जिन पर हम अध्याय 8 में विचार करेंगे । फिर मन को नियन्त्रण में लाने और ध्यान का अभ्यास करने के सम्बन्ध में हम नौवें अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। ध्यान द्वारा सभी संचित कर्मों का नाश होता है और जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कर्म ही जीव के बन्धन का कारण है। इसलिए कर्म-बन्धन के कारणों का अभाव हो जाने पर तथा सभी संचित कर्मों के नष्ट हो जाने पर जीव बन्धनरहित होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, जैसा कि *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* में कहा गया है:

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्सनकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।[40]

अर्थ—बन्धन के कारणों का अभाव हो जाना और निर्जरा द्वारा सभी (संचित) कर्मों का विनाश हो जाना ही मोक्ष है।

साधु जन कर्म-बन्धन के बीज से रहित होकर अरहन्त केवली (केवलज्ञान या सर्वज्ञता से युक्त) बन जाते हैं और निर्वाण-प्राप्ति के पूर्व जीवों को उनके हित के लिए मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते हैं, जैसा कि *जैनधमामृत* में कहा गया है:

> उस अरहन्त अवस्था में रहते हुए वे सर्व देशों में विहार कर और भव्य (मोक्षार्थी) जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर अन्त में योग-निरोध कर तथा शेष चार अघातिया कर्मों का भी क्षय कर सर्व कर्म से रहित होकर वे अरहन्त परमेष्ठी निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार ईंधन रूप नवीन उपादान कारण से रहित और पूर्व-संचित ईंधन को जलाकर भस्म कर देनेवाली अग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार कर्मरूप ईंधन को जलाकर यह आत्मा भी परम शान्ति को प्राप्त हो जाती है।[41]

मोक्ष-प्राप्त आत्मा संसार से सदा के लिए छुटकारा पाकर सबसे ऊपर के लोक में चली जाती है, जहाँ वह अनन्त गुणों से युक्त होकर अनन्तकाल तक

अनुपम आनन्द में स्थित रहती है। *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* में आत्मा के ऊपर के लोक में जाने के चार कारणों को चार उपमाओं द्वारा इसप्रकार समझाया गया है:

पूर्व प्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागति परिणामाच्च।[42]

अर्थ—(1) पूर्व प्रयोग से (2) कर्मों से संग का अभाव होने से (3) बन्धन के टूटने से और (4) वैसा ही गमन करना आत्मा का स्वभाव होने से मुक्तात्मा ऊपर के लोक में चली जाती है।

इन चारों कारणों को *जैनधर्मामृत* में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है:

(1) पूर्व के अभ्यास से जिस प्रकार कुम्भकार का चक्र लकड़ी के हटा लेने पर भी घूमता ही रहता है उसी प्रकार यह आत्मा भी 'कब मुक्त बनूँ, कब सिद्धालय में पहुँचूँ' इत्यादि प्रकार के संस्कार के कारण यह मुक्त जीव शरीर से छूटते ही ऊपर को चला जाता है। (2) मिट्टी से लिप्त घड़ा जैसे पहले पानी में डूबा रहता है और मिट्टी के दूर होते ही ऊपर आ जाता है, इसी प्रकार कर्मरूप मृत्तिका से मुक्त होते ही यह जीव ऊपर चला जाता है। (3) एरण्ड का बीज अपने कोशरूपी बन्धन के छेद होते ही (फटते ही) जैसे ऊपर को जाता है उसी प्रकार कर्म बन्धनों के नष्ट होने से यह ऊपर को जाता है। अथवा (4) जिस प्रकार अग्नि की शिखा का ऊपर को उठना ही स्वभाव है, उसी प्रकार जीव का भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, अतः मुक्त होते ही वह ऊपर को जाता है।[43]

यह मोक्ष की अवस्था रोग-शोक, जन्म-जरा-मरण, चिन्ता-भय आदि से पूर्णतः मुक्त है। इस अवस्था को प्राप्त आत्मा कर्ममल से रहित हो सदा के लिए परमात्मा बन जाती है। इसके अलौकिक सुख-शान्ति की महिमा अवर्णनीय है। इसी सच्चे परमानन्द और परम शान्ति को प्राप्त करना मानव-जीवन का लक्ष्य है।

अहिंसा

अहिंसा का स्वरूप

यह तो स्पष्ट ही है कि 'अहिंसा' शब्द का अर्थ है हिंसा न करना। हिंसा किसी जीव की ही की जा सकती है। इसलिए साधारण बोलचाल की भाषा में किसी दूसरे जीव को न मारने या उसका घात या वध न करने को अहिंसा कहा जाता है। पर जैन धर्म में अहिंसा को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाता है। इसके अनुसार अहिंसा का अर्थ जीवों का केवल वध न करना ही नहीं है, बल्कि किसी भी जीव को मन से वचन से या काय से कष्ट या पीड़ा न पहुँचाना या उसका दिल न दुखाना भी अहिंसा के अन्दर शामिल है।

इसके अतिरिक्त अहिंसा का सम्बन्ध साधारणत: केवल दूसरे जीवों से जोड़ा जाता है, जैसे—दूसरे जीवों को न मारना या न सताना। पर जैन धर्म बतलाता है कि हिंसा स्वयं अपने जीव की भी होती है। साधारणतया अपने जीव की हिंसा का अर्थ विष खाकर या अन्य किसी प्रकार से आत्महत्या करना माना जाता है। पर आत्महिंसा का वास्तविक अर्थ अपने अन्दर राग, द्वेष या मोह का उत्पन्न होना है, जिससे हमारा वास्तविक आत्मघात होता है। इसलिए जैन धर्म के अनुसार आत्मा में राग, द्वेषादि को उत्पन्न न होने देना ही वास्तविक अहिंसा है।

इस प्रकार अहिंसा का क्षेत्र बाहरी और भीतरी (आन्तरिक)—दोनों ही है। चूँकि आन्तरिक अहिंसा बाहरी अहिंसा का मूल है, इसलिए जैन धर्म में

आन्तरिक अहिंसा ही प्रमुख अहिंसा मानी जाती है। यदि जीव अपने अन्तर से राग, द्वेष और मोह को दूर कर साम्यभाव में स्थित हो जाये और सावधानी के साथ संसार में अपना कार्य करता रहे तो उससे अनजाने, चलते-फिरते या सांसारिक काम-काज करते हुए किसी जीव की हिंसा हो जाने पर भी उसे हिंसक नहीं कहा जाता। उसके चित्त में रागादि विकारों के उत्पन्न न होने के कारण वह सदा अहिंसक ही बना रहता है। वास्तव में रागादि विकारों का उत्पन्न न होना ही अहिंसा है। *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में स्पष्ट कहा गया है:

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥[1]

अर्थात् आत्मा में रागादि भावों का प्रकट नहीं होना अहिंसा है और उन रागादिभावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है। बस इतना मात्र ही जैन सिद्धान्त का संक्षिप्त सार या रहस्य है।

यही कारण है कि रागादि विकारों से मुक्त और साम्यभाव में स्थित सन्तजनों के चलते-फिरते किसी जीव के पीड़ित होने या मर जाने पर भी उन्हें (सन्तों को) हिंसा का दोषी नहीं माना जाता। इसे स्पष्ट करते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> योग्य आचरण करनेवाले सन्त पुरुषों के रागादि आवेश के बिना केवल प्राणों के घात से हिंसा कदाचित् भी नहीं होती है।
> भावार्थ—यदि किसी सज्जन पुरुष के सावधान होकर गमनादि करने में (चलने-फिरने आदि में) उसके शरीर-सम्बन्ध से कोई जीव पीड़ित हो जाये, या मर जाये, तो उसे हिंसा का दोष कदापि नहीं लगता, क्योंकि उसके परिणाम (आन्तरिक भाव) राग-द्वेष आदि कषाय (विकार) रूप नहीं हैं।
>
> रागादि भावों के वश में प्रवृत्त होने पर अयत्नाचाररूप प्रमाद (असावधानी की) अवस्था में जीव मरे, अथवा नहीं मरे, किन्तु हिंसा तो निश्चयतः आगे ही दौड़ती है।

भावार्थ—जो प्रमादी जीव कषायों (राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान आदि) के वश होकर असावधानीपूर्वक गमनादि क्रिया करता है उस समय चाहे जीव मरे अथवा न मरे, परन्तु वह हिंसा के दोष का भागी तो अवश्य ही होता है।[2]

अहिंसा के पालन के लिए आन्तरिक शुद्धता के साथ अप्रमत्त (सावधान) होकर कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। जो प्रमत्त (असावधान या लापरवाह) होकर कार्य करता हुआ जीव का घात करता है वह अवश्य ही हिंसा का दोषी होता है, क्योंकि "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं"[3] (लापरवाही या असावधानी से प्राणों का घात करना) हिंसा का लक्षण कहा गया है।

इस प्रकार जैन धर्म में हिंसा और अहिंसा का विचार करते समय जीव के आन्तरिक भाव पर विशेष ध्यान रखा जाता है।

आन्तरिक अहिंसा की प्रमुखता को समझने के लिए जैन धर्म में बताये गये हिंसा के दो भेदों को ध्यान में रखना आवश्यक है। पहले भेद को भाव हिंसा और दूसरे भेद को द्रव्य हिंसा कहते हैं। राग-द्वेष, काम, क्रोध मान आदि भावों के उत्पन्न होने से आत्मा की शुद्धता का घात होना भाव हिंसा है और इसके फलस्वरूप अपने और पराये जीवों का घात होना द्रव्य हिंसा है। स्पष्ट है कि जीव के अन्दर पहले हिंसा का भाव उत्पन्न होता है, फिर वह जीव उस भाव को बाहरी कार्य का रूप दे सके या न दे सके। इस प्रकार अपने अन्दर उत्पन्न हिंसा के भाव द्वारा जीव पहले अपना आत्मघात करता है, फिर बाद में वह अन्य जीवों की हिंसा करे या न करे। *जैनधर्मामृत* में इसे बड़े ही स्पष्ट रूप से कहा गया है:

आत्मा कषाय (राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान आदि) से युक्त होकर पहले अपने-आपके द्वारा अपना ही घात करती है, फिर भले ही पीछे अन्य जीवों की हिंसा होवे अथवा न होवे[4]

यही कारण है कि जीव के अन्दर हिंसा का भाव उत्पन्न होते ही वह हिंसा का फल भोगने का अधिकारी बन जाता है, भले ही उसने हिंसा का कोई बाहरी

कार्य (द्रव्य हिंसा) न किया हो जबकि राग-द्वेष आदि से मुक्त सज्जन पुरुष से हिंसा का कार्य हो जाने पर भी वे हिंसा के फल के अधिकारी नहीं होते। इसे स्पष्ट करते हुये *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में कहा गया है:

> जिसके परिणाम (आन्तरिक भाव) हिंसारूप (राग-द्वेष, क्रोध आदि विकार रूप) हुए, चाहे वे (परिणाम) हिंसा का कोई कार्य न कर सके हों तौ भी वह जीव हिंसा के फल को भोगेगा और जिस जीव के शरीर से किसी कारण हिंसा तो हो गई परन्तु परिणामों (आन्तरिक भावों) में हिंसारूपकता (हिंसा की भावना) नहीं आई तो वह हिंसा करने का भागी कदापि नहीं होगा।[5]

पर इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि साधारण बोलचाल की भाषा में जिसे हिंसा कहते हैं—जैसे किसी को मारना या दु:ख देना—वह हिंसा नहीं है। वह तो हिंसा है ही, क्योंकि इस प्रकार जान-बूझकर किये गये हिंसक कार्य आन्तरिक हिंसात्मक भावों पर आधारित होते ही हैं। यहाँ केवल यह समझाने की चेष्टा की गयी है कि आन्तरिक हिंसात्मक भाव (भाव हिंसा) ही बाहरी हिंसा का मूल कारण है, इसलिए इस मूल कारण के बिना केवल जीवघात के आधार पर किसी को हिंसक नहीं कहा जा सकता।

यदि केवल जीवघात के आधार पर किसी को हिंसक मान लिया जाये तो संसार में कोई भी अहिंसक नहीं रह सकता। इसे *राजवार्तिक* में प्रश्न और उत्तर के रूप में इस प्रकार समझाया गया है:

> प्रश्न—जल में, स्थल में और आकाश में सब जगह जन्तु ही जन्तु हैं। इस जन्तुमय जगत् में साधक अहिंसक कैसे रह सकता है?
> उत्तर—इस शंका को यहाँ अवकाश नहीं है, क्योंकि ज्ञानध्यानपरायण अप्रमत्त साधक को मात्र प्राण वियोग से हिंसा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि जीव भी सूक्ष्म व स्थूल दो प्रकार के हैं। उनमें जो सूक्ष्म हैं वे तो न किसी से रुकते हैं, और न किसी को रोकते हैं, अत: उनकी तो हिंसा होती नहीं है। जो स्थूल जीव हैं उनकी यथा शक्ति रक्षा की

जाती है। जिनकी हिंसा का रोकना शक्य (सम्भव) है उसे प्रयत्नपूर्वक रोकनेवाले संयत के हिंसा कैसे हो सकती है?[6]

वास्तव में रागादि विकारों से युक्त प्रमादी (लापरवाह) जीव अपने अपवित्र मनोभावों के कारण सदा ही हिंसा का दोषी माना जाता है जबकि रागादि विकारों से मुक्त अप्रमादी (सावधान) मनुष्य में हिंसा का दोष नहीं लगने पाता। इसे स्पष्ट करते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

जीवों के मरते व जीते प्रमादी (असावधान) पुरुषों को तो निरन्तर ही हिंसा का पापबन्ध होता ही रहता है। और जो संवरसहित अप्रमादी (रागादि विकारों से बचे रहनेवाले सावधान साधक) हैं उनको जीवों की हिंसा होते हुए भी हिंसारूप पाप का बंध नहीं होता।
भावार्थ—कर्मबन्ध होने में प्रधान कारण आत्मा के परिणाम (आन्तरिक भाव) हैं; इस कारण जो प्रमादसहित (असावधानी के साथ) बिना यत्न के प्रवर्त्तते (व्यवहार करते) हैं उनको तो जीव मरे अथवा न मरे किन्तु कर्मबन्ध होता ही है, और जो प्रमादरहित यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं उनके दैवयोग से जीव मरै तौ भी कर्मबन्ध नहीं होता है।[7]

अहिंसा के स्वरूप को भली-भाँति समझकर अपना कल्याण चाहनेवाले जीव को सभी प्रकार की हिंसा से दूर रहना चाहिए। हिंसा तीन प्रकार की बतायी गयी है: कृत (स्वयं की गयी), कारित (दूसरों से करायी गयी) और अनुमोदित (समर्थित)। इनमें से किसी प्रकार की हिंसा करना अपने प्रति हिंसा या आत्मघात करना है। *जिन-वाणी* में इन तीनों प्रकार की हिंसा से बचने का उपदेश इन शब्दों में दिया गया है:

इस लोक में जितने प्राणी हैं चाहे वे त्रस (चल) हों अथवा स्थावर (अचल), उन्हें जान-बूझकर अथवा बिना जाने प्रमादवश न स्वयं मारे और न उनका दूसरों द्वारा घात करावे। चाहे कोई स्वयं प्राण-घात करे अथवा अन्य जनों द्वारा करावे या हनन करनेवाले का अनुमोदन करे वह यथार्थत: अपने ही प्रति वैर भाव की वृद्धि करता है।[8]

जैन धर्म में हिंसा को सबसे बड़ा पाप माना गया है। *आचारांग सूत्र* में इससे बचे रहने के लिए यह प्रबल तर्क दिया गया है कि जिसे तू मारने योग्य, बाँधने योग्य या पीड़ा देने योग्य मानता है वह अन्य नहीं, तू ही है:

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मण्णसि
तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वंति मण्णसि
तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मण्णसि
तुमंसि नाम सच्चेव जं परिधेतव्वंति मण्णसि
तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वंति मण्णसि[9]

अर्थ—वह तू ही है जिसे तू हंतव्य (मारने योग्य) मानता है। वह तू ही है जिसे तू आज्ञापयितव्य (आज्ञा में रखने लायक) मानता है। वह तू ही है जिसे तू परितापयितव्य (परिताप या पीड़ा देने योग्य) मानता है। वह तू ही है जिसे तू परिग्रहीतव्य (दास बनाने हेतु परिग्रह या संग्रह करने योग्य) मानता है। वह तू ही है जिसे तू अपद्रावयितव्य (मारने योग्य) मानता है।

इनका तात्पर्य यही है कि... जब तू किसी की हिंसा करना चाहता है तब हिंसा किसी अन्य की नहीं है, वह तेरी ही हिंसा है, क्योंकि पहले तेरी ही शुभवृत्ति की हिंसा होती है फिर अन्य की हिंसा होती है। अत: हिंसा एक प्रकार से स्व-हिंसा ही है।[10]

वास्तव में मनुष्य अपने आन्तरिक हिंसात्मक और अहिंसात्मक भावों के कारण ही हिंसक और अहिंसक होता है। यही कारण है कि एक ही व्यक्ति के हिंसा करने पर अनेकों व्यक्ति हिंसा के फल को भोगने के भागी होते हैं। इसके विपरीत बाहरी तौर पर अनेकों व्यक्तियों द्वारा हिंसा के कार्य किये जाने पर भी एक ही व्यक्ति विशेष रूप से हिंसा के फल का भागी होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई एक व्यक्ति किसी को मारता है और बहुत-से लोग उसे अच्छा कहते और प्रसन्नता का अनुभव करते हैं तो वे सभी उस हिंसा के फल के भागी होते हैं। दूसरी ओर यदि एक अत्याचारी राजा अपने अनेकों सिपाहियों को किसी दूसरे राज्य में लूट-मार करने और निरपराध लोगों को मारने की

आज्ञा देता है तो इसका फल भी विशेष रूप से उस राजा को ही भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी जीव की बुराई करने के प्रयत्न में लगा हो, पर संयोगवश उस जीव की बुराई के बदले भलाई हो जाये, तब भी बुराई करने का प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति को बुराई का ही फल मिलेगा। इसके विपरीत यदि कोई वैद्य किसी रोगी के रोग को दूर करने के उद्देश्य से उसे पूरी सद्भावना के साथ दवा दे रहा हो, फिर भी रोगी की मृत्यु हो जाये, तो वैद्य को हिंसा का फल न मिलकर अहिंसा का ही फल मिलेगा।

इसी प्रकार यदि दो या दो से ज़्यादा व्यक्ति मिलकर कोई हिंसा का कार्य करें तो उन्हें अपने-अपने राग, द्वेष, क्रोध, आदि आन्तरिक भावों की अधिकता या कमी के अनुसार ही हिंसा का अधिक या कम फल मिलेगा।

इसलिए मनुष्य का यह धर्म है कि वह अपने रागादि विकारों से ऊपर उठकर सभी जीवों को अपने समान समझे और यह ध्यान रखे कि जिस प्रकार हमें सुख प्रिय है और दु:ख अप्रिय है उसी प्रकार दूसरे जीवों को भी सुख प्रिय है और दु:ख अप्रिय है। इस प्रकार परमार्थ की साधना के लिए अहिंसा व्रत को ग्रहणकर जीव-दया और जीव-रक्षा का भाव अपनाना आवश्यक है। सभी प्राणियों को अपने समान समझकर हिंसा का त्याग करने का उपदेश करते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> अपने समान सर्व प्राणियों के सुख-दु:ख और इष्ट-अनिष्ट का चिंतवन करे और यत: (क्योंकि) हिंसा अपने लिए अनिष्ट और दु:खकारक है, अत: अन्य के लिए भी वह अनिष्ट और दु:खकारक होगी, ऐसा समझकर पर (दूसरे) की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[11]

जिन-वाणी में भी ऐसा ही उपदेश दिया गया है:

> जिस प्रकार तुझे दु:ख प्रिय नहीं है उसी प्रकार अन्य जीवों को भी वह प्रिय नहीं है ऐसा जानो। इस समझदारी के साथ अन्य जीवों के प्रति वैसा ही हित भाव से व्यवहार करो जिस प्रकार तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे प्रति करें।

जैसे सुख साधनों की अपने लिए इच्छा करते हो और जैसे अपने को दुःख में डालने की इच्छा नहीं रखते इसी प्रकार दूसरे प्राणियों के लिए भी दुःख की नहीं किन्तु सुख की इच्छा करो। बस जिनेन्द्र भगवान् का यही उपदेश है।[12]

अहिंसा ही धर्म का लक्षण है और अहिंसा के लिए जीव-दया आवश्यक है। इसलिए प्राणीमात्र के प्रति दया-भाव रखना धर्म का मूल है। *ज्ञानार्णव* में सबके प्रति दया-भाव धारणकर सबसे मैत्री का भाव रखने और सबकी रक्षा करने का उपदेश देते हुए कहा गया है:

हे आत्मन! तू प्रमाद को छोड़कर भावों की शुद्धि के लिए जीवों की सन्तति को (समूह को) बन्धु (भाई, हित, मित्र) की दृष्टि से अवलोकन किया कर। अर्थात् प्राणीमात्र से शत्रुभाव न रखकर सबसे मित्रभाव रख और सबकी रक्षा में मन, वचन, कायादिक से प्रवृत्ति कर।

जिसमें दया नहीं है ऐसे शास्त्र तथा आचरण से क्या लाभ? क्योंकि ऐसे शास्त्र के व आचरण के अंगीकार मात्र ही से जीव दुर्गति को चले जाते हैं।

वही तो मत का सर्वस्व है और वही सिद्धान्त का रहस्य है जो जीवों के समूह की रक्षा के लिए है। एवम् वही भावशुद्धिपूर्वक दृढ़ व्रत है।

समस्त मतों के समस्त शास्त्रों में यही सुना जाता है कि अहिंसा लक्षण तो धर्म है (अहिंसा लक्षणो धर्मः) और इसका प्रतिपक्षी (विरोधी) हिंसा करना ही पाप है। इस सिद्धान्त से जो विपरीत वचन हो वह सब विषयाभिलाषी जिह्वालंपट जीवों के हैं। उन्हें दूर से ही तजने योग्य जानना चाहिये।

हे भव्य (मोक्षार्थी)! तू जीवों के लिए अभयदान दे तथा उनसे प्रशंसनीय मित्रता कर और समस्त त्रस (चल) तथा स्थावर (अचल) जीवों को अपने समान देख।[13]

प्राय: सभी भारतीय धर्मों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य, अर्थात् चोरी नहीं करने), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अनावश्यक संग्रह न करने) को धर्म के प्रमुख अंगों के रूप में स्वीकार किया जाता है। जैन धर्म में इन्हें पंचमहाव्रत कहते हैं। इन पाँचों में अहिंसा को ही सबसे प्रमुख धर्म माना जाता है (अहिंसा परमो धर्म:), क्योंकि जैन धर्म में बताये गये अहिंसा के व्यापक अर्थ को ध्यान में रखने पर यह आसानी से समझा जा सकता है कि सत्य, अचौर्य आदि सभी अन्य व्रत अहिंसा के ही अन्दर आ जाते हैं। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट रूप से कहा गया है:

> अहिंसा महाव्रत सत्य आदि अगले चार महाव्रतों का कारण है, क्योंकि सत्य, अचौर्य आदि बिना अहिंसा के नहीं हो सकते और शील आदि उत्तरगुणों का स्थान भी यह अहिंसा ही है; अर्थात् समस्त उत्तर (श्रेष्ठ) गुण भी अहिंसा महाव्रत पर आधारित हैं।[14]

जैनधर्मामृत में भी ऐसा ही कहा गया है:

> यदि वास्तव में देखा जाये तो झूठ, चोरी आदि सभी पाप हिंसा के ही अन्तर्गत हैं। उनका पापरूप से पृथक् उपदेश तो मन्दबुद्धि लोगों को समझाने के लिए ही दिया गया है[15]

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हम देख चुके हैं कि राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान आदि विकारों के उत्पन्न होने से आत्मा के स्वाभाविक गुणों का घात होता है, जिसे हिंसा कहते हैं। इन विकारों से ऊपर उठकर साम्यभाव में स्थित होने को अहिंसा कहते हैं। आन्तरिक हिंसा के अतिरिक्त बाहरी रूप से दूसरों को कष्ट पहुँचाना या मारना तो हिंसा है ही। इस दृष्टि से विचार करने पर यह आसानी से समझा जा सकता है कि झूठ, चोरी, कुशील (व्यभिचार) और परिग्रह (अनावश्यक संग्रह)—ये चारों ही रागादि से उत्पन्न होने के कारण हिंसा के ही अंग हैं। इसके विपरीत सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक चारों व्रत अहिंसा के अंग हैं। यहाँ हम संक्षेप में यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि किस प्रकार असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह आत्मा की पवित्रता

को भंग करते हैं और साथ ही दूसरों को भी कष्ट पहुँचाते हैं। इसलिए ये हिंसा के ही अंग हैं और इनका त्याग करना अहिंसा के पालन के लिए आवश्यक है।

अन्तर की पवित्रता से उत्पन्न यथार्थ वचन को ही सत्य कहते हैं। इसके विपरीत बोले गये वचन को असत्य कहते हैं। इसलिए झूठ, कठोर तथा निन्दापूर्ण वचन और अनावश्यक अनाप-शनाप बकना—ये सभी वचन के दोष हैं, जो वास्तव में असत्य के ही अन्दर आ जाते हैं। इस बात को सभी जानते हैं कि मानव-जगत् का सम्पूर्ण व्यवहार मुख्य रूप से वचनों के आधार पर ही चलता है। इसलिए वचन के दुरुपयोग से अपनी और दूसरों की हानि होती है। झूठ और निन्दा से अपनी अन्तरात्मा दूषित होती है और दूसरों को भी कष्ट होता है। कठोर वचन या तीखी बोली की चुभन तीर, तलवार या बन्दूक की गोली के आघात से भी अधिक समय तक मन को पीड़ित करती रहती है। इस प्रकार असत्य वचन आत्मघाती है और साथ ही परघाती भी। इसलिए असत्य को हिंसा और सत्य को अहिंसा का अंग माना जाता है।

व्यक्ति और समाज के लिए आन्तरिक पवित्रता के साथ-साथ यथार्थ और मधुर वचन की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुये नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> यह याद रखना चाहिये कि जब तक अन्त:करण पवित्र न होगा तब तक वचनों में यथार्थता और मधुरता नहीं आ सकती और इनके आये बिना संसार में न तो व्यवहार ही ठीक चल सकता है और न शान्ति ही क़ायम हो सकती है; क्योंकि मनुष्य का पारस्परिक प्रत्येक कार्य और व्यवहार वचन के द्वारा प्रारम्भ होता है। ...इस भाँति जब कि समाज की सामूहिक शान्ति भी असत्य भङ्ग कर डालता है और संसारी कार्य तक असत्य के द्वारा ठीक नहीं चल सकते तो इससे आत्मकल्याण और आत्मोन्नति का होना तो और भी असम्भव है। बल्कि आत्मा असद्वचनों द्वारा पतित और अशान्त ही होती है तथा यह आत्मपतन ही आत्मघात है, जो हिंसा का ही दूसरा नाम है।[16]

इसी प्रकार चोरी करनेवाला अपनी नीच मनोवृत्ति और दुष्कर्मों द्वारा अपनी आत्मा को तो दूषित करता ही है, साथ ही दूसरों की वस्तुओं को चुराकर उन्हें

भी दुःखी बनाता है। इसलिए चोरी को हिंसा का अंग और अचौर्य को अहिंसा का अंग माना गया है।

कुशील (व्यभिचार) द्वारा मनुष्य अपनी दुर्भावना का शिकार होकर अपनी आत्मा के पतन का कारण बनता है और दूसरों को भी इस चरित्रदोष का संगी बनाकर कलंकित करता है। इससे विवेक और सच्चरित्रता का नाश होता है, जिससे मनुष्य पशु के समान बन जाता है। इसलिए कुशील को भी हिंसा का ही अंग माना गया है। इस सम्बन्ध में नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> यदि मनुष्य, मनुष्य ही बना रहना चाहता है और अपना जीवन शान्तिपूर्वक बिताने के साथ-साथ संसार में भी शान्ति क़ायम रखना चाहता है तो इस पाशविक वृत्ति का उसे त्याग करना ही चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि आत्मा के गौरव और उन्नति की परवाह किये बिना इन्द्रियों और मन के दास (गुलाम) बनकर कम से कम अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों को बदनियत और बुरी दृष्टि से देखना एवं स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलतापूर्वक प्रवृत्ति करना, चाहे वह कितनी ही होशियारी से क्यों न की जाये, पापशून्य कार्य नहीं कहला सकता और न इससे संस्कृति तथा सभ्यता का विकास व आत्मोन्नति ही हो सकती है। व्यभिचार में प्रवृत्ति कर स्वयं पतित होना आत्महिंसा और पर-स्त्री को पतित करना परहिंसा स्पष्ट है।[17]

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए संयमपूर्वक रहना आवश्यक है और संयम का अर्थ है मन और इन्द्रियों तथा विशेषरूप से काम-भावना को अपने वश में रखना। संयमी जीव ही एकाग्र होकर ध्यान की साधना कर सकता है।

परिग्रह (अनावश्यक संचय) की प्रवृत्ति मनुष्य के लोभ और तृष्णा को उत्तेजित कर सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनावश्यक मोह-ममता पैदा करती है। फिर सांसारिक धन-दौलत की दौड़ में लगे मनुष्य की आत्म-शान्ति और आत्म-सन्तोष का नाश हो जाता है। आत्म-शान्ति का नाश आत्महिंसा ही तो है। साथ ही बेईमानी, छल-कपट और विश्वासघात द्वारा दूसरों का धन हड़पना या उन्हें उनके अधिकार से वंचित करना स्पष्ट ही परहिंसा है। इसलिए परिग्रह को हिंसा का अंग और अपरिग्रह को अहिंसा का अंग माना जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म के मूल सिद्धान्त के अनुसार सत्य, अचौर्य आदि सभी सद्‌गुण अहिंसा में समा जाते हैं। तभी तो अहिंसा को परम धर्म कहा जाता है।

गृहस्थ और अहिंसा

अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या गृहस्थ-जीवन में रहते हुए मनुष्य अहिंसा के इतने ऊँचे आदर्श को निभा सकता है? गृहस्थ को अपने और अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए खेती, नौकरी आदि कोई न कोई रोज़गार करना ही पड़ता है। फिर चोरों, बदमाशों और लुटेरों से अपनी सुरक्षा के लिए भी कुछ उपाय करना ही होता है। ऐसी स्थिति में त्रस (चल) और स्थावर (अचल) जीवों से भरे इस संसार में किसी भी जीव को न मारने और उन्हें किसी तरह कष्ट न पहुँचाने के नियम को वह पूरी तरह कैसे निभा सकता है? गृहत्यागी साधुओं के लिए भी इसे पूरी तरह निभा पाना कठिन है। गृहस्थ के लिए तो यह प्रायः असम्भव ही है।

जैन धर्म अपने अहिंसा के मूल सिद्धान्त पर दृढ़ रहते हुए व्यावहारिक जीवन की कठिनाइयों पर सूक्ष्मता से विचार कर इस प्रश्न का उचित समाधान प्रस्तुत करता है। हम देख चुके हैं कि जैन धर्म में अपने आन्तरिक भावों और इरादों को पवित्र रखने तथा जीव-दया और जीव-रक्षा को अपना स्वाभाविक कर्तव्य समझने को ही अहिंसा का वास्तविक रूप माना जाता है। यदि गृहस्थ इस आन्तरिक पवित्रता के साथ सावधानीपूर्वक हिंसा से बचने का प्रयत्न करते हुए अपने कर्तव्य को निभाता है तो उसे अहिंसक ही माना जायेगा।

जैन धर्म में यह स्पष्ट किया जाता है कि दूसरे जीवों की हिंसा चार प्रकार से होती है जिन्हें (1) संकल्पी (2) आरम्भी (3) उद्योगी और (4) विरोधी हिंसा कहते हैं।

(1) संकल्पी हिंसा वह है जो संकल्प करके (इरादे से) की जाती है, जैसे किसी जीव को जान-बूझकर मारना या कष्ट पहुँचाना। (2) आरम्भी हिंसा वह है जो घर-गृहस्थी के कामों को करने में अनजाने हो जाती है, जैसे झाड़ू देने, रसोई बनाने, घर की धुलाई-सफ़ाई आदि कामों को सावधानीपूर्वक करने पर भी कुछ जीवों को कष्ट हो जाता है या उनकी मृत्यु हो जाती है।

(3) उद्योगी हिंसा वह है जो खेती-बारी करने, कल-कारख़ाने चलाने आदि रोज़ी-रोज़गार के कामों को सावधानीपूर्वक करने में भी हो जाती है। (4) विरोधी हिंसा वह है जो अपने तथा अपने परिवार, समाज, देश आदि की दुष्टों, आततायियों आदि से रक्षा करने में अनिच्छापूर्वक की जाती है।

गृहस्थ को संकल्पी हिंसा का तो त्याग अवश्य कर देना चाहिए। पर बाक़ी तीन प्रकार की हिंसा का पूर्ण त्याग उसके लिए सम्भव नहीं है। इसलिए जैन धर्म में गृहस्थ के लिए अहिंसा महाव्रत (सभी अवस्थाओं में सभी प्रकार के जीवों की हिंसा के त्याग) के बदले अहिंसा अणुव्रत (परिस्थिति के अनुसार यथासम्भव हिंसा के त्याग) का विधान किया जाता है। खेती-बारी आदि कामों में लगे गृहस्थ के लिए स्थावर और एक इन्द्रियवाले पेड़-पौधों या वनस्पतियों की हिंसा से बच पाना सम्भव नहीं है। इसलिए गृहस्थ को शन्तिपूर्वक धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए अहिंसा अणुव्रत का पालन करना चाहिए। अर्थात् उन्हें संकल्पी हिंसा का पूर्ण त्याग करते हुए अपने इरादे से दो से पाँच इन्द्रियोंवाले त्रस (चलनेवाले) जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए और आवश्यकता के बिना वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव की भी यथासम्भव रक्षा करने का ख़याल रखना चाहिए। *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में स्पष्ट कहा गया है:

> गृहस्थ से एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का त्याग नहीं हो सकता है, इसलिए यदि योग्य रीति से कार्य करते हुए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है तो होओ, इसके अतिरिक्त व्यर्थ और असावधानी से कार्य करने में जो एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है उसका तो अवश्य ही त्याग होना चाहिये।[18]

शान्तिपूर्वक धार्मिक जीवन व्यतीत करनेवाले गृहस्थ को न चाहते हुए भी आवश्यक परिस्थितियों में अपने और अपने परिवार या समाज की रक्षा के लिए विरोधी हिंसा करनी पड़ती है। उस विशेष परिस्थिति में हिंसा रक्षा के उद्देश्य से की जाती है। इसलिए जैन धर्म गृहस्थ के लिए इस हिंसा को उचित मानता है। इस विरोधी हिंसा का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

जब कोई आततायी या हिंसक पशु नगर में घुसकर अनेकों व्यक्तियों की हिंसा करता है, उस समय लोगों की रक्षा के भाव से कोई व्यक्ति उसका सामना करता है और इस पर-रक्षा के समय उसके द्वारा यदि आक्रमण करनेवाला मारा जाता है, तो यद्यपि वहाँ एक आततायी की हिंसा हुई है, तथापि सैकड़ों निरपराध व्यक्तियों के प्राणों की भी रक्षा उसके मारे जाने से ही हुई है और इस प्रकार एक के मारने की अपेक्षा अनेकों की रक्षा का पुण्य विशाल है। इसीलिए कहा गया है कि कहीं पर की गई हिंसा अहिंसा के विपुल फल को देती है।[19]

गृहस्थों को विरोधी हिंसा की अनुमति दिये जाने के कारण को समझाते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

सच तो यह है कि यदि गृहस्थ राज्यादि कार्यों को करते हुए अथवा गृहस्थी की ज़िम्मेदारी का भार सम्भालते हुए विरोधी हिंसा का बिल्कुल त्याग कर दें तो दुनियाँ में अंधेर मच जाये—आततायी लोग लूट, मार, हत्या, व्यभिचार, बलात्कार आदि करने में निःशङ्क हो कमर कस कर जुट जायें और किसी भी गृहस्थ का धर्म, जान, माल, देश आदि ख़तरे से ख़ाली न रहे। इसलिए गृहस्थों से अहिंसा का एकदेश (आंशिक) पालन ही हो सकता है और उसी के पालन करने की उन्हें प्रेरणा दी गई है।[20]

इस प्रकार गृहस्थ के लिए आवश्कतानुसार अहिंसा के पालन की एक अपनी मर्यादा है। संक्षिप्त रूप में इसका संकेत देते हुए हुकमचन्द भारिल्ल कहते हैं:

जहाँ गृहस्थ बिना प्रयोजन चींटी तक का बध नहीं करता है; वहाँ देश, समाज, घर-बार, माँ-बहिन, धर्म और धर्मायतन की रक्षा के लिए तलवार उठाने में भी संकोच नहीं करता।[21]

इस प्रकार अपने भावों और इरादों को पवित्र रखते हुए तथा दयापूर्वक दूसरों की रक्षा का ध्यान रखते हुए गृहस्थ का सावधानी के साथ किया हुआ कार्य अहिंसा ही माना जाता है।

यहाँ यह याद रखना चाहिए कि अहिंसा वीरों का धर्म है, वीरों का आभूषण है न कि कायरता की निशानी। यह दुर्बलता का प्रतीक नहीं, बल्कि सबलता का सूचक है। मनोबल की हीनता, आततायियों के अन्याय को सहन करना, प्रतिकार या प्रतिरोध न करना अहिंसा नहीं। अहिंसा माँगती है त्याग, आत्म-संयम और आत्म-विश्वास तथा एक उदार मानवीय संकल्प। ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ, लोभ-लालच के ऊपर उठकर सौम्य व्यवहार, मधुर वचन, पर-पीड़ा निवारण अहिंसा के सोपान हैं। अहिंसा सक्रिय प्रेम का व्यावहारिक रूप है।

अहिंसा परम शूरवीरों का अस्त्र है। इसमें अनावश्यक हिंसा के प्रयोग के लिए कोई भी स्थान नहीं है। यह निष्क्रिय स्थिति नहीं, बल्कि प्रबल सक्रियता की स्थिति है। अहिंसा सिखाती है बुराई के बदले भलाई, वैरी को बैर से नहीं, धैर्य एवं सहानुभूति से ग़लती से मुक्त कराने की भावना। जो एक को सत्य प्रतीत होता है वही दूसरों को ग़लत दिखाई दे सकता है। ऐसी स्थिति में विरोधी को कष्ट अथवा पीड़ा देकर नहीं, बल्कि उसे क्षमा कर तथा स्वयं कष्ट उठाकर उसे सत्य की प्रतीति करायी जा सकती है और उसे अपने वश में किया जा सकता है। अत: जहाँ अहिंसा से काम लिया जा सकता है, वहाँ असहिष्णु बनकर लड़ना-झगड़ना वीरता नहीं, मूर्खता है।

अहिंसा सिखाती है निर्भयता और निर्भयता वीरता का लक्षण है। क्षमा वही व्यक्ति कर सकता है जिसमें शौर्य का गुण हो, कष्ट सहने का सामर्थ्य हो। अहिंसक आचरण व मनोवृत्ति विद्रोहियों की हिंसात्मक प्रवृत्ति को भी बदल देती है। इस प्रकार अहिंसा हृदय-परिवर्तन का एक सक्षम शस्त्र है।

इस संदर्भ में नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> वे पुरुष वीर कहलाते हैं जो किसी आततायी के द्वारा सताये जाने पर आत्मरक्षा करने में पूर्ण समर्थ होते हैं और उसे वश कर उस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं; किन्तु जो प्रतीकार करने में पूर्ण समर्थ होते हुए भी दुश्मन की दुष्टता और मूर्खता का बदला लेने की अपेक्षा उसे हृदय से क्षमा कर देते हैं वे वास्तव में महावीर और सच्चे अहिंसक हैं। अपराधी को हृदय से क्षमा कर देना और उसका तनिक भी ख्याल न लाना कितना

कठिन और वीरता का कार्य है, इसे साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकते। ऐसी नासमझी से जो लोग उक्त प्रकार के महावीर पुरूषों को कायर कहने का साहस करते हैं, वे वीरता और धर्म का ही अपमान करते हैं। ...कायर वे हैं जो बलवान शत्रु का प्रतीकार करने में स्वयं असमर्थ होने पर या सामर्थ्य होने पर भी साहस के अभाव में डर के मारे मुँह छिपा कर बैठ जाते हैं और मन ही मन तो उसे कोसते हैं व द्वेष करते रहते हैं; किन्तु ऊपर से दिखावटी 'क्षमा क्षमा' का राग अलापते हैं। यह कायरता है और इसमें व हिंसा में नाम मात्र का ही अंतर है।[22]

अत: अहिंसा कर्तव्य और अकर्तव्य में अन्तर करना सिखाती है और कर्तव्य के मार्ग पर चलना सिखाती है। जो व्यक्ति अहिंसा की शक्ति, मर्यादा और व्याख्या से परिचित हैं वे कभी भी अहिंसा की निन्दा नहीं कर सकते।

अहिंसा की महिमा

अहिंसा के सम्बन्ध में यहाँ अब तक जो कुछ कहा गया है उससे इतना तो स्पष्ट है कि जैन धर्म में अहिंसा पर पूरी गम्भीरता से विचार किया गया है। जैन धर्म के अनुसार अहिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें प्राय: सभी अन्य व्रत और धार्मिक नियम समा जाते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अहिंसा ही धर्म का लक्षण है। यही सभी धार्मिक व्रतों और नियमों का मूल है। अहिंसा की महिमा बताते हुए *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

इस लोक में जैसे परमाणु से कोई छोटा व अल्प नहीं है और आकाश से कोई बड़ा नहीं है, इसी प्रकार अहिंसारूप धर्म से बड़ा कोई धर्म नहीं है। यह जगत्प्रसिद्ध लोकोक्ति है: 'अहिंसा परमो धर्म: हिंसा सर्वत्र गर्हिता', अर्थात् अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है और हिंसा की सर्वत्र निन्दा होती है।

यह अहिंसा अकेली जीवों को सुख, कल्याण व अभ्युदय देती है; वह तप, स्वाध्याय और यमनियमादि नहीं दे सकते हैं, क्योंकि धर्म के समस्त अंगों में अहिंसा ही एक मात्र प्रधान है।[23]

इसी भाव को व्यक्त करते हुए *जिन-वाणी* में भी कहा गया है:

जिस प्रकार समस्त लोक में समस्त पर्वतों से ऊँचा मेरु पर्वत है उसी प्रकार समस्त शीलों और व्रतों में अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ जानना चाहिए।

अहिंसा ही समस्त आश्रमों का हृदय है, समस्त शास्त्रों का गर्भ अर्थात् उत्पत्ति-स्थान है तथा सभी व्रतों और गुणों का पिण्डरूप एकीकृत सारभूत है।[24]

अहिंसा के पालन से ही जीवों का प्रतिपालन होता है और इस सर्वश्रेष्ठ व्रत का पालन करनेवाला सच्चे आन्तरिक आनन्द का अनुभव करता है। अहिंसाव्रती ही उत्तम गति और मोक्ष का अधिकारी होता है। अहिंसा द्वारा प्राप्त होनेवाले अनेक उत्तम लाभों का उल्लेख करते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

अहिंसा तो जगत् की माता है, क्योंकि समस्त जीवों की प्रतिपालना करनेवाली है। अहिंसा ही आनन्द की सन्तति अर्थात् परिपाटी है। अहिंसा ही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी (मोक्ष) है। जगत् में जितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब अहिंसा ही में हैं।

यह अहिंसा ही मुक्ति प्रदान करती है तथा स्वर्ग की लक्ष्मी को देती है और अहिंसा ही आत्मा का हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओं को नष्ट करती है।

तप, श्रुत (शास्त्र का ज्ञान), यम (महाव्रत), ज्ञान (बहुत जानना), ध्यान और दान करना तथा सत्य, शील, व्रतादिक जितने उत्तम कार्य हैं उन सबकी माता एक अहिंसा ही है। अहिंसा व्रत के पालन बिना उपर्युक्त गुणों में से एक भी नहीं होता। इस कारण अहिंसा ही समस्त धर्म कार्यों की उत्पन्न करनेवाली माता है।

इस संसाररूप तीव्र भय से भयभीत होनेवाले जीवों को यह अहिंसा ही एक परम औषधि है, क्योंकि यह सबका भय दूर करती है तथा स्वर्ग जाने के लिए अहिंसा ही मार्ग में अतिशय व पुष्टिकारक पाथेयस्वरूप (भोजनादि की सामग्री) है।[25]

इसी प्रकार *जैनधर्मामृत* में भी अहिंसा की महिमा का गुणगान करते हुए इसे परम कल्याणकारी बताया गया है:

> अहिंसा ही माता के समान सर्व प्राणियों का हित करनेवाली है और अहिंसा ही संसाररूप मरुस्थली में अमृत बहानेवाली नहर है। अहिंसा ही दु:खरूप दावाग्नि को शमन (शान्त) करने के लिए वर्षाकालीन मेघावली है और अहिंसा ही भव भ्रमणरूप रोग से पीड़ित प्राणियों के लिए परम औषधि है।
>
> अतएव प्राणियों की हिंसा का त्याग कर उन्हें अभयदान दो, उनके साथ निर्दोष, निश्छल मित्रता करो और समस्त चर-अचर जीवलोक को अर्थात् त्रस और स्थावर प्राणियों को अपने सदृश देखो।[26]

अहिंसा की श्रेष्ठता का कारण बताते हुए जैन धर्म में यह स्पष्ट किया गया है कि सबको अपना जीवन सबसे अधिक प्यारा होता है। अपनी सारी धन-सम्पत्ति और क़ीमती से क़ीमती वस्तु देकर भी हम अपने जीवन की रक्षा करना चाहते हैं। इसलिए अहिंसा अर्थात् जीव-दया और जीव-रक्षा के समान अन्य कोई धार्मिक कार्य नहीं हो सकता। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

> जो कोई किसी मनुष्य को मर जाने के बदले में नगर, पर्वत तथा सुवर्ण रत्न धन धान्यादि से भरी हुई समुद्रपर्यन्त की पृथ्वी का दान करै तौ भी अपने जीवन को त्याग करने में उसकी इच्छा नहीं होगी।
>
> भावार्थ—मनुष्यों को जीवन इतना प्यारा है कि मरने के लिए जो कोई समस्त पृथ्वी का राज्य दे दे तौ भी मरना नहीं चाहता। इस कारण एक जीव को बचाने में जो पुण्य होता है वह समस्त पृथ्वी के दान से भी अधिक होता है।
>
> इस जीवलोक में (जगत् में) जीव रक्षा के अनुराग से मनुष्य समस्त कल्याणरूप पद को प्राप्त होते हैं। ऐसा कोई भी तीर्थंकर, देवेन्द्र, चक्रर्त्तित्वरूप कल्याणपद लोक में नहीं है जो दयावान नहीं पावें। अर्थात् अहिंसा (दया) सर्वोत्तम पद को देनेवाली है।[27]

मनुष्य-जाति अपनी विवेक-शक्ति के कारण ही पशुओं की जाति से भिन्न और उससे ऊँची मानी जाती है। इस विवेक-शक्ति की वृद्धि करुणा या दया-भाव (अहिंसा) द्वारा होती है। इसलिए करुणा-भाव या अहिंसा-भाव को बढ़ाना ही अपनी मनुष्यता का विकास करना है। करुणा और विवेक के इस सम्बन्ध की ओर ध्यान दिलाते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

> पुरुषों के हृदय में जैसे-जैसे करुणाभाव स्थिरता को प्राप्त करता है तैसे-तैसे विवेकरूपी लक्ष्मी उससे परमप्रीति प्रकट करती रहती है। भावार्थ—करुणा (दया) विवेक को बढ़ाती है।[28]

मनुष्य अपने विवेक द्वारा स्वयं ही विचार कर सकता है कि तनिक-सी पीड़ा होने पर उसे कितनी बेचैनी और दर्द महसूस होता है। तो फिर वह दूसरे जीवों की हिंसा करके अपने को विवेकशील मनुष्य कैसे कह सकता है? इसलिए मनुष्य को 'मनुष्य' कहलाने के लिए अहिंसक होना आवश्यक है। वास्तव में मनुष्य के लिए हिंसा बड़ा भारी अनर्थ है, जैसा कि *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

> जो मनुष्य अपने शरीर में तिनका चुभने पर भी अपने को दुःखी हुआ मानता है वह निर्दय होकर पर (दूसरे) के शरीर पर शस्त्र कैसे चलाता है? यह बड़ा अनर्थ है।[29]

जो मनुष्य अपने बल और अधिकार का दुरुपयोग कर दूसरों को मारता या कष्ट पहुँचाता है उसे अपनी निर्दयता का कठोर दण्ड अगले जीवन में अवश्य भोगना पड़ता है। जो दूसरों का भला नहीं करता वह अपना भला कैसे मना सकता है? *ज्ञानार्णव* में बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहा गया है:

> जो बलवान् पुरुष इस लोक में निर्बल का पराभव (अनादर या विनाश) करता व सताता है वह परलोक में उससे अनन्तगुणा पराभव सहता है। अर्थात्—जो कोई बलवान् निर्बल को दुःख देता है तो उसका अनन्त गुणा दुःख वह स्वयम् अगले जन्म में भोगता है।

> जिस पुरुष का चित्त जीवों के लिए शस्त्र के समान निर्दय है उसका तप करना और शास्त्र का पढ़ना आदि कार्य केवल कष्ट के लिए ही होता है, कुछ भलाई के लिए नहीं होता।[30]

इसके विपरीत जो महापुरुष दृढ़तापूर्वक अहिंसा का पालन करते हैं उनके अन्तर की शान्ति और पवित्रता का प्रभाव उनके सम्पूर्ण वातावरण को शान्तिमय और पवित्र बना देता है। सबके प्रति दया, करुणा, मैत्री और जीव-रक्षा का भाव रखनेवाले साधुजनों के चारों ओर एक सूक्ष्म (अदृष्ट) प्रभा-मण्डल बन जाता है जो उनके आस-पास दया और करुणा का भाव बिखेरकर उनके लिए एक सुरक्षा कवच का काम करता है। ऐसे साधुजनों के शान्ति पूर्ण आत्मतेज और अनुपम अमोध (अचूक) शक्ति के सामने हिंसक, विरोधी और उपद्रवी दुष्टजन भी नतमस्तक हो जाते हैं। यहाँ तक कि हिंसक पशु भी उनके सामने अपने जन्मजात वैरभाव और उग्रता को भुलाकर शान्त और नम्रभाव धारण कर लेते हैं। अहिंसा की अपार शक्ति, अद्‌भुत प्रभाव और अनुपम महिमा का उल्लेख नाथूराम डोंगरीय जैन इन शब्दों में करते हैं:

> अहिंसा की शक्ति और महिमा दोनों ही अनुपम व अचिन्त्य हैं। जब साधु पुरुष मन वचन कर्म से अहिंसक और वीतराग बनकर आत्मशुद्धि करने का प्रयत्न करते हैं, उस समय उनमें जो आत्मतेज प्रकट होता है उसके प्रभाव से बड़े-बड़े अभिमानियों का मस्तक उनके चरणों में अपने-आप झुक जाता है और जङ्गल के मृग और सिंहादि पशु-पक्षी भी अपने आपसी जन्मजात वैर विरोध का त्याग कर शान्ति के साथ उनके चरणों में जा बैठते हैं। ...जिस महापुरुष की अन्तरात्मा में शुद्ध अहिंसा का अथाह समुद्र भरा हुआ है उसका प्रभाव यदि विद्वेषियों और विद्रोहियों की हिंसात्मक भावनाओं को कुंठित और हतप्रभ बनाकर उन्हें भी अहिंसक और नम्र बनादे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?[31]

अहिंसा के अद्‌भुत प्रभाव का वर्णन करते हुए *योगसूत्र* में भी कहा गया है:

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैर त्याग: ।[32]

अर्थात् अहिंसा में पूरी तरह दृढ़ हो जाने पर उस साधुजन के आस-पास सभी प्राणी वैरभाव का त्याग कर देते हैं।

हिंसा की घोर निन्दा

ऊपर बताया जा चुका है कि अहिंसा धर्म का लक्षण है। इसके ठीक विपरीत हिंसा को अधर्म का लक्षण माना गया है। इसलिए जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। जैन ग्रन्थों में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में हिंसा को समस्त पापों का मूल, नरक का द्वार और घोर अनर्थ का कारण कहा गया है। उदाहरण के लिए, *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च।
अहिंसा लक्षणो धर्मस्तद्विपक्षश्च पातकम्॥

सर्व शास्त्रों में और सर्व मतों में यही सुना जाता है कि धर्म का लक्षण अहिंसा ही है और हिंसा करना ही पाप है।

हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, हिंसा ही पाप का समुद्र है, हिंसा ही घोर रौरव नरक है और हिंसा ही गहन अन्धकार है।[33]

ज्ञानार्णव में भी कहा गया है:

यह हिंसा ही नरकरूपी घर में प्रवेश करने के लिए प्रतोली (मुख्य दरवाज़ा) है तथा जीवों को काटने के लिए कुठार (कुल्हाड़ा) और विदारने के लिए निर्दयरूपी शूली है। जो धर्मरूप वृक्ष उत्तम क्षमादिक उदार संयमों से बहुत काल से बढ़ाया जाता है वह इस हिंसारूप कुठार से क्षण मात्र में नष्ट हो जाता है।
भावार्थ—जहाँ हिंसा होती है वहाँ धर्म का लेश भी नहीं रहता।

संसार में जीवों के जो कुछ दु:ख, शोक, भय का बीज कर्म है तथा दुर्भाग्यादिक हैं वे समस्त एकमात्र हिंसा से उत्पन्न हुए जानो।
भावार्थ—समस्त पापकर्मों का मूल हिंसा ही है।[34]

हिंसा करनेवाले को अपने हिंसक कर्मों के फलस्वरूप जिस दुर्गति का सामना करना पड़ता है उसकी कल्पना से ही जी दहल जाता है। उसकी विकरालता (भयंकरता) का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। जीवहिंसा द्वारा मानव अपने को दानव (राक्षस) बना डालता है। इसलिए जीवहिंसक का मन कभी भी ध्यान, समाधि आदि अन्तर्मुखी अभ्यास में नहीं लग सकता। इसे समझाते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

> जीवों के घात (हिंसा) करने से पापकर्म उपार्जन होता है। उसका जो फल अर्थात् दुःख नरकादिक गति में जीव भोगते हैं वह वचन के अगोचर है, अर्थात् वचन से कहने में नहीं आ सकता।
>
> हृदय में क्षणभर भी स्थान पाई हुई यह हिंसा तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनादि (ध्यान, अध्ययन आदि) कार्यों को निरंतर पीड़ा देती है।
>
> भावार्थ—क्रोधादि कषायरूप परिणाम (हिंसारूप परिणाम) किसी कारण से एकबार उत्पन्न हो जाते हैं तो उनका संस्कार (स्मरण) लगा रहता है। वह तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनकार्यों में चित्त को नहीं ठहरने देता, इस कारण यह हिंसा महा अनर्थकारिणी है।
>
> जो पापी नर अपने और अन्य के सुख-दुःख व हित-अनहित को न विचार कर जीवों को मारता है वह मनुष्यजन्म में भी राक्षस है, क्योंकि मनुष्य होता तो अपना व पर का हिताहित विचारता।[35]

जब हिंसक किसी जीव की हिंसा करता है तब वह भूल जाता है कि उस जीव की हिंसा करने में वह स्वयं अपनी भी हिंसा कर रहा है। दूसरे जीवों की हिंसा करने से पहले वह स्वयं ही अपने अन्दर राग, द्वेष, क्रोध आदि विकारों के उठने से अपनी हिंसा या आत्मघात करता है। इसलिए हिंसा का त्याग करने में ही आत्महित है। *जिन-वाणी* में स्पष्ट कहा गया है:

> किसी अन्य जीव का वध स्वयं अपना ही वध है तथा अन्य जीवों की दया अपने पर ही दया है। अतएव हिंसा का विष कण्टक के समान परिहरण (त्याग) करना चाहिए।[36]

पहले कहा जा चुका है कि दया धर्म का मूल है। इसलिए जैन धर्म में दयास्वरूप अहिंसा को धर्म का लक्षण माना जाता है। इसके विपरीत हिंसा को अधर्म का लक्षण समझा जाता है। इसप्रकार धर्म और हिंसा एक दूसरे के विपरीत हैं। धर्म में हिंसा को कभी मिलाया नहीं जा सकता। फिर भी कुछ अज्ञानी और पाखण्डी लोग मनगढ़न्त शास्त्रों की रचना कर धर्म के नाम पर पशुओं की बलि चढ़ाने या अन्य प्रकार से जीवहिंसा करने को उचित ठहराते हैं। जैन धर्म के अनुसार दयापूर्ण धर्म में निर्दयतापूर्ण हिंसा को मिलाना भारी अनर्थ है, जैसा कि *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

> आचार्य (शुभचन्द्राचार्य) महाराज आश्चर्य के साथ कहते हैं कि देखो! धर्म तो दयामयी जगत् में प्रसिद्ध है, परन्तु विषयकषाय (विषय-विकारों) से पीड़ित पाखण्डी हिंसा का उपदेश देनेवाले (यज्ञादिक में पशुहोमने तथा देवी आदि के लिए बलिदान करने आदि हिंसाविधान करनेवाले) शास्त्रों को रचकर जगत् के जीवों को बलात्कार नरकादिक में ले जाते हैं। यह बड़ा ही अनर्थ है।[37]

धर्म के नाम पर जीवों को मारनेवाले, मारे गये जीवों का मांस खानेवाले और इसप्रकार के उपदेशों को देनेवाले—ये सभी नरक के अधिकारी होते हैं। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

> जो मांस के खानेवाले हैं वे सातवें नरक के रौरवादि (नरकों) में प्रवेश करते हैं और वहीं पर जीवों को घात करनेवाले शिकारी आदिक भी पीड़ित होते हैं।
> भावार्थ—जो जीवघातक मांसभक्षी पापी हैं, वे नरक में ही जाते हैं और जो जीवघात को ही धर्म मानकरके उपदेश करते हैं वे अपने और परके-दोनों के घातक हैं; अत: वे भी नरक ही के पात्र हैं।[38]

जिनका विवेक नष्ट हो गया है वे ही ऐसा सोच सकते हैं कि दूसरे जीवों की बलि चढ़ाने या उन्हें मारने से मारनेवाले का विघ्न टल जायेगा और उसे सुख-शान्ति प्राप्त हो जायेगी। दूसरों की हत्या करने या उन्हें दु:ख देने के

फलस्वरूप हिंसक को सुख-शान्ति कैसे मिल सकती है? दूसरों की हिंसा करना यों ही एक अनर्थ है। फिर धर्म के नाम पर हिंसा करना तो घोर अनर्थ है। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

> अपनी शान्ति के अर्थ अथवा देवपूजा के तथा यज्ञ के अर्थ जो मनुष्य जीवघात (जीवहिंसा) करते हैं वह घात भी जीवों को शीघ्र ही नरक में डालता है।
>
> कुलक्रम से जो हिंसा चली आई है वह उस कुल को नाश करने के लिए ही कही गई है तथा विघ्न की शान्ति के अर्थ जो हिंसा की जाती है वह विघ्नसमूह को बुलाने के लिए ही है।
>
> भावार्थ—कोई कहै कि हमारे कुल में देवी आदि का पूजन चला आता है, अतएव हम बकरे, भैंसों का घात करके देवी को चढ़ाते हैं और इसीसे कुलदेवी को सन्तुष्ट हुई मानते हैं तथा ऐसा करने से कुलदेवी कुल की वृद्धि करती है, इस प्रकार श्रद्धान करके जो बकरे आदि की हिंसा की जाती है वह कुलनाश के लिए ही होती है, कुलवृद्धि के लिए कदापि नहीं। तथा कोई-कोई अज्ञानी विघ्नशान्त्यर्थ हिंसा करते हैं और यज्ञ कराते हैं। उनको उलटा विघ्न ही होता है और उनका कभी कल्याण नहीं हो सकता है। सुख के अर्थ की हुई हिंसा दुःख की परिपाटी करती है, मंगलार्थ की हुई हिंसा अमङ्गल करती है तथा जीवनार्थ की हुई हिंसा मृत्यु को प्राप्त कराती है। इस बात को निश्चय जानना।
>
> जो अधम शास्त्रों का प्रमाण देकर जीवों का वध करना धर्म बताते हैं वे मृत्यु होने पर नरक में शूलीपर चढ़ाये जाते हैं।
>
> हिंसा को धर्म माननेवाले या ऐसा कहनेवाले अधर्मी हैं, क्योंकि जिस शास्त्र में जीववध धर्म कहा हो वह शास्त्र कदापि प्रमाणभूत नहीं कहा जा सकता। उसको जो अज्ञानी प्रमाण मानकर हिंसा करते हैं वे अवश्य ही नरक में पड़ते हैं।[39]

धर्म के नाम पर हिंसा कर अपना कल्याण चाहनेवाला मनुष्य उस अनाड़ी व्यक्ति के समान है जो पत्थर पर चढ़कर समुद्र के पार जाना चाहता है या

विष मिलाया हुआ भोजन खाकर अपने जीवन को सुरक्षित रखना चाहता है। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

> जो मूढ़ अधम धर्म की बुद्धि से जीवों को मारता है सो पाषाण (पत्थर) की शिलाओं (चट्टानों) पर बैठकर समुद्र को तैरने की इच्छा करता है, क्योंकि वह नियम से डूबेगा। जो पापी धर्म की बुद्धि से जीवघातरूपी पाप को करते हैं वे अपने जीवन की इच्छा से हालाहल विष को पीते हैं।[40]

धर्म वास्तव में पवित्रता प्रदान करनेवाला है। इसे मोक्ष का साधन माना जाता है। वे मनुष्य सचमुच भाग्यहीन हैं जो अन्धविश्वास के शिकार होकर धर्म के नाम पर हिंसा करके धर्म को कलंकित करते हैं और अपने अनमोल मनुष्य-जीवन को दुर्गति ओर ले जाते हैं।

आज के युग में तकनीकी ज्ञान-विज्ञान का बहुत विकास हुआ है। इसलिए इस युग को एक विकसित युग माना जाता है। पर इस विकसित माने जानेवाले युग में भी हम धर्म, जाति और सम्प्रदाय की संकीर्णता से मुक्त नहीं हुए हैं। हमारे अन्दर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्पर्द्धा, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष और परस्पर वैर-विरोध के भाव आज भी प्राय: पहले जैसे ही बने हुए हैं, जो कभी भी हिंसा और युद्ध के रूप में भड़क सकते हैं। आज के युग का समाज पहले जैसा एक-दूसरे से अनजान और दूर नहीं रह गया है। इसलिए आज हम एक-दूसरे से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। ऐसी स्थिति में आज के युग की हिंसा और युद्ध के परिणामों में जिस व्यापकता और विकरालता की सम्भावना है, उसकी पहले कभी किसी ने कल्पना भी न की होगी। इसलिए वर्तमान युग में जैन धर्म द्वारा बतायी गयी अहिंसा को अपनाना और हिंसा को त्यागना और भी अधिक आवश्यक हो गया है।

पहले ज़माने की हिंसा और युद्ध की तुलना में आज की हिंसा और युद्ध से होनेवाले सर्वव्यापी संहार की ओर ध्यान दिलाकर हुकमचन्द भारिल्ल जैन धर्म के अहिंसा-सिद्धान्त की वर्तमान आवश्यकता को इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं:

पहले के ज़माने में युद्ध के मैदान में सिपाही लड़ते थे और सिपाही ही मरते थे; पर आज युद्ध सिपाहियों तक ही सीमित नहीं रह गया है, युद्ध मैदानों तक ही सीमित नहीं रह गया है; आज उसकी लपेट में सारी दुनिया आ गयी है। आज की लड़ाइयों में मात्र सिपाही ही नहीं मरते, किसान भी मरते हैं, मजदूर भी मरते हैं, व्यापारी भी मरते हैं, खेत-खलियान भी बर्बाद होते हैं, कल-कारखाने भी नष्ट होते हैं, बाजार और दुकानें भी तबाह हो जाती हैं। अधिक क्या कहें, आज के इस युद्ध में अहिंसा की बात कहनेवाले पण्डित और साधुजन भी नहीं बचेंगे, मन्दिर-मस्जिद भी साफ हो जावेंगे। आज के युद्ध सर्वविनाशक हो गये हैं। आज हिंसा जितनी भयानक हो गयी है, भगवान् महावीर की अहिंसा की आवश्यकता भी आज उतनी ही अधिक हो गयी है।[41]

वास्तव में जैन धर्म के अनुसार अहिंसा का पालन व्यक्ति और समाज—सबके लिए सर्वदा और सर्वथा (सभी प्रकार से) कल्याणकारी और सुखदायी माना जाता है, जबकि हिंसा सबके लिए सदा और सभी प्रकार से पापमयी, दु:खदायी और दुर्गति की ओर ले जानेवाली मानी जाती है।

मांस-मदिरा का निषेध

धर्म को कलंकित न कर इसे पवित्र बनाये रखने के लिए अहिंसा का पालन करना आवश्यक है और अहिंसा का पालन सही ढंग से करने के लिए अपने खान-पान की शुद्धि पर ध्यान रखना आवश्यक है। केवल जीभ के स्वाद के लिए या दूसरों की देखा-देखी निरपराध (बेकसूर) जीवों को मारकर उनका मांस खाना और थोड़ी-सी नशे की मस्ती के लिए शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवनकर अपनी आत्मा को दूषित करना अपने को पतन की ओर ले जाना है। मांस-मदिरा के सेवन से आत्मा विकारयुक्त हो जाती है और इसके लिए मोक्ष-मार्ग में आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। इसलिए जैन धर्म में मांस-मदिरा का सर्वथा निषेध किया गया है।

मांस का निषेध करते हुए जैन धर्म में समझाया गया है कि मांस की उत्पत्ति जीवहिंसा किये बिना नहीं होती। यदि कोई कहे कि किसी दूसरे द्वारा मारे गये

या स्वयं मरे हुए पशु का मांस खाने में कोई हिंसा नहीं होती तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उस मांस में भी उस मांस पर आश्रित रहनेवाले अनेकों जीवों की हिंसा होती है। इस प्रकार स्वयं मारकर, दूसरों द्वारा मारे गये या अपने-आप मरे हुए जीवों का मांस चाहे पकाकर या बिना पकाये खाना हिंसा का ही कार्य माना जायेगा। *जैनधर्मामृत* में स्पष्ट कहा गया है:

> यत: (चूँकि) प्राणों के घात किये बिना मांस की उत्पत्ति नहीं होती है, अत: मांस-भक्षी पुरुष के अनिवार्य (निश्चय ही) हिंसा होती है। भावार्थ—मांस का भक्षण करनेवाला पुरुष भले ही अपने हाथ से किसी जीव को न मारे तथापि वह हिंसा के पाप का भागी होता ही है।[42]

अपने-आप मरे हुए जीवों का मांस खाने से होनेवाली हिंसा का उल्लेख करते हुए *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में कहा गया है:

> यद्यपि यह ठीक है कि कभी अपने आप से ही मरे हुए भैंस, बैल आदि पशुओं का मांस मिल जाता है। पर वहाँ भी, अर्थात् उस मांस के खाने में भी, उस मांस के आश्रित रहनेवाले उस मरे हुए पशु की जाति के अनेक सूक्ष्म जीवों का घात होने से हिंसा तो होती ही है।[43]

पकाये हुए या बिना पकाये हुए मांस को केवल खाना ही नहीं, बल्कि छूना भी हिंसा के पाप का दोषी बनाता है। *जैनधर्मामृत* में स्पष्ट कहा गया है:

> जो जीव कच्ची अथवा पकी हुई मांस की डली को खाता है, अथवा छूता है, वह पुरुष निरन्तर एकत्रित हुए अनेक जीव कोटियों (जीव समूह) के पिण्ड को मारता है।
> भावार्थ—मांस का खानेवाला तो पाप का भागी है ही, किन्तु जो मांस को उठाता-रखता है या उसका स्पर्श भी करता है, वह भी जीव हिंसा के पाप का भागी होता है, इसका कारण यह है कि मांस में जो तज्जातीय (जिस जीव का वह मांस है उस जाति के) सूक्ष्म जीव होते हैं, वे इतने कोमल होते हैं कि मनुष्य के स्पर्श करने मात्र से उनका मरण हो जाता है।[44]

मांस खाने को उचित ठहराने के लिए कुछ लोग यह दलील देते हैं कि मांसाहारी मनुष्य एक ही बड़े पशु को मारकर अपना भोजन पूरा कर सकता है जबकि शाकाहारी मनुष्य अपने भोजन के लिए अनेक अन्न के दानों और साग-सब्ज़ियों का घात करता है। इसलिए मांसाहारी से अधिक शाकाहारी को हिंसा का दोष लगता है। इस प्रकार का तर्क इस ग़लत धारणा पर आधारित है कि एकेन्द्रिय (जैसे—पेड़-पौधों) से लेकर पंचेन्द्रिय जीव (जैसे—पशु, मनुष्य) तक—सभी प्रकार के जीवों के घात का दोष बराबर ही होता है। पर ऐसा होता नहीं है। यदि ऐसा होता तो एक घास या पौधे (एकेन्द्रिय जीव) को उखाड़ने और एक मनुष्य (पंचेन्द्रिय जीव) की हत्या करने का दोष बराबर ही माना जाता। पेड़-पौधों में केवल स्पर्श-ज्ञान की ही कुछ शक्ति होती है जबकि दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रियों तक के जीवों की ज्ञान-शक्तियों की संख्या और क्षमता क्रमशः बढ़ती जाती है। यही कारण है कि एक मच्छर को मारने की अपेक्षा एक मनुष्य को मारने का पाप असंख्यगुणा अधिक माना जाता है। इस सचाई को समझाते हुए *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में मांसाहारियों की उक्त दलील का खण्डन इन शब्दों में किया गया है:

> ऐसा विचार करके कि 'बहुत जीवों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है' कभी भी जङ्गम (चलने-फिरनेवाले) जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।
>
> भावार्थ—अन्नादिक के आहार में अनेक जीव मरते हैं, अतएव उनके बदले एक बड़े भारी जीव को मारकर खा लेना अच्छा है' ऐसा कुतर्क करना मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि हिंसा प्राणघात करने से होती है और एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों के द्रव्य प्राण व भाव प्राण अधिक होते हैं, ऐसा सिद्धान्तकारों का मत है। इसलिए अनेक छोटे-छोटे जीवों से बड़े प्राणी के घात में अधिक हिंसा है। जब एकेन्द्रिय जीव के मारने से द्वीन्द्रिय जीव के मारने में ही असंख्यगुणा पाप है, तो पंचेन्द्रिय की हिंसा का तो कहना ही क्या है?[45]

विवेकशील कहलानेवाले मनुष्य को त्रस (चल) और स्थावर (अचल) जीवों के इस भेद को समझते हुए चलने-फिरनेवाले जीवों का घात नहीं करना चाहिए।

मनुष्य से निचले श्रेणियों के जीव अपनी स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियों के अनुसार शाकाहार, मांसाहार या दोनों ही प्रकार का आहार लेनेवाले होते हैं। उनकी इन जन्मजात प्रवृत्तियों में बदलाव नहीं होता। उदाहरण के लिए, बाघ और सिंह भूखे रहने पर भी घास नहीं खाते। इसी प्रकार गाय और घोड़े किसी भी हालत में मांस नहीं खाते। पर मनुष्य में अपने को बदलने की अपार क्षमता है। इस क्षमता का सदुपयोग कर वह परमात्मा बन सकता है और इसका दुरुपयोग कर घोर नरक में जा सकता है। मनुष्य के शरीर की प्राकृतिक बनावट (जैसे उसके दाँत, नख आदि) पर विचार करने पर यह आसानी से समझा जा सकता है कि मांस उसका स्वाभाविक आहार नहीं है। जबतक मनुष्य अपनी रुचि को विकृत नहीं कर लेता तबतक स्वाभाविक रूप से उसे न मांस की गंध अच्छी लगती है और न वह मांस को बिना पकाये खा ही सकता है। पर मांस खानेवालों की संगति में रहकर वह मांस को मसालों और तेल में तलकर या पकाकर खाता है और उसका गंध लेना पसन्द करता है। जैन धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ *सूत्रकृतांग* में मनुष्य की इस बिगड़ी दशा की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा गया है:

> कुछ लोग मांस के लिए भेड़-बकरे को खिलाकर मोटा करते हैं और उनका मांस तेल, नमक और मसालों के साथ पकाकर खाते-खिलाते और ख़ुशियाँ मनाते हैं। धर्म और नैतिकता से विमुख ऐसे मनुष्य अज्ञानवश झूठी ख़ुशियाँ मनाते हुए पाप कमाते हैं।[46]

हिंसक मनुष्य अपने सुख और शौक़ को पूरा करने के लिए कई प्रकार के अनावश्यक प्रयोजनों को बतलाकर पशुओं की हिंसा करते हैं। जैन ग्रन्थ *आचारांग सूत्र* में ऐसे कुछ प्रयोजनों का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है:

> कुछ लोग यज्ञ के लिए पशुओं का वध करते हैं और कुछ दूसरे लोग चमड़े, मांस, खून, जिगर, पंख, दाँत, सींग आदि के लिए पशु-पक्षियों को मारते हैं तथा कुछ लोग जंगली पशुओं का शिकार करने को अपना

खेल या मनोरंजन मानते हैं और कुछ लोग यों ही बिना किसी कारण के पशुओं की हिंसा करते हैं।[47]

कहा जा चुका है कि जैन धर्म के अनुसार धर्म मोक्ष का साधन है और धर्म का पालन केवल मनुष्य ही कर सकता है। जीव-दया और जीव-रक्षा धर्म के मूल आधार हैं। इसलिए जीवों पर दया करना और उनकी रक्षा करना मनुष्य के आवश्यक कर्तव्य हैं। यदि मनुष्य अपने खाने योग्य अनेक उत्तम पदार्थों के संसार में होते हुए भी निरपराध पशु-पक्षियों की निर्दयतापूर्वक हत्या कर उनका मांस खाना पसन्द करता है तो यह उसका अन्याय ही नहीं, बल्कि घोर अत्याचार है। यदि रक्षक ही भक्षक बन जाये तो उसे अत्याचारी न कहें तो क्या कहें? इस सम्बन्ध में नाथूराम डोंगरीय जैन अपना विचार इन शब्दों में प्रकट करते हैं:

दूध और मक्खन, घी और बादाम, मेवा और फल जैसे पौष्टिक, पवित्र, सुस्वादु, सुन्दर और सात्त्विक पदार्थों के होते हुए गाय और बकरा, हिरण और मुर्ग़, मछली व कबूतर जैसे मूक तथा दीन पशुओं को मार-काटकर गले उतार जाना (निगल जाना) कौन सा इन्सानियत का काम है? जब लोग निर्दयतापूर्वक पशु-पक्षियों के गले पर छुरियाँ चलाते हैं तब उन बेचारों के ऊपर क्या बीतती होगी? क्या वे यह समझते हैं कि जिनके गलों पर छुरियाँ चलाई जा रही हैं वे पत्थर के बने हुए हैं? जैन धर्म ललकार कर कहता है—कि ऐ मानव! तुझे तो इतनी शक्ति और बुद्धि प्राप्त हुई है। उसका सदुपयोग करना सीख, और अपने ही समान दूसरों के प्राणों और हितों की यदि उदारतापूर्वक रक्षा नहीं कर सकता तो कम से कम उनका भक्षक तो न बन।[48]

जैन धर्म में मांस के साथ ही शराब आदि नशीले पदार्थों से भी परहेज़ करने का उपदेश दिया गया है। मदिरा-पान का हिंसा से गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि मदिरा (शराब) पीनेवाले की स्वाभविक प्रवृत्ति हिंसा की ओर होती है और वह अति शीघ्र उत्तेजित होकर काम, क्रोध, अहंकार आदि दुर्गुणों का शिकार हो जाता है। मदिरा के सेवन से मन और बुद्धि विकृत और विचलित

बनी रहती है और ऐसी स्थिति में मन को एकाग्र कर सुमिरन ध्यान आदि अन्तर्मुखी साधनों में लगाना सम्भव नहीं हो पाता। मदिरा पीने से होनेवाली अनेक हानियों का उल्लेख करते हुए *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में कहा गया है:

> मदिरा-पान चित्त को मोहित करता है, और मोहित-चित्त पुरुष धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ जीव हिंसा का नि:शंक (निडर) होकर आचरण करता है।[49]

मदिरा या शराब को रस से उत्पन्न होनेवाले अनेक सूक्ष्म जीवों का उत्पत्तिस्थान माना जाता है। इसलिए जो मदिरा पीता है वह उन जीवों की हिंसा भी अवश्य करता है। *जैनधर्मामृत* में इसे इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है:

> मदिरा, रसोत्पन्न (रस से उत्पन्न होनेवाले) अनेक जीवों की योनि (उत्पत्ति की जगह) कही जाती है, इसलिए मद्य-सेवन करनेवाले जीवों के हिंसा अवश्य ही होती है।
> भावार्थ—मदिरा में तद्रस-जातीय (उस रस से उत्पन्न होनेवाली जाति के) असंख्य जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, और पीते समय उन सब की मृत्यु हो जाती है, इसलिए मदिरा-पान में हिंसा नियम से होती ही है।[50]

मदिरा-पान अनेक विकारों को उत्पन्न करता है या यों कहें कि मदिरा पान अनेक दुर्गुणों का रूप ले लेता है। *जैनधर्मामृत* में इसे इन शब्दों में व्यक्त किया गया है:

> अभिमान, भय, जुगुप्सा (निन्दा), हास्य, अरति, (अशान्ति) शोक, काम, क्रोध-आदिक हिंसा के ही पर्यायवाची नाम हैं और वे सब ही मदिरा-पान के निकटवर्ती हैं।[51]

इन कथनों से स्पष्ट है कि मांस-मदिरा आदि तामसिक और नशीले पदार्थों के सेवन की प्रवृत्ति हिंसा को बढ़ावा देती है और हिंसा का अभिमान, काम, क्रोध आदि विकारों से अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। इसलिए इन विकारों से

बचने, अपने जीवन में पवित्रता लाने और परमार्थ की राह पर चलने के लिए हिंसा के साथ ही मांस-मदिरा का भी त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

शुद्ध और सात्त्विक खान-पान तथा सदाचारमय जीवन—ये पारमार्थिक साधना के आधार हैं। शुद्ध आहार और पवित्र आचरण को अपनाये बिना पारमार्थिक साधना में सफल होने और अविनाशी सुख-शान्ति प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती। वास्तव में शुद्ध आहार और सदाचार के बिना कोई पारमार्थिक साधना का अधिकारी या पात्र ही नहीं बनता। इसी भाव को प्रकट करते हुए हुकमचन्द भारिल्ल कहते हैं:

> शुद्ध सात्त्विक सदाचारी जीवन के बिना सुख-शान्ति प्राप्त होना तो दूर, सुख-शान्ति प्राप्त करने का उपाय समझने की पात्रता भी नहीं पकती।[52]

इसीलिए जैन धर्म में अहिंसा की सर्वाधिक महिमा बतलाते हुए मांस-मदिरा के सेवन का पूर्ण निषेध किया गया है।

मानव-जीवन

मानव-जीवन की दुर्लभता

असंख्य जन्मों तक आवागमन के चक्र में पड़कर दु:ख भोगते रहने के बाद बड़े भाग्य से जीव को मनुष्य का दुर्लभ जीवन प्राप्त होता है जिसका सदुपयोग कर वह सदा के लिए आवागमन के चक्र से छुटकारा पा सकता है। यह मनुष्य-जीवन ही कर्मों को पूरी तरह नष्ट कर आत्मा के असली स्वरूप को पहचानने और सभी दु:खों को दूर कर अनन्त सुख या मोक्ष को प्राप्त करने का एकमात्र अवसर है। इसीलिए इस जीवन को सर्वश्रेष्ठ या सर्वोत्तम जीवन कहा जाता है। पर इस मानव-जीवन को पाना अत्यन्त कठिन है। इसे परम दुर्लभ माना गया है। इसे स्पष्ट करते हुए *जिन-वाणी* में कहा गया है:

> यह जीव अनादि काल से अनन्त काल तक संसार की निगोद (अत्यन्त सूक्ष्म) योनियों में वास करता है जहाँ एक शरीर में अनन्त जीवों का वास पाया जाता है। वहाँ से निकलकर वह पृथ्वीकायादिक पर्याय (जन्म) धारण करता है।
>
> जिस प्रकार समुद्र में गिरे हुए रत्न का फिर पाना अत्यन्त दुर्लभ है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय प्राप्त करना महान् दुर्लभ है। उस मनुष्य गति में ही शुभ ध्यान होता है और उसी मनुष्य गति से ही निर्वाण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

संसार के अनन्त जीवों को चौरासी लाख योनियों में बाँटा जाता है। पर इन सबों में मनुष्य योनि को ही श्रेष्ठ योनि माना जाता है, क्योंकि मनुष्य में ही विवेक करने की शक्ति होती है। इसका सदुपयोग कर वह अपने लक्ष्य को निश्चित कर सकता है और उचित प्रयत्न द्वारा उसे प्राप्त कर सकता है। मनुष्य-जीवन की इसी विशेषता की ओर ध्यान दिलाते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> यहाँ चौरासी लाख योनियों द्वारा जीव जन्म-मरण करते रहते हैं। सम्पूर्ण योनियों में मनुष्य योनि ही श्रेष्ठ योनि है; क्योंकि इसको पाकर आत्मा अपने भले-बुरे का विचार कर सकती है, साथ ही मुक्ति भी प्राप्त कर सकती है।[2]

इसप्रकार केवल मनुष्य-जीवन में ही जीव पारमार्थिक साधना में लगकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसीलिए मनुष्य-जीवन को सर्वोत्तम माना जाता है। इस बात को बताते हुए *कार्तिकेयानुप्रेक्षा* में कहा गया है:

> मनुष्यगति में ही तप होता है, मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं, मनुष्यगति में ही ध्यान होता है और मनुष्यगति में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3]

अनन्त जीवों से भरे इस संसार में मनुष्यों की संख्या बहुत कम है, फिर भी एकमात्र मनुष्य में ही अपना पूर्ण विकास करने और परमपद को प्राप्त करने की क्षमता है। इसीलिए मनुष्य-योनि को सर्वश्रेष्ठ या सर्वोत्तम माना जाता है। इस बात को गणेशप्रसादजी वर्णी ने बड़ी अच्छी तरह समझाया है। वे कहते हैं:

> संसार की अनन्तानन्त जीवराशि में मनुष्यसंख्या बहुत थोड़ी है। किन्तु यह अल्प होकर भी सभी जीवराशियों में प्रधान है। क्योंकि मनुष्य पर्याय (जन्म) से ही जीव निज शक्ति का विकास कर संसार-परम्परा को, अनादि कालीन कार्मिक दुःख-सन्तति को समूल नष्ट कर अनन्त सुखों का आधार परमपद प्राप्त करता है।[4]

इस संसार में जीव मन के द्वारा ही सोच-विचार करता है और ठीक-ठीक विचार करने के लिए उसमें विवेक (भले-बुरे की पहचान करनेवाली शक्ति) का होना आवश्यक है। इस प्रकार इस संसार में मन और विवेक—इन दोनों से युक्त होने पर ही जीव अपना समुचित विकास कर सकता है।

जैन धर्म के अनुसार संसार में असंख्य जीव ऐसे हैं जिन्हें केवल एक ही इन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) प्राप्त है, जैसे—वनस्पतियाँ। फिर क्रमशः दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियोंवाले जीव होते हैं। इनसे भी ऊपर की श्रेणी में वे जीव आते हैं जिन्हें पाँचों इन्द्रियों के अलावा मन भी प्राप्त होता है। वे संज्ञी (मन से युक्त) जीव कहलाते हैं। जिन जीवों में मन नहीं होता उन्हें असंज्ञी जीव कहते हैं। संज्ञी जीवों में एकमात्र मनुष्य ही विवेक से युक्त होता है। इसलिए केवल वही अपने विवेक के सदुपयोग द्वारा संयमपूर्वक पारमार्थिक साधना में लगकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसी कारण गणेशप्रसाद वर्णी मनुष्य योनि को सभी योनियों से उत्तम बताते हुए कहते हैं:

> आत्मा की निर्मल परिणति का नाम ही धर्म है। तब जितने जीव हैं सभी में उसकी योग्यता है परन्तु इस योग्यता का विकास संज्ञी जीव के ही होता है। जो असंज्ञी हैं अर्थात् जिनके मन नहीं है उनमें तो उसके विकास का कारण ही नहीं। संज्ञी जीवों में एक मनुष्य ही ऐसा है जिसमें उसका पूर्ण विकास होता है। यही कारण है कि सब पर्यायों (योनियों) में मनुष्य पर्याय (योनि) ही उत्तम मानी गयी है। इस पर्याय से हम संयम धारण कर सकते हैं (अपनी चित्तवृत्ति को सांसारिक विषयों से निवृत कर सकते हैं, अर्थात् हटा सकते हैं)। अन्य पर्याय में संयम की योग्यता नहीं।[5]

वर्णीजी के अनुसार यह मनुष्य-जीवन, जो हमें संयम करने का अवसर प्रदान करता है, किसी महान् पुण्य से ही प्राप्त होता है। वे स्पष्ट कहते हैं:

> मनुष्यायु (मनुष्य-जीवन) महान् पुण्य का फल है। संयम का साधन इसी पर्याय में होता है। संयम निवृत्ति रूप है, और निवृत्ति का मुख्य साधन यही मानव शरीर है।[6]

इसी विचार को प्रकट करते हुए *छहढाला* में भी कहा गया है: "किसी शुभकर्म के उदय से यह जीव मनुष्य गति प्राप्त करता है।"[7]

वास्तव में यह संसार सारहीन है। यह दु:खों का घर है। यहाँ जीव मुख्यत: अपने कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म धारण करते हैं। इसीलिए उनके जीवन को भोग-योनि कहते हैं। केवल मनुष्य-जीवन में ही जीव को अपने कर्मों के फल भोगने के अतिरिक्त संयमपूर्वक पारमार्थिक साधना करने का दुर्लभ अवसर भी प्राप्त होता है। इसीलिए इसे कर्म-योनि कहते हैं। यदि सौभाग्य से जीव को मनुष्य-जीवन प्राप्त हो जाये तो उसे चाहिए कि वह अपने स्वरूप को पहचानने और अपने जीवन को सफल बनाने का भरपूर प्रयत्न करे। इस सम्बन्ध में शुभचन्द्राचार्य ने अपने विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है:

> दुरन्त (बुरे परिणामों वाला) तथा साररहित इस अनादि संसार में गुणों से युक्त मनुष्यपना (मनुष्य-जीवन) ही जीवों को दुष्प्राप्य है, अर्थात् दुर्लभ है। ...तुझे अपने में ही अपनी आत्मा को निश्चय करके अपना कर्तव्य सफल कर लेना चाहिए। इस मनुष्य-जन्म के सिवाय अन्य किसी जन्म में अपने स्वरूप का निश्चय नहीं होता।[8]

इसी विचार को प्रकट करते हुए चम्पक सागरजी महाराज कहते है:

> लक्ष चौरासी भटकते, मिला मनुष्य अवतार।
> चेत सके तो चेत ले, आत्म कर विचार॥
> महा मुश्किल से पा लिया, मानव का अवतार।
> सफल करले प्रेम से, कर कार्य हितकार॥[9]

मानव-जीवन की क्षणभंगुरता

अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त यह मानव-जीवन बहुत ही थोड़े समय के लिए मिलता है। एक तो यह अनित्य या नश्वर है और दूसरे, इसकी अवधि अनिश्चित है। हमें पता नहीं कि यह जीवन कब हाथ से निकल जायेगा या कब हम मृत्यु के शिकार हो जायेंगे। हमें पता नहीं कि इस मनुष्य-जीवन में हमें कितने

साँस लेने हैं। हमें इस बात का भी ध्यान नहीं रहता कि प्रत्येक साँस के साथ हमारे जीवन की सीमित आयु घटती जा रही है और हम किसी भी समय मृत्यु के मुख में जा सकते हैं। इसी बात को समझाते हुए आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं:

> क्षणक्षण में जो आयु का क्षय होता है वह यम-मुख है। उस यम-मुख में—काल के गाल में—सभी प्राणी गये हुए हैं—सभी की आयु प्रतिक्षण छीजती (घटती जाती) है।[10]

समय अनन्त है और अनन्त समय की दृष्टि से यदि मनुष्य-जीवन को देखें तो लगेगा कि यह पानी के बुलबुले के समान है, जो एक क्षण में उत्पन्न होता है और दूसरे ही क्षण विलीन हो जाता है। आचार्य पद्मनन्दि ने स्पष्ट कहा है:

> अम्भोबुद्बुद-सन्निभा तनुरियम्।
>
> यह शरीर जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है।[11]

पानी के बुलबुले से ही इस शरीर की उपमा देते हुए चम्पक सागरजी महाराज कहते हैं:

> पानी का बुलबुला जितनी देर ठहरा रहे उतनी देर का आश्चर्य करना चाहिए, उसके नष्ट होने का कुछ आश्चर्य नहीं है। यह भौतिक शरीर जल के बुलबुले के समान है। जब भी यह नष्ट हो जाये उसमें क्या आश्चर्य की बात है?
>
> लोग कहते हैं कि 'अभी हमारी उम्र नहीं, कुछ खा पी लें, मौज शौक कर लें, संसार के विषय भोग लें, कुछ रंगरलियाँ कर लें, बड़े हो जाने पर त्याग कर देंगे, धर्म कर लेंगे, दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।' किन्तु उन्हें सब कुछ देखते हुए भी यह विश्वास कैसे हो गया कि धर्म करने के लिए वे जिस वृद्ध अवस्था को सोच रहे हैं, उस वृद्ध अवस्था तक वे पहुँच पोवेंगे भी? हम देखते हैं कि पिता बैठा रहता है, पुत्र मृत्यु का शिकार हो जाता है।[12]

संसार की भाग-दौड़ और चकाचौंध में हम इस तरह भूले रहते हैं कि हमें न अपने और न अपने सगे-सम्बन्धियों के जीवन के क्षणभंगुर होने का ध्यान रहता है। आचार्य पद्मनन्दि इस बात पर आश्चर्य करते हैं और हमें अपने जीवन की क्षणभंगुरता की याद दिलाते हुए कहते हैं:

> स्त्री पुत्रादिक के रूप में जो भी कुटुम्ब-परिवार है वह सब बिजली के समान क्षणभंगुर है—उसमें स्वभाव से चलाचली लगी रहती है। ऐसी स्थिति होते हुए यदि उसका कोई प्राणी उठकर चल देता है, तो उस पर सयाने- बुद्धिमान मनुष्य भी किस बात का खेद करते हैं, यह कुछ समझ में नहीं आता![13]

शुभचन्द्राचार्य भी मनुष्य के क्षणभंगुर जीवन की उपमा क्षणभर के लिए चमकनेवाली बिजली से करते हैं और बताते हैं कि जीवन के इस अत्यन्त थोड़े समय में ही हमें अपना कल्याण कर लेना चाहिए। इस संसार में अनाड़ी मनुष्य अपनी इन्द्रियों के वश में होकर सांसारिक विषय-सुख के लिए दौड़ते फिरते हैं। वे नहीं समझते कि ये विषय-सुख अनित्य, रसहीन और दुःख के कारण हैं। इसके विपरीत विचारशील मनुष्य इन सांसारिक विषयों के मोह में न पड़कर अपने जीवन के थोड़े से समय को आत्म-कल्याण में लगाते हैं और अपने जीवन को सफल कर लेते हैं। इसे समझाते हुए शुभचन्द्राचार्य कहते हैं:

> यह संसार निश्चय ही बड़ा गहन बन है, यह दुःखरूपी अग्नि की ज्वाला से व्याप्त है। इस संसार में इन्द्रियाधीन सुख है सो अन्त में विरस (रसविहीन) है, दुःख का कारण है, तथा दुःख से मिला हुआ है। और जो काम और अर्थ हैं सो अनित्य हैं, सदैव नहीं रहते। तथा जीवन बिजली के समान चंचल है। इसप्रकार समीचीनता से (ठीक से) विचार करनेवाले जो अपनी आत्मा के हित में लगे सत्कर्म करनेवाले सत्पुरुष हैं, वे कैसे मोह को प्राप्त होवें?[14]

यह जानते-सुनते हुए भी कि यह मनुष्य-जीवन बिजली के समान चंचल और क्षणभंगुर है, जो मनुष्य अपनी आत्मा के कल्याण की परवाह न कर

सांसारिक विषयों में ही आसक्त बने रहते है, उन्हें भ्रमित चित्तवाला या पागल न कहें तो क्या कहें? इसी भाव को व्यक्त करते हुए आचार्य पद्मनन्दि हमें सांसारिक विषयों से अनासक्त रहने और आत्मज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न में लगने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं:

> जो मनुष्य यह जानते, देखते और सुनते हुए भी कि जीवन, यौवन तथा स्त्री, पुत्र, मित्र, बान्धव और धनादिक बिजली के समान चंचल हैं—कोई भी इनमें स्थिर रहनेवाला नहीं है—अपना कार्य—अपने आत्म हित की साधना—नहीं करता है—मोह में फँसा हुआ इन्हीं से आसक्त बना रहता है—उसे पागल कहें, ग्रह पीड़ित (भूत लगा) समझें अथवा भ्रान्तचित्त नाम देवें, कुछ समझ में नहीं आता![15]

चम्पक सागरजी महाराज इस मनुष्य-जीवन को किराये का मकान कहकर इसकी अनित्यता दिखलाते हैं। वे कहते हैं:

> शरीर तो एक तरह संसारी जीव को कुछ देर तक किराये पर लिया हुआ एक घर है। नियत समय के बाद यह किराये का मकान जीव को नियम से ख़ाली करना पड़ता है।[16]

मनुष्य-जीवन की अनित्यता या क्षणभंगुरता को *जैनधर्मामृत* में इसप्रकार समझाया गया है:

> जिस प्रकार पक्षिगण नाना दिग्देशान्तरों से आकर सायंकाल के समय वृक्षों पर बस जाते हैं और प्रातः काल होते ही सब अपने-अपने कार्य से अपने-अपने देशों और दिशाओं में चले जाते हैं, उसी प्रकार ये संसारी जीव विभिन्न गतियों से आकर एक कुटुम्ब में जन्म लेते हैं और आयु पूरी होने पर अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार अपनी-अपनी गतियों को चले जाते है। जब संसार की यह दशा है तब हे आत्मन्, इनमें मोह कैसा? और उनमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके राग-द्वेष कैसा?[17]

इसी प्रकार आचार्य पद्मनन्दि भी मानव-जीवन की अस्थिरता या अनित्यता को समझाने के लिए पक्षी और भौंरे का उदाहरण देते हुए कहते हैं:

जिस प्रकार पक्षी एक वृक्ष से उड़कर दूसरे वृक्ष पर और भौंरे एक फूल से उड़कर दूसरे फूल पर जा बैठते हैं, उसी प्रकार ये जीव संसार में निरन्तर एक भव (जन्म) को छोड़कर दूसरा भव धारण करते रहते हैं। इस प्रकार जीवों की अस्थिरता को, किसी भी एक स्थान पर स्थिर न रहने की परिणति को—जानकर जो सुबुधजन (सुविज्ञ या ज्ञानीजन) हैं, वे प्रायः किसी के भी जन्म लेने पर हर्ष और मरने पर शोक नहीं करते हैं।[18]

प्रतिदिन सूर्य के उदय और अस्त होने तथा पत्र, फूल और फल के वृक्षों पर लगने और फिर झड़ने के उदाहरणों द्वारा भी आचार्य पद्मनन्दि मनुष्य-जीवन की अस्थिरता या अनित्यता की ओर हमारा ध्यान दिलाते हैं। वे कहते हैं:

जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल उदय को प्राप्त होता है और अपना समय पूरा करके अस्त हो जाता है—छिप जाता है—उसी प्रकार सर्व प्राणियों का यह देह है जो उपजता है और आयु पूरी हो जाने पर विनश जाता है। ऐसी स्थिति के होते हुए यदि काल पाकर अपना कोई प्यारा सम्बन्धी मर जाता है उस पर कौन ऐसा सुबुद्धजन है जो शोक करता है? बुद्धिमान् तो कोई भी शोक नहीं कर सकता, बहिरात्मदृष्टि मूढ़जन ही शोक किया करते हैं।

जिस प्रकार पत्र, फूल और फल वृक्षों पर उत्पन्न होते हैं और निश्चित रूप से गिरते हैं—झड़ पड़ते हैं—उसी प्रकार प्राणी कुलों में जन्म लेते हैं और फिर मरण को प्राप्त होते हैं। इस तरह यह अटल नियम देखकर बुधजनों को जन्म-मरण के अवसरों पर हर्ष-शोक क्या करना चाहिए? नहीं करना चाहिए—उन्हें वस्तुस्वरूप का विचार कर हृदय में समता भाव धारण करना चाहिए।[19]

मनुष्य की आयु और शक्ति प्रतिक्षण घटती जाती है। इसलिए अपने हित की चाह रखनेवाले मनुष्य को चाहिए कि अपने क्षणिक जीवन का सदुपयोग समय रहते कर ले, जैसा कि *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

आरोग्य, आयु, बल-वीर्य और धन-धान्यादिका समुदाय ये सभी चञ्चल हैं, अनियत एवं क्षणभंगुर हैं। जबतक इन सबका सुयोग प्राप्त है, तबतक आत्म-हित के कार्यरूप धर्म में मुझे सर्व प्रकार से उद्यम करना चाहिए।[20]

मृत्यु किसी को भी नहीं छोड़ती। राजा-रंक-सबको एक दिन संसार से जाना ही पड़ता है। इसलिए हमें सदा अपनी मृत्यु का ख़याल रखते हुए शीघ्र से शीघ्र अपना पारमार्थिक कार्य पूरा कर लेना चाहिए। यह बताते हुए कि मृत्यु से कोई बच नहीं सकता, भूधरदास कहते हैं:

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार॥[21]

यह जानते हुए कि इस क्षणभंगुर शरीर का कोई भरोसा नहीं, हमें अपने पारमार्थिक कार्य को पूरा करने में तनिक भी ढील नहीं देनी चाहिए। हमारे पास समय बहुत ही कम है। इन्हीं बातों की याद दिलाते हुए चम्पक सागरजी महाराज हमें अपनी साधना में पूरी तरह तत्पर रहने के लिए चिताते हैं। वे कहते हैं:

क्षण भंगुर इस देह का, करना क्या विश्वास।
कुटिल काल करेगा ही, काया का ही विनाश॥
समय जरासा है नहीं, आयुष्य का विश्वास।
राजा-रंक जीवें सभी, क्षण में पावें नाश॥[22]

इसी प्रकार गणेशप्रसाद वर्णी भी हमें चिताते हुए कहते हैं:

देख दशा संसार की क्यों नहिं चेतत भाय।
आखिर चलना होयगा क्या पण्डित क्या राय॥[23]

इसी विचार को प्रकट करते हुए हुकमचन्द भारिल्ल भी जीवन और जगत् की क्षणभंगुरता इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:

झूठे जग के सपने सारे, झूठी मन की सब आशाएँ।
तन-जीवन-यौवन अस्थिर है, क्षणभंगुर पल में मुरझाएँ॥[24]

मानव-जीवन की सार्थकता

अनन्त काल तक अनेक योनियों में भटकते रहने के बाद बड़े भाग्य से यह मनुष्य-जीवन प्राप्त होता है। केवल इसी जन्म में मनुष्य अपने विवेक का

सदुपयोग कर अपना जीवन सच्चे धर्म की साधना में लगा सकता है और अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसप्रकार धर्म की साधना, आत्मस्वरूप का ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति—यही मानव-जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने पर ही मानव-जीवन सफल या सार्थक होता है।

मोक्ष-प्राप्ति का यह दुर्लभ अवसर बहुत ही थोड़े समय के लिए मिलता है। मानव-जीवन की इस दुर्लभता और क्षणिकता को जो भली-भाँति समझ लेता है, वह तुरन्त मोक्ष-प्राप्ति के उपाय की खोज में लग जाता है और सच्चे खोजी को सच्ची राह मिल ही जाती है। गणेशप्रसाद वर्णी ने बड़ी ही सरलता और स्पष्टता से यह बात कही है। वे कहते हैं:

> जो मनुष्य अपने मनुष्यपने की दुर्लभता को देखता है वही संसार से पार होने के उपाय अपने-आप खोज लेता है।[25]

जो मनुष्य-जीवन की दुर्लभता और इससे प्राप्त किये जानेवाले सर्वोत्तम लाभ को समझ लेता है, वह कभी भी अपनी साधना में सुस्ती, प्रमाद या लापरवाही नहीं आने देता। वह पूरी तत्परता के साथ अपने लक्ष्य की प्राप्ति में लग जाता है। *जैनधर्मामृत* में स्पष्ट कहा गया है:

> संसार में कोटि-कोटि जन्म धारण कर लेने पर भी नहीं प्राप्त होनेवाला यह अति दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर मेरा यह प्रमाद (लापरवाही) कैसा![26]

पशु-पक्षी अपना जीवन केवल खाने-पीने, सोने आदि में बिता देते हैं। पर मनुष्य केवल जीने के लिए संसार में नहीं आता। उसके जीवन का उद्देश्य है अपना कल्याण करना, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करना। यह जानते हुए कि इस उद्देश्य की पूर्ति केवल मनुष्य-जीवन में ही हो सकती है, मनुष्य को चाहिए कि वह प्रमाद या लापरवाही को पूरी तरह त्यागकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ले। शुभचन्द्राचार्य ने ऐसा ही उपदेश अपने *ज्ञानार्णव* में दिया है। वे कहते हैं:

मनुष्य-जन्म अति दुर्लभ है। केवल जीवित रहना नि:सार (सारहीन) है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को आलस्य त्यागकर अपने हित को जानना चाहिए। वह हित मोक्ष ही है।

जो धीर और विचारशील मनुष्य हैं, तथा अतीन्द्रिय सुख (मोक्ष-सुख) की लालसा रखते हैं, उनको प्रमाद (लापरवाही) छोड़कर इस मोक्ष का ही सेवन परम आदर भाव से करना चाहिए, अर्थात् अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम से मोक्ष-प्राप्ति की साधना में लगे रहना चाहिए।[27]

अनन्त काल और अनेक कठिनाइयों के बाद प्राप्त होनेवाला यह मनुष्य-जीवन पारमार्थिक साधना करने का एकमात्र दुर्लभ अवसर है। इसलिए इसे मुख्यत: धर्म की साधना और आत्मज्ञान की प्राप्ति करने में ही लगाना चाहिए। इसका दुरुपयोग सांसारिक विषय-सुखों के लिए, जो अनित्य, सारहीन और अन्तत: दु:खदायी हैं, नहीं करना चाहिए।

यह बतलाते हुए कि धर्म-साधना के इस अवसर को प्राप्त करना कितना कठिन है, आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं:

इस संसार में अनन्त काल भ्रमण करते हुए भी जीव को मनुष्यता की प्राप्ति नहीं होती, यदि होती भी है तो दुष्कुल में, जहाँ प्राप्त होकर भी पाप के कारण वह पुन: नष्ट हो जाती है। और यदि सत्कुल में भी प्राप्त होती है तो या तो जीव गर्भ में ही विलीन हो जाता है या जन्म लेते ही मर जाता है और या बचपन में ही नष्ट हो जाता है। इन सब अवस्थाओं में तो धर्म की प्राप्ति का कोई अवसर ही नहीं होता। अत: जब युवावस्थादि में अवसर मिले तो उसे धर्म की साधना के लिए उत्तम प्रयत्न करना चाहिए—उस अवसर को यों ही न खो देना चाहिए।[28]

यह बताते हुए कि इस दुर्लभ मनुष्य-जीवन को किस कार्य में लगाना चाहिए, *जैनधर्मामृत* में स्पष्ट कहा गया है:

आत्म-कल्याण के इच्छुक जनों को उचित है कि यह उत्तम मनुष्य भव (जन्म) पाकर उसे अन्त में दु:ख देनेवाले सांसारिक पदों के पाने

और विषय-भोगों के जुटाने में व्यर्थ न गमावें किन्तु एक-एक क्षण को स्वर्ण कोटियों से (सोने के ढेरों से) भी अधिक मूल्यवान् समझकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति में व्यय करें।[29]

अपने अनेकानेक जीवन में हम सभी सांसारिक सुखों और दु:खों को बार-बार भोग चुके हैं, पर इन सब से कभी हम सुखी या तृप्त न हो सके। हम सदा बाहरी विषयों को जानने और उन्हें प्राप्त करने में ही लगे रहे। कभी भी हमने अपने आत्मस्वरूप को जानने का प्रयत्न नहीं किया जिसमें लीन होकर हम सदा के लिए मुक्त और सुखी हो सकते हैं। इस तथ्य को समझाते हुए आचार्य कुंथुसागरजी महाराज कहते हैं:

इस संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव को अनन्तानन्त काल व्यतीत हो गया। इस समय में इसने नरक में भी अनन्त बार जन्म लिया, स्वर्ग में भी अनन्त बार जन्म लिया तथा मनुष्य और तिर्यंच योनि में अनन्त बार जन्म लिया। ...ऐसी अवस्था में कोई भी पदार्थ अलब्ध व कभी प्राप्त न होनेवाला कभी नहीं कहा जा सकता। ...आत्मा और पुद्गलादिक पर पदार्थों के (आत्मा से भिन्न सांसारिक पदार्थों के) यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला सम्यग्दृष्टिपुरुष उन समस्त पदार्थों को व भोगोपभोगों के साधनों को अनन्त बार प्राप्त होनेवाला मानता है तथा इसीकारण से उन सबका त्याग कर देता है और कभी प्राप्त न होनेवाले अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाता है।

अतएव इन सब बातों को समझकर भव्य (मोक्षार्थी) जीवों को पर पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए और आत्मतत्त्व में लीन हो जाना चाहिए। यही मोक्ष का उपाय है।[30]

मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान और वैराग्य (अनासक्ति) को बढ़ाना आवश्यक है। पर बाहरी विषयों से चित्तवृति को हटाकर इसे आत्मा में लीन किये बिना सच्चे ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए आत्म-लीन होकर आत्मानुभव प्राप्त करना और इस प्रकार सच्चे ज्ञान और

वैराग्य की प्राप्ति कर लेना ही मनुष्य-जन्म का सार है, जैसा कि आचार्य कुंथुसागरजी महाराज कहते हैं:

> अतएव प्रत्येक भव्य जीव को ज्ञान वैराग्य बढ़ाने के लिए विषय कषायों का (विषयों के प्रति क्रोध, मान आदि का) त्याग करना चाहिए और आत्मा में लीन होकर ज्ञान वैराग्य की वृद्धि करते रहना चाहिए। यही मनुष्य-जन्म का सार है।[31]

हुकमचन्द भारिल्ल ने भी आत्मज्ञान की महत्ता बताते हुए कहा है कि अपने को पहचानकर ही जीव भगवान् बन सकता है:

> अपने को नहीं पहचानना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है। भगवान् कोई अलग नहीं होते। यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करे तो प्रत्येक जीव भगवान् बन सकता है।
>
> स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो, और स्वंय में समा जावो, भगवान बन जावोगे।''[32]

आत्म-लीनता की अवस्था में जीव सभी कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसीलिए इसे मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। यह अनन्त आनन्द की अवस्था है, जिसे हम केवल अपने मनुष्य-जीवन में ही प्राप्त कर सकते हैं। इसे प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवन को सफल या सार्थक बनाना है। इसे स्पष्ट करते हुए *तत्त्वभावना* में कहा गया है:

> सर्व कर्मों के बंध से छूटकर आत्मा के पवित्र हो जाने का नाम मोक्ष तत्त्व है। मोक्ष अवस्था में आत्मा सदा अपने ज्ञानानंद का विलास किया करती है। जबतक हम इस देह में हैं हमें अपना समय इसी तरह पर बिताकर सफल करना चाहिए। यही मानव जीवन का लाभ है।[33]

अज्ञानी जीव अपने शरीर की चिन्ता तो बहुत करते हैं, पर अपनी आत्मा की चिन्ता उन्हें नहीं होती। यदि वे आत्म-चिन्तन करें और अपनी आत्म-शुद्धि

की ओर ध्यान दें तो वे नर से नारायण बन सकते हैं। इस बात की ओर ध्यान दिलाते हुए वर्णीजी कहते हैं:

> जितनी चिन्ता इन रोगों के घर शरीर को स्वच्छ और सुरक्षित करने की लोग करते हैं, यदि उतनी चिन्ता शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को स्वच्छ और सुरक्षित रखने की (रागद्वेष से बचाने की) करें तो एक दिन वे अवश्य ही नर से नारायण हो जायेंगे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।[34]

वर्णीजी बार-बार अनेक प्रकार से हमें अपने-आपको पहचानने या आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए चिताते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि बिना इस आन्तरिक ज्ञान के मनुष्य-जीवन निरर्थक है:

> स्वरूप-सम्बोधन (अपने असली स्वरूप का ज्ञान या अनुभव) ही कार्यकारी (सभी कार्यों को करनेवाला) और आत्मकल्याण की कुञ्जी है। इसके बिना मनुष्य-जन्म निरर्थक है।
>
> जिन महापुरुषों ने अपने को जाना वही परमात्मा पद के अधिकारी हुए।[35]

मनुष्य-जीवन पाकर भी जो पशुओं की तरह केवल खाने-पीने, सोने आदि में ही अपना जीवन बिता देता है, उसे मनुष्य कहलाने का कोई अधिकार नहीं। मनुष्य वही है जो विवेकपूर्वक आवश्यक नियमों का पालन करे और अपने जीवन में सदा संयम से काम ले । संयम और नियम से रहकर ही वह आत्मानुभव के लिए सफल प्रयत्न कर सकता है और इस प्रकार अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। इन बातों को स्पष्ट करते हुए गणेशप्रसाद वर्णी कहते हैं:

> नियम का उल्लंघन करना आत्मघात (आत्म विनाश) का प्रथम चिह्न है।[36]

अहिंसा, अक्रोध, सचरित्रता, आत्म-शुद्धि आदि संयमों और नियमों की ओर संकेत करते हुए वे फिर कहते हैं:

मानवता वह विशेष गुण है जिसके बिना मानव, मानव नहीं कहला सकता। मानवता उस व्यवहार का नाम है जिससे दूसरों को दुःख न पहुँचे, उनका अहित न हो, एक-दूसरे को देखकर क्रोध की भावना जागृत न हो। संक्षेप में सहृदयतापूर्ण शिष्ट और मिष्ट (मिठासयुक्त) व्यवहार का नाम मानवता है।

मनुष्य वही है जो आत्मोद्धार में प्रयत्नशील हो।
मनुष्यता वही आदरणीय होती है जिसमें शान्तिमार्ग की अवहेलना न हो।
मनुष्य का सबसे बड़ा गुण सदाचारिता और विश्वासपात्रता है।
मनुष्य वही है जो अपनी प्रवृत्ति को निर्मल करता है।

प्रत्येक वस्तु सदुपयोग से ही लाभदायक होती है। यदि मनुष्य पर्याय (जन्म) का सदुपयोग किया जावे तो देवों को भी वह सुख नहीं जो मनुष्य प्राप्त कर सकता है।[37]

आत्म-कल्याण चाहनेवाले मनुष्य में संयम-नियम के साथ ही आत्म-विश्वास का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। आत्म-विश्वास के बिना न हमारे प्रयत्न में दृढ़ता आ सकेगी और न हम अपने लक्ष्य को ही प्राप्त कर सकेंगे। इसे वर्णीजी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया है। वे कहते हैं:

आत्मविश्वास एक विशिष्ट गुण है। जिन मनुष्यों का आत्मा में विश्वास नहीं, वे मनुष्य धर्म के उच्चतम शिखर पर चढ़ने के अधिकारी नहीं।

जिस मनुष्य को आत्मविश्वास नहीं वह कभी भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता।

जो मनुष्य सिंह के बच्चे होकर भी अपने को भेड़तुल्य तुच्छ समझते हैं, जिन्हें अपने अनन्त आत्मबल पर विश्वास नहीं, वही दुःख के पात्र होते हैं।[38]

मनुष्य का लक्ष्य सच्ची शान्ति या मोक्ष को प्राप्त करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे पूरे आत्म-विश्वास के साथ एकान्त-साधना में लगना

आवश्यक है। एकान्त-साधना के बिना मन को वश में करना अत्यन्त कठिन है और मन को वश में किये बिना आत्मज्ञान या मोक्ष को प्राप्त करना तो असम्भव ही है। इसीलिए वर्णीजी कहते हैं:

> संसार अशान्ति का पुञ्ज है, अतः जो भव्य (मोक्षार्थी जीव) शान्ति के उपासक हैं उन्हें अशान्ति उत्पादक मोहादि विकारों की यथार्थता का अभ्यास कर एकान्तवास करना चाहिए।
>
> जो मनुष्य अपने मन पर विजयी नहीं, संसार में उसकी अधोगति निश्चित है।
>
> यदि मोक्ष की अभिलाषा है तो एकाकी बनने का प्रयत्न करो। अनेक वस्तुओं से प्रेम करना आत्मा के निजत्व (निजी स्वरूप) का घातक है।[39]

संयमपूर्वक एकान्त-साधना करने से मन धीरे-धीरे एकाग्र हो जाता है और उसे आन्तरिक सुख और शान्ति का रस मिलने लगता है। इससे जीव के राग, द्वेष और मोह नष्ट हो जाते हैं और वह समभाव धारण कर परमात्मा का दर्शन प्राप्त कर लेता है। *ज्ञानार्णव* में इसका उल्लेख इसप्रकार किया गया है:

> हे आत्मन्! मोहरूप अग्नि को बुझाने के लिए और संयमरूपी घर का आश्रय करने के लिए तथा रागरूप वृक्षों के समूह को कटाने के लिए समभाव का (समता का) अवलंबन कर, ऐसा उपदेश है।
>
> संयमी मुनि समभावरूपी सूर्य की किरणों से रागादितिमिर समूह (राग आदि अन्धकार के समूह) के नष्ट होने पर परमात्मा का स्वरूप अपने में ही अवलोकन करता है।[40]

समभाव की प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य संसार में 'जल में कमल' के समान निर्लिप्त या अनासक्त भाव से रहता है। ऐसा वीतरागी या उदासीन भाव से रहनेवाला साधक ही परमात्मपद का अधिकारी होता है, जैसा कि गणेशप्रसाद वर्णी कहते हैं:

कल्याण का पथ निरीहवृत्ति (इच्छा या तृष्णारहित भाव) है।

संसार मोहरूप है, इसमें ममता न करो। कुटुम्ब की रक्षा करो परन्तु उसमें आसक्त न होओ। जल में कमल की तरह भिन्न रहो, यही गृहस्थ को श्रेयस्कर है।

कल्याण के अर्थ (लिए) भीषण अटवी (वन) में जाने की आवश्यकता नहीं, मूर्च्छा का (मोह से भ्रमित होने का) अभाव होना चाहिए।

संसार में वही मनुष्य परमात्मपद का अधिकारी हो सकता है जो संसार से उदासीन है।[41]

संसार में अज्ञान का घोर अन्धकार फैला हुआ है जिसमें मनरूपी हाथी और काम, क्रोध आदि ज़हरीले सर्प जीवों को असह्य कष्ट देते हैं। ऐसी स्थिति में जीव गुमराह हो इधर-उधर भटकते हुए दु:ख भोग रहे हैं। इस दु:ख से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है कि जीव किसी सन्त, महात्मा या पूर्ण ज्ञानी से दीक्षा ग्रहण करे और उनसे उपदेश लेकर उसके सहारे चलते हुए, अर्थात् उस उपदेश के अनुसार अभ्यास करते हुए, संसार के पार चला जाये। इस विचार को व्यक्त करते हुए आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं:

यह संसार-वन अज्ञान-अन्धकार से व्याप्त है, दु:खरूप व्यालों से—दुष्ट हाथियों अथवा सर्पों से भरा हुआ है—और उसमें ऐसे कुमार्ग हैं जो दुर्गतिरूप गृहों को ले जानेवाले हैं और जिनमें पड़कर सभी प्राणी भूले-भटके घूम रहे हैं—भवन में चक्कर काट रहे हैं। उस वन में निर्मल ज्ञान की प्रभा से देदीप्यमान-गुरु-वाक्य रूप (गुरु दीक्षा और उपदेशरूप) महान् दीपक जल रहा है। जो सुबुधजन है वह उस ज्ञानदीपक को प्राप्त होकर और उसके सहारे से सन्मार्ग को देखकर सुखपद को—सुख के वास्तविक स्थान (मोक्ष) को—प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।[42]

चूँकि मनुष्य-जीवन ही मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र अवसर है, इसलिए जब तक शरीर में शक्ति है तब तक मनुष्य को दृढ़ता से गुरु के बताये उपदेश के

अनुसार साधना या धर्माचरण करते रहना चाहिए। आलस और सुस्ती को छोड़ उसे समय रहते पूर्ण तत्परता से पारमार्थिक साधना को पूरी कर अपने मनुष्य-जीवन को सफल बना लेना चाहिए। ऐसा ही उपदेश *जिन-वाणी* में दिया गया है:

> इसीलिए जबतक बुढ़ापा आकर पीड़ा नहीं देने लगता, व्याधियों की वृद्धि नहीं हो पायी तथा इन्द्रियाँ शिथिल नहीं हुईं तब तक अर्थात् यौवन काल में ही धर्माचरण कर लेना योग्य है। तबतक हे जीव, तू अपना आत्म-हित कर ले।
>
> जो-जो रात्रि व्यतीत हो जाती है वह पुनः लौटती नहीं। ये सब रात्रियाँ धर्म न करनेवाले के लिए निष्फल ही निकलती जाती हैं । किन्तु धर्म-साधना करनेवाले के लिए वे रात्रियाँ सफल होती हुई जाती हैं।[43]

छहढाला में भी बुढ़ापा और रोग से ग्रसित होने से पहले पूरी तत्परता के साथ समभाव को धारण कर अपना कल्याण कर लेने के लिए हमें इन शब्दों में चिताया गया है:

> इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ,
> जबलों न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ।
> यह राग-आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये;
> चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये।
> कहा रच्यो पर पद में, न तेरो पद यहै, क्यों दुख सहै;
> अब "दौल"! होउ सुखी स्व पद-रचि, दाव मत चूकौ यहै।[44]

अर्थात् ऐसा जानकर आलस को छोड़कर और साहस के साथ संकल्प लेकर इस उपदेश को अपनाओ। जबतक रोग और बुढ़ापे ने शरीर को नहीं घेरा है तबतक शीघ्र अपनी आत्मा का कल्याण कर लो। यह रागरूपी (मोह, आसक्ति) आग जीवों को सदा जला रही है। इससे मुक्त होकर शान्ति पाने के लिए समतारूपी अमृत का पान करो। चिरकाल (अनन्त जन्मों) से तू विषयरूपी बन्धनकारी कर्मों का सेवन करता रहा है। अब भी तुम उनका त्याग कर आत्मपद की प्राप्ति करो।

अपनी आत्मा से भिन्न पदार्थों में तू क्यों आसक्त हो रहा है ? वे तेरे अपने नहीं। उनमें फँसकर तू क्यों दुःख उठा रहा है ? दौलतरामजी कहते हैं कि हे जीव! इस अवसर को न गँवा।

केवल साहसी और अपनी धुन के पक्के मनुष्य ही पारमार्थिक साधना के दुर्गम मार्ग पर दृढ़ता के साथ चलते और अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होते हैं। कायर और आलसी जीवों का यह काम नहीं है। आलसी जीव केवल बाहर से राम-राम या किसी अन्य वर्णात्मक नाम का जाप करते हैं पर इस प्रकार के बाहरी जाप से उन्हें कोई विशेष लाभ नहीं होता। सच्चे साधक किसी सन्त या सतगुरु से दीक्षा और उपदेश ग्रहण कर दृढ़ता से अपने गुरु की बतायी युक्ति के अनुसार नाम का आन्तरिक जाप या सुमिरन करते हैं। इस तरह वे अपने अन्तर से माया को निकालकर परमात्मपद की प्राप्ति कर लेते हैं। इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हुए गणेशप्रसाद वर्णी कहते हैं:

दृढ़ता को धारण करहु तज दो खोटी चाल।
बिना नाम भगवान के कटे न भवका जाल॥
राम राम के जाप से नहीं राममय होये।
घटकी माया छोड़ते आप राममय होय॥[45]

चम्पकसागरजी महाराज ने भी स्पष्ट कहा है कि किसी सन्त या सद्गुरु की सेवा में लगकर ही; अर्थात् उनकी दीक्षा और उपदेश के अनुसार पारमार्थिक साधना करने पर ही, मनुष्य को संसार के नश्वर और दुःखमय होने का ज्ञान प्राप्त होता है और वह उससे छुटकारा पाकर मोक्ष के अनन्त सुख की प्राप्ति करता है:

तन मन की पीडा टले, भवका होवे ज्ञान।
संत चरण को सेवते, पावे सुख निधान॥[46]

दुःखमय संसार से छुटकारा पाकर परमात्मरूप बन जाना और सदा के लिए सुखी हो जाना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। इसलिए मनुष्य का जन्म पाकर जो किसी सन्त सद्गुरु की शरण लेकर जन्म-मरण के चक्र को मिटाने और

परमात्मपद को प्राप्त करने के अथक प्रयत्न में लग जाता है, उसी का जीवन सार्थक है।

मानव-जीवन की निरर्थकता

कहा जा चुका है कि मनुष्य-योनि सभी योनियों में उत्तम है, क्योंकि केवल मनुष्य ही भले-बुरे की पहचान कर अपने कल्याण के लिए सफल प्रयत्न कर सकता है। इस दु:खमय संसार में जन्म लेकर भी वह सभी दु:खों को दूर कर परमसुख की प्राप्ति कर सकता है। अपना कल्याण करने के लिए उसे अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहचानना और पर पदार्थों, अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न सांसारिक पदार्थों में आसक्ति न रखना अत्यन्त आवश्यक है। यदि अपने अज्ञानवश वह सांसारिक विषयों में ही फँसा रह जाता है और अपना जीवन पशुओं की तरह केवल खाने-पीने, सोने आदि में ही बिता देता है तो वह अपना मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही गँवाकर इस संसार से चला जाता है। ऐसे मनुष्य का जीवन निरर्थक ही कहा जायेगा। गणेशप्रसाद वर्णी ने बड़े ही स्पष्ट रूप से कहा है:

> मनुष्य वही प्रशस्त और उत्तम है जो आत्मीय वस्तु पर निज सत्ता रखे। (अर्थात् जो केवल अपनी आत्मा को ही अपना माने) जो (संसार की किसी) वस्तु में निजत्व मानते हैं वे ही इस संसार के पात्र हैं, और नाना प्रकार की वेदनाओं के भी पात्र होते हैं।
>
> ऐसे भाव कदापि न करो (अर्थात् ऐसे विचारों को कभी भी अपने अन्दर न लाओ) जिनके द्वारा आत्मा का अध:पात हो। अध:पात (नीचे गिरने) का कारण आसक्त प्रवृत्ति है। जब मनुष्य अधम काम करने में आत्मीय भावों को लगा देता है तब उसकी गणना मनुष्यों में न होकर पशुओं में होने लगती है।[47]

इसी भाव को व्यक्त करते हुए कुंथुसागरजी महाराज भी कहते हैं:

> उत्तम मनुष्य-जन्म को पाकर ऐसा करना (विषय-वासनाओं में लगे रहना) अत्यन्त अयोग्य है। मनुष्य-जन्म को पाकर तो इस आत्मा को सबसे पहले अपना कल्याण कर लेना चाहिए।[48]

अपने अज्ञानवश इस मायामय संसार के मोह में पड़े रहनेवाले जीव अपने मन और इन्द्रियों को वश में नहीं रख पाते। मन और इन्द्रियों से प्राप्त विषय-सुख को ही सच्चा सुख मानकर वे सदा सांसारिक विषयों के पीछे दौड़ते रहते हैं। आत्मज्ञान प्राप्त कर सच्चे सुख की प्राप्ति करने का वे कभी भी प्रयत्न नहीं करते। इस कारण वे आवागमन के चक्र में पड़कर सदा दु:खी बने रहते हैं। उनकी इस दुर्दशा की ओर ध्यान दिलाकर कुंथुसागरजी महाराज उन्हें अज्ञान की नींद से जगाने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं:

> हे आत्मन्! तू अनादि काल से अत्यन्त भयंकर इस संसाररूपी महासागर में परिभ्रमण कर रहा है और इस प्रकार परिभ्रमण करते-करते अनन्तकाल व्यर्थ ही व्यतीत हो गया।
>
> हे आत्मन्! तू आज तक इंद्रिय और मन के सुखों में ही लगा आ रहा है तथा इन काल्पनिक और झूठे सुखों में लगे रहने के कारण ही तूने आज तक अनन्त सुख देनेवाले आत्मा के स्वभाव रूप धर्म का आराधन नहीं किया। इसीलिए हे आत्मन्! जिनको हम लोग कभी मन से भी चिंतवन नहीं कर सकते ऐसे अकस्मात् होनेवाले व अन्य अनेक प्रकार के असह्य दु:ख तुझे भोगने पड़े।[49]

इस मायावी संसार के लुभावने विषयों के भोग से जीव को कभी भी तृप्ति नहीं होती। विषयों के झूठे सुख आख़िर दु:ख में बदल जाते हैं और जीव को सदा दु:ख ही भोगना पड़ता है, जैसा कि *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> दु:ख से दूर भागनेवाला और सुख चाहनेवाला यह प्राणी मोह से अन्धा होकर भले-बुरे का विचार न करके जिस-जिस चेष्टा को करता है, उस-उससे वह दु:ख को पाता है।[50]

ऐसे मनुष्य पशुओं से भी बदतर हैं, क्योंकि पशु तो विवेक की शक्ति से रहित होने के कारण धर्म-साधना या आत्म-कल्याण के लिए प्रयत्न नहीं कर सकते। पर विवेक शक्ति के रहते हुए भी यदि मनुष्य आत्म-कल्याण के लिए प्रयत्न नहीं करता और केवल सांसारिक वस्तुओं के ही लोभ और मोह में फँसा

रहता है तो उसका मनुष्य-जीवन निरर्थक ही माना जायेगा। इसे समझाते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> जो मनुष्य केवल धन कमाने में ही रात-दिन एड़ी से चोटी तक पसीना बहाता रहता है और धर्म-कर्म को भूल जाता व उस धन का उचित रूप से स्वयं भोग नहीं करता तथा न दूसरों की सहायता व परोपकार करता है, वह भोजन की परोसी हुई थाली को ठुकरा कर लंघन करनेवाले (बिना खाये-पीये रहनेवाले) मनुष्य के समान ही मूर्खता करता है, और केवल क्लेश का पात्र होता है। आख़िर वह धन कमाता किस लिए है? ऐसे ही जो मनुष्य केवल धन कमाने और खाने, पीने, मौज उड़ाने में ही मस्त होकर आत्मोन्नति के लिए धर्म साधन करना व मोक्ष पुरुषार्थ की ओर लक्ष्य रखना नहीं चाहता या भ्रमवश उन्हें भूल जाता है तो नि:सन्देह वह पशु से भी बदतर अपने जीवन को मनुष्यत्व व कर्त्तव्यहीन बनाकर बरबाद करता हुआ कौए को उड़ाने के लिए क़ीमती रत्न को फेंक देने की मूर्खता करता है; क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य पशुओं की भाँति जैसे तैसे पेट भर लेना और भोग विलास कर लेना ही नहीं हैं।[51]

चम्पक सागरजी महाराज ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं:

> ऐसे दुर्लभ मनुष्य भव (जन्म) को पाकर जो मूर्ख धर्म की साधना में यत्न नहीं करता है, वह महान् कष्ट से प्राप्त किये हुए चिन्तामणि रत्न को आलस्य से समुद्र में फैंक देता है।[52]

वे फिर कहते हैं:

> इस अपार संसार में महा कष्ट से मनुष्यभव प्राप्त कर जो मनुष्य विषय सुख की तृष्णा में अत्यन्त आसक्त हुआ आत्मचिंतवन, जिनेन्द्र पूजा, गुरु-वन्दना, *जिन-वाणी* का श्रवण, स्वाध्याय, संयम ...आदि धर्म को नहीं करता है तो वह मूर्ख शिरोमणि धर्मरूप जल्दी तरानेवाले जहाज़

को छोड़कर विषयासक्ति रूप पत्थर को गले में लगाकर इस संसाररूप समुद्र में डूबता है, अर्थात् भ्रमण करता है।[53]

आवागमन के चक्र से निकलने के एकमात्र अवसर, मानव-जीवन को सासांरिक विषयों के लोभ और मोह के चलते बरबाद करना, अन्धे का जेल की दीवार को टटोलते हुए उसके एकमात्र दरवाज़े पर आते समय शरीर खुजलाने या अन्य इसी प्रकार के काम में लग जाने के कारण उससे न निकल पाने के समान है। ऐसा करने से वह जेल से निकलने के एकमात्र अवसर को खो देता है। इस उपमा द्वारा चम्पक सागरजी महाराज मनुष्य-जीवन के इस एकमात्र अवसर को हाथ से न निकलने देने के लिए हमें सजग करते हैं। वे कहते हैं:

जैसे कोई अन्धा मनुष्य मीलों लम्बे चौड़े परकोटे में भटक रहा है जिसमें कि केवल एक ही द्वार बाहर निकलने का बना हुआ है। वह बेचारा अन्धा दीवाल के सहारे हाथों से टटोलता हुआ उस परकोटे का चक्कर लगाता है। चक्कर लगाते-लगाते जब वह द्वार आता है तब दुर्भाग्य से उसको कभी खुजली हो उठती है जिसको खुजाने के लिए चलता हुआ ज्यों ही हाथ उठाता है कि वह द्वार निकल जाता है, फिर सारा चक्कर लगाना पड़ता है। कभी उसी द्वार के आने पर छाती में पीड़ा होने लगती है, तब टटोलनेवाला हाथ छाती पर जा लगता है, समीप आया हुआ द्वार छूट जाता है, फिर उसे सारा चक्कर लगाना पड़ता है। इसी तरह जन्मभर चक्कर लगाते-लगाते बेचारा उस परकोटे से बाहर नहीं हो पाता। इसी तरह संसारी जीव को बन्दीगृह (जेल) में चक्कर लगाते-लगाते एक मनुष्य भव ऐसा मिलता है जिसके द्वार से यह संसार के बन्दीघर से बाहर निकल सकता है। किन्तु उस समय घर, परिवार, मित्र, परिकर (घर के लोग), धन संचय के मोह में आकर अपना समय बिता देता है। मनुष्य भव गया कि संसार जेल से निकलने का द्वार भी जीव के हाथ से निकल गया। जब कभी सौभाग्य से मनुष्य का शरीर मिला तब फिर पुत्र-मोह, शत्रु-द्वेष, कन्या के जीवन की चिन्ता, दरिद्रता से युद्ध आदि में फँसकर उस सुवर्ण (सुनहले) अवसर से लाभ नहीं ले पाता।[54]

जो मनुष्य-जीवन के सुनहले अवसर का लाभ नहीं उठाता उसे फिर चौरासी लाख योनियों के चक्कर में पड़कर घोर दुःख उठाना पड़ता है। कुन्थुसागरजी महाराज ने ऐसे मनुष्य की उपमा तेली के बैल से दी है जो कोल्हू के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है। वे कहते हैं:

> जिस प्रकार तेली का बैल आँखों में पट्टी बाँधकर घानी के चारों ओर घूमा करता है उसी प्रकार यह संसारी जीव भी मिथ्यात्व और मोह की पट्टी बाँधकर इस संसार में घूमा करता है। तेली का बैल कोल्हू व घानी के चारों ओर घूमता है और यह जीव चारों गतियों में घूमता है।[55]

कुछ अज्ञानी मनुष्य सच्चे वैराग्य (अनासक्ति) और आत्मज्ञान के न होने पर भी साधु का वेश बनाकर लोगों को ठगते फिरते हैं। इस प्रकार वे अपने दुर्लभ मनुष्य-जीवन को नाहक बरबाद कर देते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए कुंथुसागरजी महाराज कहते हैं:

> जो अज्ञानी व आत्मज्ञान से रहित पुरुष वैराग्य और आत्मज्ञान को धारण किये बिना जिनलिंग (जैन साधु का वेश) धारण करता है उसका यह मनुष्य-जन्म भी व्यर्थ ही जाता है।[56]

शुभचन्द्राचार्य ने ऐसे मनुष्यों के पाखण्डी आचरण को अत्यन्त ही निन्दनीय कहा है। वे कहते हैं:

> कई निर्दय और निर्लज्ज साधुपन में भी अतिशय निन्दा करने योग्य कार्य करते हैं। वे सच्चे कल्याण के मार्ग का विरोध कर नरक में प्रवेश करते हैं। ...जो मुनि (साधु) होकर उस मुनि-दीक्षा को जीवन का उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं, वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं।[57]

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य अपनी आत्मा के स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर परमात्मा बनना है। पर जबतक बुरे कर्मों की ओर प्रेरित करनेवाले बुरे भाव जीव के अन्दर घर किये रहते हैं और वह आत्मा से भिन्न सांसारिक विषयों

में आसक्त रहता है, तबतक उसकी आत्मिक उन्नति नहीं हो सकती, उलटे उसकी अधोगति ही होती है।

परमात्मा बनने की शक्ति रखनेवाला मनुष्य यदि अपनी शक्तियों का सदुपयोग न कर उलटे उनका दुरुपयोग करता है तथा अन्य जीवों पर दया न कर उन्हें कष्ट पहुँचाता है और इस प्रकार अपने हित की हानि करता है तो उसे दानव नहीं तो और क्या कहेंगे? इसी भाव को व्यक्त करते हुए गणेशप्रसाद वर्णी कहते हैं:

> मानव जाति सबसे उत्तम है, अत: उसका दुरुपयोग कर उसे संसार का कण्टक मत बनाओ। इतर जाति को कष्ट देकर मानव जाति को दानव कहलाने का अवसर मत दो।[58]

जो अपने सच्चे हित या आत्म-कल्याण का कार्य करने में आलस या टाल-मटोल करता है और अपने से भिन्न सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों को अपना बनाने में लगा रहता है, वह अपने अनमोल मनुष्य-जीवन को निरर्थक ही गँवा देता है। संसारी मनुष्य अपने सम्बन्धियों और पारिवारिक व्यक्तियों को मोहवश अपना समझता है। पर वे न तो अपने हैं और न कभी अपना बन ही सकते हैं। वे केवल अपने स्वार्थवश उसे घेरे रहते हैं। अपना स्वार्थ पूरा हो जाने पर वे उसके पास भी नहीं फटकते। मनुष्य की यह बहुत बड़ी भूल है कि वह आत्म-कल्याण के दुर्लभ अवसर को सांसारिक व्यक्तियों और पदार्थों के मोह में पड़कर बरबाद कर देता है। इस भूल से बचे रहने के लिए गणेशप्रसाद वर्णी हमें इन शब्दों में चिताते हैं:

> आज काल कर जग मुवा किया न आतम काज।
> पर पदार्थ को ग्रहण कर भई न नेकहु लाज॥
> जिनको चाहत तूँ सदा वह नहिं तेरा होय।
> स्वार्थ सधे पर किसी की बात न पूँछे कोय॥[59]

6

गुरु

गुरु की आवश्यकता

अनेकों योनियों में अत्यन्त लम्बे समय तक भटकते रहने के बाद यदि कभी सौभाग्य से जीव परम दुर्लभ मनुष्य योनि प्राप्त करता है तब भी सुसंगति के अभाव में वह अपनी विवेक-शक्ति का सदुपयोग नहीं कर पाता। वह फिर संसार की असलियत को नहीं समझने की भूल करता है और सांसारिक विषयों की चकाचौंध में भूला हुआ उनसे अनासक्त होने का प्रयास नहीं करता। इस भारी भूल के कारण वह दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाने का अनमोल अवसर गँवा देता है और फिर आवागमन के दुःखदायी चक्र में ही फँसा रह जाता है। अज्ञान के अन्धकार में भटकते रहनेवाला जीव तब तक आवागमन के चक्र से छुटकारा नहीं पा सकता जब तक उसे कोई सच्चा मार्गदर्शक न मिले। इसलिए यदि सौभाग्य से दुर्लभ मनुष्य-जीवन प्राप्त हो जाये तो मनुष्य को अपने विवेक का सदुपयोग कर जल्दी से जल्दी किसी सच्चे गुरु की शरण में जाना चाहिए और उनकी कृपा और सहायता से संसार से अनासक्त होने और मोक्ष की प्राप्ति करने का भरपूर प्रयत्न करना चाहिए। दुर्लभ मनुष्य-जीवन पाकर किसी सच्चे गुरु की शरण में जाना इस जीवन का सबसे बड़ा लाभ है और सच्चे गुरु की खोज न करना इस जीवन की सबसे बड़ी हानि है।

इस सम्बन्ध में कुन्थुसागरजी महाराज बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहते हैं:

> इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि सिवाय मनुष्य के और कोई भी अपना कल्याण नहीं कर सकता तथा यह भी निश्चित है कि मनुष्यपर्याय (जन्म) बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। ऐसा कठिन मनुष्य पर्याय प्राप्त कर लेने पर भी वीतराग निर्ग्रन्थ (राग, मोह आदि से रहित और कर्मबन्धनों से मुक्त) गुरुओं का समागम बहुत ही बड़े शुभ कर्म के उदय से होता है। ऐसे निर्ग्रन्थ गुरुओं के समागम में भी जो मनुष्य प्रमाद (ग़फ़लत) करता है, अपने आत्मा का कल्याण नहीं करता, वह अपने मनुष्य-जन्म को व्यर्थ ही खो देता है। एक बार खोया हुआ मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता।[1]

जीव का कल्याण मोक्ष की प्राप्ति में ही है। इसलिए जो मोक्ष की प्राप्ति में जीव का सबसे अधिक सहायक हो उसे ही परमेष्ट (परम इष्ट), अर्थात् सबसे प्रिय और पूजनीय मानना चाहिए। पारमार्थिक पद और महत्त्व की दृष्टि से जैन धर्म में क्रमशः अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और समस्त साधुओं को परमेष्ट मानकर इन्हें नमस्कार किया जाता है। इन पाँचों परमेष्ट के समूह को पंचपरमेष्टी कहते हैं।

इनमें से पहले और दूसरे, अर्थात् अरहंत और सिद्ध का पद सबसे ऊँचा है, क्योंकि वे परमात्मपद को प्राप्त कर चुके होते हैं। इसलिए उन्हें सच्चा देव, परमात्मा या भगवान् भी कहा जाता है। जो अपनी आध्यात्मिक साधना में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लोकाकाश के शिखर पर स्थित हो जाते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। सिद्ध भगवान् का मनुष्यरूप समाप्त हो गया होता है। वे संसारी जीवों की बुद्धि-वाणी की पहुँच से परे होते हैं। इसलिए संसारी जीव उनसे साधारण रूप में सम्पर्क नहीं कर सकते। पर अरहंत आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करके भी अन्य चार परमेष्टी की तरह मनुष्यरूप में होते हैं। वे वीतरागी सर्वज्ञ महात्मा या सन्त जीवों के कल्याण के लिए संसार में विचरते हैं और अपने उपदेश द्वारा जीवों का कल्याण करते हैं। उनकी इसी विशेषता के कारण जैन ग्रन्थों में उनके नाम का उल्लेख पंचपरमेष्टी में सर्वप्रथम (सिद्धों से भी पहले) किया जाता है।

पण्डित टोडरमल ने अपने ग्रन्थ *मोक्षमार्गप्रकाशक* में इस तथ्य का स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया है:

> यहाँ सिद्धों से पहले अरहंतों को नमस्कार किया सो क्या कारण? ऐसा संदेह उत्पन्न होता है। उसका समाधान यह है:-नमस्कार करते हैं सो अपना प्रयोजन सधने की अपेक्षा से करते हैं; सो अरहंतों से उपदेशादिक का प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है, इसलिए पहले नमस्कार किया है।[2]

हुकमचन्द भारिल्ल ने भी सच्चे गुरु अरहंत भगवान् को जीव का सच्चा हितकारी बताते हुए जीवों के हित की दृष्टि से उन्हें सिद्ध भगवान् से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। वे कहते हैं:

> अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी सच्चे देव हैं। ...सच्चे देव को परमात्मा, भगवान्, आप्त (विश्वसनीय उपदेशक) आदि नामों से अभिहित किया जाता (पुकारा जाता) है। यद्यपि सामान्य कथनानुसार ये शब्द सभी एकार्थवाची हैं तथापि आप्त शब्द अपनी कुछ अलग विशेषता रखता है।
>
> जो वीतरागी और सर्वज्ञ हों वे सभी भगवान् हैं, परमात्मा हैं, सच्चे देव हैं। किन्तु आप्त में एक विशेषता और होती है जो अन्य में नहीं। आप्त वीतरागी और सर्वज्ञ होने के साथ-साथ हितोपदेशी भी होते हैं। सभी भगवान् हितोपदेशी नहीं होते हैं। सिद्ध भगवान् के तो वाणी का संयोग है ही नहीं। सच्चे देव की परिभाषा में हितोपदेशी विशेषण आप्त की अपेक्षा से है।[3]

पूर्व काल में पूर्ण आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर मोक्षपद को प्राप्त कर चुके सिद्ध भगवान् से मोक्ष-मार्ग का उपदेश देनेवाले अरहंत भगवान् (सच्चे गुरु) का अन्तर बतलाते हुए वे फिर कहते हैं:

> यदि देव साक्षात् मोक्षस्वरूप हैं तो गुरु साक्षात् मोक्षमार्ग हैं। वे एक प्रकार से चलते-फिरते सदेह सिद्ध हैं।[4]

अरहंत भगवान् को सच्चा 'हितोपदेशी' बताते हुए हुकमचन्द भारिल्ल बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहते हैं:

> आत्मा का हित सच्चे सुख की प्राप्ति में ही है और सच्चा सुख निराकुलता (शान्ति की अवस्था) में ही होता है। आकुलता (अशान्ति) मुक्ति में नहीं है, अत: मुक्ति के मार्ग में लगना ही प्रत्येक सुखाभिलाषी का कर्त्तव्य है। मुक्ति के मार्ग का उपदेश ही हितोपदेश है। अरहन्त भगवान् की दिव्य-वाणी में मुक्ति के मार्ग का ही उपदेश आता है, अत: वे ही हितोपदेशी हैं। उनकी वाणी के अनुसार ही समस्त जिनागम (जैन शास्त्र) लिखा गया है।[5]

गणेशप्रसाद वर्णी भी अरहंत भगवान् को 'परम गुरु' कहते हुए उनकी सर्वाधिक महत्ता और परोपकारिता इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:

> उनमें (पंचपरमेष्टी में) से अरहंत भगवान् तो परम गुरु हैं जिनकी दिव्य ध्वनि से संसार-आतप (दु:ख) के शान्त होने का उपदेश जीवों को मिलता है। ...जिन उपायों को श्रीगुरु ने दर्शाया है उनके साधन से अवश्यमेव वह पद (जिसे स्वयं श्री गुरु ने प्राप्त किया है) अनायास प्राप्त हो जावेगा।[6]

इस प्रकार अर्हन्त भगवान् या सच्चे गुरु ने दिव्यध्वनि के द्वारा जीवों के उद्धार का ऐसा मार्ग दर्शाया है जिसे अपनाकर जीव निश्चित रूप से संसार-सागर को पार करने में सफल होते हैं। यह अरहंत भगवान् या सच्चे सन्त सद्गुरु का जीवों के प्रति सबसे बड़ा उपकार है। अरहंत भगवान् के इस महान् उपकार को स्पष्टता से समझाते हुए *तत्त्वभावना* में कहा गया है:

> जो स्वयं जिस काम को सिद्ध कर लेता है वह उस काम में दूसरे को भी लगाकर उसका उद्धार कर सकता है। अर्हन्त भगवान् सम्यग्ज्ञान की सेवा करके स्वयं कर्मों के बंधन से छूटकर स्वाधीन (मुक्त) हो गये। वे अपनी दिव्यवाणी से इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं कि

जो कोई सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान को प्राप्त करके आत्मानुभव करेगा वह संसार-समुद्र से उसी तरह पार हो जायेगा जिस तरह हमने पार पा लिया है। उनकी इस सम्यक् शिक्षा को जो ग्रहण करते हैं व उसपर चलते हैं वे भी शीघ्र संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं और उस मोक्षलक्ष्मी को पा लेते हैं जिसके लिए सन्त पुरुष निरन्तर भावना किया करते हैं व जिसका कभी क्षय नहीं होता है तथा जो कर्ममल से रहित निर्मल है। आचार्य कहते हैं कि जो स्वयं तर गये हैं उनके द्वारा यदि दूसरे तार लिए जायें तो कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है। जो जहाज़ स्वयं तरता है वही दूसरों को भी अपने साथ पार कर देता है। तात्पर्य यह है कि हमको श्री अरहंत भगवान् की परमोपकारिणी शिक्षा के ऊपर चलकर अपना आत्मोद्धार कर लेना चाहिए।[7]

इन कथनों से स्पष्ट है कि पंचपरमेष्टी में जिन पाँचों को शामिल किया गया है वे सभी पूजनीय और नमस्कार-योग्य हैं। पर जीव-कल्याण की दृष्टि से इन सब में अरहंत भगवान् या सच्चे सन्त सद्गुरु ही जीव के सबसे अधिक हितकारी हैं। इसीलिए उन्हें 'परमगुरु' कहा गया है। वे अपनी दिव्यध्वनि द्वारा सच्चे मोक्ष-मार्ग का उपदेश देकर जीवों को संसार से मुक्त करते हैं।

जीवों का कल्याण मोक्ष-प्राप्ति में ही है। इसीलिए जैन धर्म में गुरु को जीव-कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया है। यों तो साधारण बोलचाल की भाषा में जो भी किसी प्रकार का ज्ञान देता है उसे हम गुरु कह देते हैं। पर जीवों के परमहित या मोक्ष के प्रंसग में अरहंत भगवान् को ही परम गुरु माना जाता है।

अरहंत भगवान् के अतिरिक्त जैन धर्म में आचार्य, उपाध्याय और साधु को भी गुरु का पद प्राप्त है। इसीलिए उनका उल्लेख पंचपरमेष्टी में किया जाता है। वास्तव में वे ही लोक में विशेष रूप से गुरु के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि अरहंत भगवान् का पाया जाना दुर्लभ माना जाता है। हुकमचन्द भारिल्ल ने वीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवान् को 'परमगुरु' और शेष आचार्यादि को 'अपरमगुरु' या 'परम्परा गुरु' कहा है।[8] वीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवान्

को आध्यात्मिक साधना में पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है और वे जीते-जी उच्चतम अविनाशी पद प्राप्त कर चुके होते हैं। पर आचार्यादि गुरु सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में उच्चता प्राप्त कर लेने पर भी अभी उच्चतम आध्यात्मिक पद की प्राप्ति के लिए यत्नशील होते हैं। अरहंत भगवान् की तरह इन्हें भी धर्मोपदेश देने का अधिकार होता है। इस प्रकार संक्षेप में जैन धर्म के अनुसार गुरु वही कहला सकता है जो सम्यग्दर्शन (आन्तरिक अनुभव पर आधारित सच्ची श्रद्धा),सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से युक्त हो और रागादि विकारों से मुक्त होकर एकमात्र जीवों के कल्याण के लिए सच्चे मोक्ष-मार्ग का उपदेश देता हो। इस सम्बन्ध में हुकमचन्द भारिल्ल ने कहा है:

> सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा जो महान बन चुके हैं, उनको गुरु कहते हैं।[9]

जो स्वयं विकारग्रस्त हों और संसार से वीतराग या उदासीन नहीं हुए हों वे दूसरों को विकारमुक्त और वीतरागी होने का उपदेश कैसे दे सकते हैं? इसलिए गुरु स्वयं राग, द्वेष मोहादि विकारों से मुक्त होकर समत्व-भाव धारणकर संसार में विचरते हैं और जीवों को उनके उद्धार का मार्ग बतलाते हैं। इसलिए गुरु को मुक्तिदाता कहते हैं।

जैन धर्म में देव और गुरु के साथ ही शास्त्र को भी आदरणीय स्थान प्राप्त है, क्योंकि शास्त्र द्वारा जीवों को परमार्थ-सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त होती है तथा मोक्ष-मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। वास्तव में सच्चे शास्त्र या सद्ग्रन्थ तीर्थंकर या परमगुरु की दिव्यध्वनि पर ही आधारित माने जाते हैं। इसलिए वे हितकारी हैं तथा आदर और सत्कार के योग्य हैं। वे केवली (सर्वज्ञ) तीर्थंकर की परम्परा को बनाये रखने में सहायक होते हैं, जैसा कि पण्डित टोडरमल ने अपने *मोक्षमार्गप्रकाशक* में स्पष्ट किया है:

> अनादि से तीर्थंकर केवली (सर्वज्ञ) होते आये हैं, उनको सर्व का ज्ञान होता है; ...पुनश्च, उन तीर्थंकर केवलियों का दिव्य ध्वनि द्वारा ऐसा उपदेश होता है जिससे अन्य जीवों को पदों का एवं अर्थों का ज्ञान होता है;

उसके अनुसार गणधरदेव अंगप्रकीर्णरूप ग्रन्थ गूँथते हैं तथा उनके अनुसार अन्य-अन्य आचार्यादिक नानाप्रकार ग्रंथादिक की रचना करते हैं। उनका कोई अभ्यास करते हैं, कोई उनको कहते हैं, कोई सुनते हैं—इस प्रकार परम्परामार्ग चला आता है।[10]

इस प्रकार तीर्थंकर, देव या परम गुरु दिव्यध्वनि द्वारा अधिकारी जीवों को उपदेश देकर अर्थात् दिव्यध्वनि के सम्पर्क में लाकर उन्हें प्रत्यक्ष रूप से पारमार्थिक ज्ञान प्रदान करते हैं, जबकि गणधरादि ग्रन्थकर्ता शास्त्रों के माध्यम से उस ज्ञान को परोक्षरूप से प्रस्तुत करते हैं जिसे जीव अपनी बुद्धि द्वारा ग्रहण करने या समझने का प्रयत्न करते हैं।

तीर्थंकरों या परम गुरु की दिव्यध्वनि पर आधारित होने के कारण ही सद्ग्रन्थों या शास्त्रों को प्रामाणिक माना जाता है। पर शास्त्रों के मर्म को समझने के लिए किसी सच्चे ज्ञानी गुरु की आवश्यकता होती है, अन्यथा उनका सही मर्म न समझने के कारण अनाड़ी जीवों को उनसे लाभ के बदले हानि हो सकती है। इस बात को समझाते हुए हुकमचन्द भारिल्ल कहते हैं:

जैसे औषधि-विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों में अनेक प्रकार की औषधियों का वर्णन होता है। यद्यपि सभी औषधियाँ रोगों को मिटानेवाली ही हैं, तथापि प्रत्येक औषधि हर एक रोगी के काम की नहीं हो सकती। विशेष रोग एवं व्यक्ति के लिए विशेष औषधि विशिष्ट अनुपात के साथ निश्चित मात्रा में ही उपयोगी होती है। यही बात शास्त्रों के कथनों पर भी लागू होती है। अत: उनके मर्म को समझने में पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिये, अन्यथा ग़लत औषधि सेवन के समान लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना अधिक रहती है। शास्त्रों में उल्लिखित विषयों को उसके पूर्वापर प्रसंग और संदर्भ में समझना बहुत आवश्यक है, अन्यथा उसका सही भाव समझ पाना सम्भव नहीं होगा। शास्त्र स्वयं बोलते नहीं हैं, उनका मर्म हमें स्वयं (अपने निजी ज्ञान के आधार पर) या योग्य ज्ञानियों के सहयोग से निकालना पड़ता है।[11]

इस प्रकार हम पाते हैं कि जैन धर्म में अरहंत देव या परम गुरु का स्थान सर्वश्रेष्ठ है और वे ही शास्त्रों की प्रामाणिकता के आधार हैं। वे प्रत्यक्ष ज्ञान दाता हैं, जबकि शास्त्रों का ज्ञान ज्ञानियों की सहायता से अप्रत्यक्षरूप से प्राप्त किया जाता है। इसीलिए कुन्थुसागर जी महाराज बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहते हैं:

> इस संसार में सबसे उत्तम पदार्थ भगवान् अरहंतदेव हैं, उनके कहे हुए शास्त्र हैं।[12]

अरहंत देव सर्वज्ञ (केवली) होते हैं और जीवों को मोक्ष-मार्ग का उपदेश देकर वे उनका सबसे बड़ा उपकार करते हैं। *ज्ञानार्णव* में उनकी महिमा और परोपकार का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है:

> ऐसे केवली (सर्वज्ञ) भगवान् शील और ऐश्वर्य सहित पृथ्वीतल में विहार करते हैं। वे विभु (प्रभु) सर्वज्ञ भगवान् पृथ्वीतल में विहार करके जीवों के द्रव्यमल और भावमल रूप मिथ्यात्व को जड़ से नाश करते हैं और समस्त भव्य (मोक्षार्थी) जीवरूपी कमलों की मंडली (समूह) को प्रफुल्लित करते हैं।
> भावार्थ—जीवों के मिथ्यात्व को दूर करके उनको मोक्ष-मार्ग में लगाते हैं।[13]

सच्चा सुख अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति में ही है। पर अनाड़ी जीव संसार के अचेतन विषयों को सुख का साधन समझ उनमें सुख ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं। गुरु जीवों की इस मिथ्यादृष्टि को दूर कर यह बतलाते हैं कि सच्चा सुख चैतन्य में ही है और आत्मा चैतन्यमय है। इसलिए आत्मज्ञान में ही सच्चा सुख है; आत्मज्ञान के बिना सब दुःख ही दुःख है। चैतन्यस्वरूप आत्मा का पूर्ण ज्ञान या अनुभव हो जाने पर जीव को संसारी विषयों से विराग या अनासक्ति हो जाती है। वह वीतरागी बन जाता है। इसीलिए जैन धर्म में वीतरागविज्ञानरूप धर्म को साधने का उपदेश दिया जाता है और यह बताया जाता है कि सच्चे सुख को प्राप्त करने या वीतरागी बनने की इच्छा रखनेवालों के हित के लिए

वीतरागी आत्मज्ञानी महात्मा या गुरु सदा संसार में विद्यमान रहते हैं, जैसा कि वीतरागविज्ञान का उपदेश देते हुए कानजी स्वामी स्पष्ट रूप से कहते हैं:

> चैतन्य का वीतरागविज्ञान सुखरूप है, और ऐसे वीतरागविज्ञानरूप धर्म को साधकरके अनादिकाल से जीव मुक्त होते रहते हैं। वीतराग-विज्ञानवंत जीव (वीतरागी आत्मज्ञानी महात्मा) जगत् में सदाकाल विद्यमान होते ही हैं। अत: मुक्ति के लिए तुम भी वीतरागविज्ञान करो।[14]

संसार के केवल अचेतन विषय ही जीव के लिए दु:खदायी नहीं होते, बल्कि सांसारिक विषयों में आसक्त अपने निकट सम्बन्धी भी अपने मोह में फँसाकर जीव को संसार में अटकाये रखते हैं और उसके दु:ख का कारण बनते हैं। एकमात्र गुरुदेव ही, जो उसे मोक्ष-मार्ग दिखलाकर संसार से मुक्त करते हैं, उसके सच्चे मित्र, बन्धु या हितैषी हैं। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

> हे आत्मन्! जो तुझे संसार के चक्र में डालते हैं, वे तेरे बांधव (हितैषी) नहीं है; किन्तु जो मुनिगण (गुरुमहाराज) तेरे हित की बांछा करके (इच्छा रखकर) बंधुता करते हैं, अर्थात् हित का उपदेश करते हैं, तथा मोक्ष का मार्ग बताते हैं, वे ही वास्तव में तेरे सच्चे और परममित्र हैं।[15]

जैन धर्म के अनुसार जीव के कल्याण के लिए गुरु अत्यन्त ही आवश्यक है। केवल गुरुदेव ही जीव को आध्यात्मिक दीक्षा प्रदान कर सकते हैं तथा गुरु की कृपा और सहायता से ही वह मोक्ष-मार्ग की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है। संसार में साधारणतया दो प्रकार के गुरुओं का उल्लेख किया जाता है: पहले को विद्या गुरु और दूसरे को दीक्षा गुरु कहते हैं। लिखना-पढ़ना सिखानेवाले तथा छोटे-बड़े विद्यालयों में संसार के अनेक विषयों की शिक्षा देनेवाले को विद्यागुरु कहते हैं। पर जो दीक्षा या परमार्थ का भेद देकर जीव के आन्तरिक अन्धकार को दूर करते तथा मोक्ष-मार्ग को प्रकाशित करते हैं और इस प्रकार जीव को वास्तविक सुख और शान्ति की प्राप्ति कराते हैं, उन्हें दीक्षागुरु कहा जाता है। ये दोनों ही उपकारी हैं तथा सत्कार और नमस्कार के योग्य हैं, क्योंकि विद्यागुरु सांसारिक

विद्या सिखलाकर सांसारिक विषयों का ज्ञान देते हैं और दीक्षागुरु आध्यात्मिक विद्या का भेद देकर आत्मिक प्रकाश प्रदान करते हैं। पर जीव का सच्चा कल्याण दीक्षागुरु द्वारा ही होता है, क्योंकि उन्हीं की कृपा और सहायता से जीव अपना परमार्थ सिद्ध करता है तथा दूसरों को भी परमार्थ का उपदेश दे सकता है, अथवा धर्मग्रन्थों की रचना द्वारा उन्हें आत्मशुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग दिखला सकता है। इसीलिए आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज अपने *श्रावक प्रतिक्रमणसार* नामक ग्रन्थ में अपने विद्यागुरु से पहले अपने परम पूज्य दीक्षागुरु श्री शान्तिसागरजी महाराज को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं और उन्हें 'सुख और शान्ति का समुद्र' बतलाकर उनकी महिमा प्रकट करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि उनकी 'कृपा के प्रसाद से ही मैं इस पवित्र ग्रन्थ की रचना कर सका हूँ':

दीक्षागुरो र्मे सुख-शान्ति सिन्धोः...
कृपाप्रसादाद् शास्त्रं मयेदं रचितं पवित्रम्।[16]

सुधर्मोपदेशामृतसार में भी बड़ी ही स्पष्टता के साथ यह बतलाया गया है कि सद्गुरु अर्थात् सच्चे या श्रेष्ठ गुरु की कृपा से ही आन्तरिक आँख खुलती है, आन्तरिक प्रकाश प्रकट होता है और अन्त में आत्मा सच्ची शोभा प्राप्त करती है:

कृपाप्रसादाद्भुवि सदगुरोश्च विज्ञानचक्षुः प्रकटीभवेद्धि।
तेनैव विज्ञानविलोचनेन पलायतेऽज्ञानतमःप्रपंचः॥
सूर्योदयादेव तमो यथा हि ज्ञात्वेति कार्यो गुरुसंग एव।
निश्चीयते वेति ततस्त्रिलोके न भांति लोका गुरुबोधशून्याः॥

अर्थ—इस संसार में श्रेष्ठ गुरुओं की कृपा के प्रसाद से इन संसारी जीवों के ज्ञानरूपी नेत्र प्रकट हो जाते हैं तथा जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अंधकार सब नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार उस ज्ञानरूपी नेत्र के द्वारा अज्ञानरूपी अंधकार का समूह सब नष्ट हो जाता है। यही समझकर गुरुओं का समागम सदाकाल करते रहना चाहिए;

क्योंकि तीनों लोकों में यह बात निश्चित है कि गुरुओं द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान के बिना ये संसारी जीव कभी शोभायमान नहीं होते।[17]

सांसारिक बन्धन से छुटकारा पाकर मोक्षधाम प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला जीव किस प्रकार सद्गुरु के पास जाकर उनसे विनयपूर्वक दीक्षा (आध्यात्मिक ज्ञान-दान) की याचना करता है और किस प्रकार दयालु सद्गुरु कृपा कर उसकी अभिलाषा पूरी करते हैं, इसका वर्णन जैन पुस्तक *राम कथा* में भी इन शब्दों में किया गया है:

जाके चारण-साधु (प्रशंसक साधुजन) चरण-तट, करके सविनय
उन्हें प्रणाम।*
दें भगवन् जिन दीक्षा मुझ को, पाऊँ जिससे शिवपुर (मोक्ष) धाम।
भव के दुःखदायक भोगों से, मैं हूँ मन में अधिक उदास।
तोड़ दीजीये हे करुणा-धन, कृपया मेरा यह भव पाश।
मुनि बोले हे हे! भव्योत्तम (श्रेष्ठ), आया तुम को दिव्य विचार।
ऐहिक (सांसारिक) दिव्य सुखों को तजकर, बिरले करें
आत्म उद्धार॥[18]

वास्तव में सांसारिक बन्धन को नष्ट करनेवाले सच्चे ज्ञान का भेद (गुरु-दीक्षा) जीवों को सद्गुरु की कृपा से ही प्रसादरूप में प्राप्त होता है। प्रसाद कृपा करके दिया जाता है, ज़बरदस्ती लिया नहीं जा सकता। सद्गुरु कृपाकर अधिकारी जीवों (चुने हुए पात्रों) को दीक्षा (सच्चा ज्ञान-दान) देते हैं। इस दीक्षारूपी बीज से ही पारमार्थिक ज्ञान का वृक्ष विकसित होता है जो मोक्ष का फल देता है। सच्चे गुरु से प्राप्त की गयी दीक्षा कभी निष्फल नहीं होती। वह अवश्य ही पुरुषार्थी शिष्य को मोक्ष का फल प्रदान करती है। इसीलिए ऊपर के पद में मोक्ष-धाम का इच्छुक जीव सद्गुरु से विनयपूर्वक दीक्षा का दान माँगता है।

---

* जिनके चरणरूपी पवित्र किनारे को प्रशंसक साधुजन, अर्थात् सज्जनगण (मन ही मन) विनयपूर्वक प्रणाम कर यह प्रार्थना करते हैं।

अक्सर चार प्रकार के दान की चर्चा की जाती है। पर इन चारों में सद्गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान-दान ही श्रेष्ठ माना जाता है। ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई इन चारों दानों का उल्लेख करते हुए ज्ञान-दान की उत्तमता या श्रेष्ठता का कारण इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:

> ऐसे पात्र जीवों को चार प्रकार का दान देना चाहिए:-
>
> (१) आहारदान, (२) औषधदान, (३) अभय दान, (४) शास्त्र दान (शास्त्र-प्रतिष्ठित ज्ञान-दान)। इन चारों ही प्रकार के दानों में उत्तमदान ज्ञान-दान ही है, क्योंकि आहार दान देने से पात्र जीव एक दिन की क्षुधा नाम के रोग से मुक्त हो सकता है, औषधदान देने से पात्र जीव महीना दो महीना वर्ष आदि तक रोग से मुक्त हो सकता है, अभयदान देने से पात्र जीव एक आयु तक भय से मुक्त हो सकता है और ज्ञान-दान देने से जीव अनन्त भव का जन्म-मरण नाश करके सिद्ध पद की प्राप्ति कर सकता है।[19]

सन्त सद्गुरु से प्राप्त ज्ञानरूपी प्रसाद द्वारा साधक किस प्रकार अपनी साधना में आनेवाले विघ्नों और सांसारिक प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करने में सफल होता है, इसे *जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला* में एक बड़े ही सुन्दर दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। संसार के प्रलोभन, भ्रमपूर्ण विचार और राग-द्वेष आदि सर्प के समान हैं और दृढ़तापूर्वक अपनी साधना में लगा हुआ पुरुषार्थी जीव नेवले के समान है जिसे सन्त सद्गुरु की दीक्षारूपी जड़ी-बूटी प्राप्त है। इस जड़ी-बूटी के प्रभाव से वह संसाररूपी सर्प के विषरूप विघ्न को दूरकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो जाता है, जैसा कि *जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला* में स्पष्ट किया गया है:

> साँप और नेवला एक दूसरे का दुश्मन होता है। जब नेवला साँप के साथ लड़ाई करता है तो जंगल में एक नोलबेल नाम की जड़ी-बूटी होती है उसी के पास रहकर नेवला साँप के साथ लड़ाई करता है, क्योंकि यदि लड़ाई में साँप काट ले, तो उस नोलबेल बूटी को सूँघ

लेने से उसका विष दूर हो जाता है, तो हर हालत में नेवला साँप को मार देता है; उसी प्रकार यह सारा संसार सर्प-रूप है और पुरुषार्थ करनेवाला जीव नेवला के समान है।

सर्प रूप संसार है, नौल रूप नर जान।
सन्त बुटी संयोग तें, होत अहि-विषहाण॥

यह संसार सर्परूप है और नेवलारूपी पुरुषार्थ करनेवाला जीव है; जब यह जीव संसार के विषय भोगों की अनुकूलता और प्रतिकूलता में जलता है, तब उसको संतरूप जड़ी-बूटी से सर्परूप जो मिथ्यात्व है, उसका नाश हो जाता है। यह जीव अनादि काल से दुःखी हो रहा है, उसका कारण केवल यही है कि इसे सन्तरूपी बूटी नहीं मिली।[20]

जब तक जीव निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण किसी सन्त सद्गुरु से दीक्षा ग्रहणकर उनकी सेवा में नहीं लगता, अर्थात् उनके उपदेशानुसार दृढ़तापूर्वक पारमार्थिक अभ्यास में नहीं जुटता, तब तक उसके लिए मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसीलिए शुभचन्द्राचार्य सच्चे महात्मा के कुछ लक्षणों को बतलाकर उनकी सेवा में लगने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं:

जो संयमी मुनि (महात्मा) तत्त्वार्थ का (वस्तुका) यथार्थ स्वरूप जानते हैं, मोक्ष तथा उसके मार्ग में अनुरागी हैं, और संसारजनित सुखों में निस्पृह (बांछारहित) हैं वे मुनि (महात्मा) धन्य हैं। उनका कीर्त्तन वा प्रशंसा की जाती है।

जिन मुनिजनों का संयमरूपी जीवन क्रोधादि कषायरूप सर्पों से तथा अजेय रागादि निशाचरों से नष्ट नहीं हुआ है; तथा जिनका चित्त निर्मल ज्ञानरूप अमृत के पान से पवित्र है और जो स्थावर त्रस (नहीं चलनेवाले और चलनेवाले) भेदयुक्त जगत् के जीवों के लिए करुणारूपी जल के समुद्र हैं, हे आत्मन्! मुक्तिरूपी मंदिर पर चढ़ने की प्रवृत्ति करते हुए तुझे पूर्वोक्त प्रकार के मुनियों (सन्तों या महात्माओं) के चरणों की छाया ही सोपान (सीढ़ी) की पंक्ति के समान होवेगी।

भावार्थ—जिनको ध्यान की सिद्धि करनी हो, उन्हें ऐसे मुनियों (सन्तों या महात्माओं) की सेवा करनी चाहिये।[21]

इस दुर्लभ मनुष्य-जीवन को सफल बनाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम किसी सच्चे सन्त सद्गुरु की सेवा में जाकर उनसे दीक्षा प्राप्त करें और उनके उपदेश के अनुसार अपने-आप को रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन (सच्ची श्रद्धा), सम्यग्ज्ञान (सच्चे ज्ञान) और सम्यक् चारित्र (सच्चे आचरण) को सिद्ध करने में पूरी तरह लगा दें। सद्गुरु के बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता। वे अपार कृपा करके और घोर कष्ट उठाकर जीवों को जगाते हैं, उन्हें सन्मार्ग में लगाते हैं और उन्हें सदा के लिए सुखी बनाने का अथक प्रयास करते हैं। सन्त सद्गुरु की अनुपम कृपा का उल्लेख करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं:

अहा जीवों को हितपंथ में लगाने के लिए सन्तों ने बड़े अनुग्रह से उपदेश दिया है। मिथ्यात्वादि भाव (आत्मा से भिन्न पदार्थों में मैं-मेरी का भाव आदि) ही संसार के जाल हैं, उसमें फँसकर जीव चार गति में रुलता है और दुःखी होता है। उसको दुःख से छुड़ाकर सुख का अनुभव कराने के लिए श्रीगुरु ने यह वीतरागविज्ञान का उपदेश दिया है।

तातें दुःखहारी सुखकार, कहें सीख गुरु करुणाधार।
ताहि सुनोभवि मन थिर आन, जो चाहो अपना कल्याण॥

हे भाई! तुम्हारे अपने ही कल्याण के लिए इस उपदेश को तुम अंगीकार करो। आत्महित के अभिलाषी मुमुक्षु जीवों! गृहीत-अगृहीत (ग्रहण किये हुए और ग्रहण न किये हुए) सभी मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को छोड़कर और शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अंगीकार करके आत्मकल्याण के मार्ग में लागो, पराश्रयभावरूप (पराये में आत्मभावरूप) इस संसार में भटकना छोड़ो, मिथ्यात्वादि भावों का सेवन छोड़ो और सावधान होकर आत्मा को रत्नत्रय की आराधना में जोड़ो।[22]

सद्गुरु के इस प्रकार समझाने पर और अपने उद्धार का सुअवसर सामने आने पर भी यदि मूढ़ प्राणी उनकी बातें न माने, उलटे उपद्रव ठाने और उन्हें कष्ट देने का प्रयत्न करे तो फिर उसे कौन बचाये? वह फिर अपना आप ही जाने। ऐसे जीव के सम्बन्ध में पण्डित टोडरमल जी कहते हैं:

> जिस प्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकन मात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे कोढ़ी को अमृत-पान कराये और वह न करे; उसी प्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हम से तो नहीं हो सकती। स्वाधीन (आत्मनिर्भर, आत्मसन्तुष्ट, किसी से कुछ लाभ की आशा न करनेवाला) उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्मवचनों को नहीं सुनते वे धीठ (ढीठ या उदण्ड) हैं और उनका दुष्ट चित्त है।[23]

जब जीव सद्गुरु के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनता है, उसे मानता है और फिर उसके अनुसार दृढ़तापूर्वक अभ्यास करता है, तभी वह पारमार्थिक मार्ग में कुछ आगे बढ़ सकता है। यह साहसी और पुरुषार्थी साधकों का मार्ग है, कायरों और कामचोरों का नहीं। भूधरदास जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है:

> सतगुर देय जगाय, मोह नींद जब उपशमैं।
> तब कछु बनहिं उपाय, कर्मचोर आवत रुकैं॥[24]

परम दयाल गुरु तो दया करते हैं, पर मूढ़जन अपनी मूढ़ता से बाज़ नहीं आते। भाग्यशाली मनुष्य गुरु की महानता को समझते हुए उन्हें परमात्मरूप मानते हैं, उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति का भाव रखते हैं और उनकी दया का लाभ उठाते हैं, पर मूढ़ अपनी मूर्खता के कारण उनका अनादर करते हैं, उन्हें कष्ट देने की चेष्टा करते हैं और अन्त में रोते-बिलखते और हाथ मलते संसार से विदा लेते हैं। सद्गुरु के प्रति ज्ञानी (विचारवान् व्यक्ति) और मूढ़जन के व्यवहार की इस भिन्नता का संकेत देते हुए *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में कहा गया है:

श्रीगुरु परमदयाल है, दियो सत्य उपदेश।
ज्ञानी माने जान के, ठाने मूढ कलेश॥[25]

गुरु का स्वरूप

इस अध्याय के प्रथम भाग का अन्त करते हुए जिस दोहे को उद्धृत किया गया है, उसकी पहली पंक्ति 'श्रीगुरु परमदयाल है, दियो सत्य उपदेश' से ही सच्चे गुरु के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है। यों तो सच्चे गुरु के ज्ञान, सामर्थ्य और सदाचार सम्बन्धी सभी गुणों को गिनाना कठिन है, क्योंकि वे अनन्त गुणों के स्वामी होते हैं, फिर भी इस पंक्ति में उनके मुख्य गुणों की ओर संकेत करते हुए यह कहा गया है कि सच्चे गुरु परम दयालु होते हैं, उन्हें सत् (अविनाशी तत्त्व) का पूर्ण अनुभव प्राप्त होता है और वे कृपाकर जीवों के कल्याण के लिए उन्हें सत् का ही उपदेश देते हैं। इसी कारण उन्हें संस्कृत में 'सद्गुरु' और हिन्दी में 'सतगुरु' या 'सत्गुरु' कहते हैं। जिसे सत् का यथार्थ अनुभव नहीं होता वह सत् का उपदेशक नहीं हो सकता। इसीलिए कानजी स्वामी मुमुक्षु (मोक्ष के इच्छुक) जीवों को सावधान करते हुए कहते हैं:

> मुमुक्षु जीवों को यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जिन्होंने सत् का अनुभव किया हो—ऐसे 'सत्' पुरुषों के निकट ही सत् का उपदेश मिल सकता है, किन्तु जिन्होंने 'सत्' का अनुभव ही नहीं किया—ऐसे' अज्ञानियों के पास से कभी सत्-उपदेश की प्राप्ति नहीं होती।[26]

यदि कोई यह प्रश्न करे कि क्या हम अपने-आप सत् का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, तो उसे समझाया जा सकता है कि साधारणत: जो ज्ञान हम अपने-आप प्राप्त करते हैं वह अपने इन्द्रियों और मन द्वारा ही करते हैं। पर इन्द्रियों और मन द्वारा केवल सांसारिक पदार्थों का ही ज्ञान होता है जो सभी असत् (नश्वर) हैं। सत् का ज्ञान इन्द्रियों और मन द्वारा नहीं होता। वह ज्ञान अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से परे) है। इसे केवल आन्तरिक ध्यान या समाधि द्वारा अपने अन्तर में अनुभव किया जाता है। सच्चे गुरु उस ज्ञान को प्राप्त करने के बाद ही अपने अनुभव के आधार पर दूसरों को इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं और उसका

मार्ग बतलाते हैं। सच्चे गुरु के उपदेश के बिना सत् का ज्ञान इन्द्रियों या मन-बुद्धि द्वारा पहले से कभी किसी को प्राप्त नहीं हुआ होता। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही कोई साधक केवली (सर्वज्ञ) गुरु का पद प्राप्त करता है। इस ज्ञान की प्राप्ति से उसे अनन्त सुख, अनन्त शक्ति आदि अन्य सभी सद्गुण सहज ही प्राप्त हो जाते हैं और वह सच्चे गुरु का पद प्राप्तकर जीवों का सच्चा हितोपदेशी बन जाता है।

वास्तव में सत् का अनुभव करनेवाले सद्गुरु या अर्हन्त (अरिहंत) देव की कृपा से ही कोई सच्चा शिष्य गुरु-पद की प्राप्ति करता है। उनकी कृपा के बिना कोई अपने-आप सद्गुरु या अरिहंत नहीं बन सकता। आचार्य श्री शिवमुनि जी महाराज ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है:

> अरिहंत होने की योग्यता गुरु की कृपा के बिना सम्भव नहीं है।[27]

अर्हत् (अर्हन्त) या सन्त सद्गुरु की सेवा और भक्ति द्वारा ही साधक सच्चे ज्ञान को प्राप्त कर मुक्ति की प्राप्ति करता है और फिर वह अपने गुरु की कृपा से स्वयं गुरु के पद को प्राप्त कर जीवों को मुक्ति का उपदेश देता है। इस प्रकार मनुष्य-जीवन के लक्ष्य, मुक्ति की प्राप्ति गुरु-भक्ति द्वारा ही होती है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य शिव मुनि जी कहते हैं:

> जैन धर्म के अनुसार अर्हत् एक आदर्श सन्त हैं, सर्वोच्च शिक्षक (उपदेशक) हैं एवं सर्वज्ञ हैं। जो उनकी भक्ति करता है, वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[28]

सद्गुरु या अरिहन्त देव अपना मुक्तिदायक उपदेश बिना किसी निजी स्वार्थ के केवल जीवों के उपकार के लिए प्रदान करते हैं। इसलिए उन्हें आप्त या सच्चा हितकारक कहा जाता है। *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* में इसे इन शब्दों में समझाया गया है:

> दोषों से रहित, सर्वज्ञ और जैनागम का उपदेष्टा ही सच्चा आप्त (विश्वसनीय उपदेशक, अरिहन्त) है। अन्य कोई सच्चा आप्त अर्थात् सच्चा देव नहीं है।

परमपद में स्थित, केवल ज्ञान की ज्योति से प्रकाशित, वीतरागी, कर्ममल से रहित, कृतकृत्य, सर्वज्ञ, आदि-मध्य-अन्त से भी रहित, सभी प्राणियों के हितकारक सच्चे देव ही हितोपदेशी कहलाते हैं।

जैसे वादक के हाथ का स्पर्श पाकर मृदंग बजने लगता है, उसे और कोई अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार हितोपदेशी अरिहन्त देव जीवों के हित के लिए बिना किसी स्वार्थ, राग और अपेक्षा के उपदेश देते हैं। वे ही सच्चे देव हैं।[29]

लोक प्रकाशक और लोक हितकारी गुरु या उपदेशक बनने के लिए अपने ध्यान में पूर्ण एकाग्रता प्राप्त कर केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति करना आवश्यक है। केवल ज्ञान की प्राप्ति करने का उल्लेख *ज्ञानार्णव* में इस प्रकार किया गया है:

(साधक) एकत्ववितर्क अविचार (पूर्ण एकाग्र) ध्यान से घाति कर्म (आत्मा के स्वरूप को ढकनेवाले कर्म) को नाश करके, अपने आत्मलाभ को प्राप्त होता है और अत्यन्त उत्कृष्ट शुद्धता को पाकर, केवलज्ञान और केवलदर्शन (पूर्ण विश्वास) को प्राप्त करता है। वे ज्ञान और दर्शन दोनों अलब्धपूर्व हैं, अर्थात् पहले कभी प्राप्त नहीं हुए थे सो उनको पाकर, उसी समय वे केवली (सर्वज्ञ) भगवान् समस्त लोक और अलोक को यथावत् (यथार्थ रूप में) देखते और जानते हैं। जिस समय केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है उस समय वह भगवान् सर्वकाल में उदयरूप (प्रकटरूप) सर्वज्ञदेव होते हैं और अनन्त सुख अनन्त वीर्य (शक्ति) आदिक विभूति (ऐश्वर्य) के प्रथम स्थान (सर्वोच्च स्थान पर) होते हैं।[30]

ऐसे सर्वगुणसम्पन्न सर्वज्ञाता सद्गुरु अपनी दिव्यध्वनि द्वारा अधिकारी जीवों को बोधि (आत्मिक ज्ञान) प्रदान करते हैं। उस दिव्यध्वनि से ही समस्त ज्ञान प्रकट होता है। यह दिव्यध्वनि परम प्रकाशमय होती है। इसीलिए सर्वज्ञाता सद्गुरु को बोधिसत्व (परम ज्ञानमय या चैतन्यमय) और वैश्वानर

(परम ज्योतिर्मय परमात्मा) भी कहा जाता है। *जैनधर्मामृत* में इन बातों को इस प्रकार समझाया गया है:

> जो शारीरिक-मानसिक आदि सर्व प्रकार के क्लेशों में पड़े हुए प्राणियों को सर्व-अर्थों की प्रतिपादन करनेवाली अपनी अनुपम भाषा या दिव्यवाणी द्वारा बोध-प्रदान करता है, उसे 'बोधिसत्त्व' (परम ज्ञानमय या चैतन्यमय स्वभाववाला) कहते हैं। लोकालोक (लोक और अलोक) को प्रकाश करनेवाली केवलज्ञानरूपी किरणों द्वारा जिसकी आत्मा में सदा सुप्रभात रहता है, वह 'भव्य-दिवाकर' (दिव्य ज्ञान का शीतल और सुखद प्रकाश देनेवाला सूर्य) कहलाता है। जिसने ध्यानरूपी अग्नि द्वारा अपने जन्म, जरा और मृत्युरूपी महारोगों को दग्ध कर दिया है और जो आत्म-ज्योतियों का पुंज है वही वस्तुतः 'वैश्वानर' (परमज्योतिर्मय परमात्मा) है।[31]

यह स्पष्ट है कि सच्चे गुरु (सन्त सद्गुरु) जिस ज्ञान को प्रदान करते हैं, वह आन्तरिक ज्ञान है, कोई बाहरी ज्ञान नहीं। सच्चे गुरु संसार से अनासक्त या वीतराग होते हैं। इसलिए वे अपने शिष्यों को संसार के बाहरी विषयों में नहीं उलझाते। वे उन्हें बाहरी क्रियाओं और दिखावटी वेशभूषा से दूर रखना चाहते हैं और उन्हें अन्तर्मुखी बनने का उपदेश देते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं:

> अहा, वीतरागमार्गी सन्तों की कथनी ही जगत से जुदी है। वह अन्तर्मुख ले जानेवाली है। अतः हे जीव! सच्चे गुरु का स्वरूप पहचान कर कुगुरु की मान्यता को तुम छोड़ दो जिससे तुम्हारा हित होगा।[32]

सच्चे गुरु सदा सदाचार के नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए अन्तर्मुखी ध्यान या समाधि द्वारा अपनी आत्मा में लीन होकर सच्चे आनन्द को प्राप्त कर चुके होते हैं। इसलिए वे अपने शिष्यों को भी अन्तर्मुखी होकर अपनी आत्मा में लीन होने का ही उपदेश देते हैं। सच्चे गुरु की पहचान बताते हुए हुकमचन्द भारिल्ल बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:

> सुनो भाई! मूल वस्तु तो आत्मा को समझ कर उसमें लीन होना है। आत्मविश्वास (सम्यग्दर्शन), आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और आत्मलीनता (सम्यक्चारित्र) जिसमें हो तथा जिसका बाह्याचरण भी आगमानुकूल (सद्ग्रन्थों के अनुकूल) हो, वास्तव में सच्चा गुरु तो वही है।[33]

सच्चे गुरु में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। वे सर्वदोषरहित और सर्वगुणसम्पन्न होते हैं। उनकी शक्ति का भी कोई अन्त नहीं होता। पर वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन (दिखावा) नहीं करते। वे शान्त-भाव धारण किये रहते हैं। उनके शान्त स्वरूप के दर्शन मात्र से श्रद्धालु जीवों में आन्तरिक प्रसन्नता, सद्भावना और भक्ति की लहर दौड़ जाती है और वे सहज भाव से मोक्ष-मार्ग की ओर प्रवृत हो जाते हैं। ऐसे गुरु की भक्ति से मन सांसारिक विषयों से हटता है और एकाग्र भाव से आन्तरिक आनन्द में लीन होना चाहता है तथा इसके लिए उचित प्रयत्न या साधना में लगता है। *अनुभव प्रकाश* में गुरु के शान्त स्वरूप और गुरु भक्ति की महिमा का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है:

> गुरु मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग का उपदेश देते हैं। शान्त स्वरूप धारण करनेवाले गुरु कोई वचन बोले बिना ही मोक्ष का मार्ग दिखलाते हैं। ऐसे सर्वदोषरहित श्री गुरु की भक्ति करने को कहा गया है। इनकी भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है, यह समझते हुए गुरु-भक्ति करनी चाहिए। तब मन सब भोगों से उदासीन होकर आत्मस्वरूप में स्थिर होना चाहता है और उसके लिए साधना में लगता है। इसलिए मन की स्थिरता साध्य (लक्ष्य) है और गुरु भक्ति उसका कारण (साधक या प्रेरक) है।[34*]

शान्तभाव धारण करनेवाले सद्गुरु जब कभी जीवों को उपदेश देने के लिए वचन बोलते हैं तो उनका वचन सदा सत्य, मधुर और हितकारी होता है।

---

* गुरु मोक्षमार्ग उपदेशै, शान्त मुद्राधारी गुरु, मुद्रा बिना वचन बोल्या ही मोक्षमार्ग दिखावै, ऐसै श्री गुरु सर्व दोष रहित तिनकी भक्ति कही। इनकी भक्ति मुक्ति का यह कारण जानि करै। तब भव भोगसों उदास होय मन स्वरूप ही की स्थिरता चाहै, क्रिया साधै। तातैं उनकी भक्ति साधक है, मनकी स्थिरता साध्य है। (टिप्पणी 34 का मूल रूप)

वे कभी किसी का दिल नहीं दु:खाते और न गुप्त या प्रकट रूप से दूसरों से अपने लिए कुछ लेते हैं। वे सदा सभी परिस्थितियों में सदाचार के नियमों का पालन करते हैं। वे अहिंसा, सत्य, अचौर्य (दूसरों की कोई वस्तु नहीं लेने के नियम) और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का निर्वाह सहज भाव से करते हैं। इनके इन सद्गुणों का उल्लेख करते हुए मूलशंकर देशाई कहते हैं:

> कैसे हैं वे गुरु? त्रस तथा स्थावर (चर और अचर) जीवों की मन वचन काय से हिंसा करते नहीं हैं, दूसरे जीवों से हिंसा कराते नहीं हैं तथा जो हिंसा करता है उसकी अनुमोदना भी करते नहीं हैं। ऐसे अहिंसा महाव्रत युक्त हैं। वे मुनिराज हित मित (हितकारी और मधुर) आगम (सद्ग्रन्थों के) अनुकूल वचन बोलते हैं। जिनकी वाणी में न कटुता है न कठोरता है, ऐसे सत्य महाव्रत युक्त हैं। वे मुनिराज पराई वस्तु लेने का भाव भी करते नहीं हैं ऐसे अचौर्य महाव्रत युक्त हैं। उन मुनिराज का संसार की सब ही स्त्रियों के प्रति माता, बहिन, पुत्री जैसा व्यवहार है और अपने अन्तरंग में रत्ती भर काम-वासना आने नहीं देते। अत: ब्रह्मचर्य महाव्रत सहित हैं।[35]

यों तो संसार में उपदेशकों की कोई कमी नहीं। पर केवल सद्गुरु ही सच्चे हितोपदेशी होते हैं जो निस्वार्थभाव से केवल जीवों के कल्याण के लिए उपदेश देते हैं। वे स्वयं अध्यात्मरस के आनन्द का अनुभव प्राप्त कर चुके होते हैं और दूसरों को भी अपने उपदेश द्वारा वे उसी आनन्द-रस का अनुभव प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं। जिसने स्वयं अध्यात्मरस को चखा नहीं है उसे सच्चा उपदेशक या वक्ता नहीं मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में पण्डित टोडरमल बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहते हैं:

> अध्यात्मरस द्वारा यथार्थ अपने स्वरूप का अनुभव जिसको न हुआ हो वह जिनधर्म का मर्म नहीं जानता। अध्यात्मरसमय सच्चे जिन धर्म का स्वरूप उसके द्वारा कैसे प्रकट किया जाये? इसलिए आत्मज्ञानी हो तो सच्चा वक्तापना (उपदेशक होने का गुण) होता है। जो अध्यात्मरस का रसिया वक्ता है, उसे जिनधर्म के रहस्य का वक्ता जानना।

...ऐसा जो वक्ता धर्मबुद्धि से उपदेशदाता हो वही अपना तथा अन्य जीवों का भला करता है और जो कषायबुद्धि से (मान, माया, लोभ आदि से युक्त बुद्धि से) उपदेश देता है वह अपना तथा अन्य जीवों का बुरा करता है—ऐसा जानना।[36]

स्वार्थी उपदेशकों से सावधान करने के उद्देश्य से वे फिर कहते हैं:

वक्ता कैसा होना चाहिए कि जिसको शास्त्र बाँचकर आजीविका आदि लौकिक-कार्य साधने की इच्छा न हो; क्योंकि यदि आशावान हो तो यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता।[37]

सच्चा गुरु जिसे आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त हो गया होता है, वह अपनी चैतन्यस्वरूप आत्मा को संसार के समस्त पदार्थों से, जो जड़ या अचेतन हैं, बिल्कुल भिन्न समझता है। संसार के सभी पदार्थों से अपनी आत्मा की भिन्नता के ज्ञान को ही जैन धर्म में 'भेद-विज्ञान' कहा जाता है। इस भेद-विज्ञान के प्रकट होने से सच्चे गुरु को सांसारिक वस्तुओं के प्रति कभी भी राग, द्वेष या मोह नहीं होता। वे सदा शान्त और शीतल बने रहते हैं। उनके सत्य स्वरूप, शीतल चित्त और शान्त भाव का उल्लेख करते हुए जैन कवि बनारसीदास जी उनकी वन्दना इन शब्दों में करते हैं:

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हकै घट, शीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करैं शिवमारग में, जग माहिं जिनेश्वर के लघुनन्दन॥
सत्य सरूप सदा जिन्हकै, प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात्व-निकंदन।
शान्त दशा तिन्हकी पहिचानि, करै कर जोरि बनारसि बंदन॥[38]

अर्थ—जिनके अन्तर में भेद-विज्ञान प्रकट हो गया होता है, उनका चित्त चन्दन की तरह शीतल हो जाता है। अपने को जिनेश्वर भगवान् का एक छोटा (तुच्छ) पुत्र (शिष्य) माननेवाले गुरु संसार में आकर शिवमार्ग, अर्थात् कल्याणमय मोक्ष-मार्ग में चलने का आनन्द मनाते हैं। मिथ्यात्व-भाव को नष्ट करनेवाला उनका निर्मल सत्यस्वरूप सदा प्रकट रहता है। उनकी शान्त दशा को पहचानते हुए बनारसीदास हाथ जोड़कर उनकी वन्दना करते हैं।

समता भाव धारण करनेवाले गुरु के अकथनीय आन्तरिक आनन्द और उनकी अपार महिमा का गुण-गान करते हुए पंडित दौलतराम जी भी कहते हैं:

अरि मित्र महल मसान कंचन,कांच निंदन थुति करन;
अर्घावतारन असि-प्रहारन में सदा समता धरन॥
यों चिन्त्य निज में थिर भये तिन अकथ जो आनंद लह्यो;
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र कै नाहीं कह्यो॥[39]

अर्थ—वीतरागी महात्मा या सच्चे सन्त सद्गुरु शत्रु या मित्र के प्रति, सोना या काँच के प्रति, निन्दा या स्तुति करनेवाले के प्रति और सत्कारपूर्वक पूजा करनेवाले या तलवार से प्रहार करनेवाले के प्रति सदा समता धारण किये रहते हैं। इस प्रकार का समत्व-विचार रखते हुए आत्मस्वरूप में स्थिरता से लीन रहनेवाले महात्मा को जो अकथनीय (वचन से कहा न जा सकनेवाला) आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द देवताओं के राजा इन्द्र, नागों के राजा वासुकि, चक्रवर्ती राजा या अपने-आपको सबका स्वामी मान बैठनेवाले अभिमानी को मिलने की बात कभी नहीं कही जा सकती, अथार्त् इन सभी को वह आनन्द कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

सच्चे गुरु के समता भाव का उल्लेख करते हुए जैन कवि भूधरदासजी भी अपने हृदय में उनके दर्शन की लालसा रख दोनों हाथ जोड़कर उनसे यह विनती करते हैं:

वे मुनिवर कब मिलि हैं उपगारी॥ टेक॥
कंचन काँच बराबर जिनकै, ज्यौं रिपु त्यौं हितकारी।
महल मसान मरन अरु जीवन, सम गरिमा अरु गारी॥ वे0॥
जोरि जुगल कर 'भूधर' विनवै, तिन पद ढोक हमारी।
भाग उदय दरसन जब पाऊँ, ता दिन की बलिहारी॥ वे0॥[40]

अर्थ—पता नहीं वे श्रेष्ठ परोपकारी मुनिवर या महात्मा मुझे कब मिलेंगे जिनके लिए सोना और काँच, शत्रु और हितैषी मित्र, महल और श्मशान भूमि, मरण और जीवन तथा प्रशंसा और गाली एक समान है। भूधरदास जी दोनों हाथ

जोड़कर विनती करते हैं कि मुझे तो उन्हीं के चरणों में पहुँचने की लालसा है। मैं उस दिन पर बलिहार जाऊँगा जिस दिन मेरा भाग्य उदय होगा और मैं उनका दर्शन प्राप्त करूँगा।

सच्चे गुरु वास्तव में परमात्मा के साकार रूप होते हैं। जैन धर्म में परमात्मा के दो रूप बतलाये गये हैं: एक सकल (शरीर सहित) और दूसरा निष्कल (शरीर रहित)। इन दोनों भेदों को समझाते हुए *णाण-सार (ज्ञान-सार)* में कहा गया है:

द्विविध: तथा परमात्मा सकल: तथा निष्कल: इति ज्ञातव्य:।
सकलो अर्हत्स्वरूप: सिद्ध: पुन: निष्कल: भणित:॥[41]

अर्थ—सकल और निष्कल—इन दो प्रकार के परमात्मा को जानना चाहिए। अर्हत् (अरहंत) रूप में वे सकल (शरीर सहित) या साकार होते हैं और सिद्धरूप में उन्हें निष्कल (शरीररहित) कहा गया है।

इस प्रकार सच्चे गुरु चलते-फिरते सिद्ध भगवान् हैं, अर्थात् वे परमात्मा के साकार (शरीरधारी) रूप हैं। हमें ऐसे गुरु के सामने श्रद्धा-भक्ति के साथ सिर झुकाना चाहिए और उनके उपदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। हुकमचन्द भारिल्ल भी उनके चरणों में शीश झुकाते हुए उनके बताये मार्ग पर चलते रहने की अभिलाषा इन शब्दों में प्रकट करते हैं:

चलते फिरते सिद्धों से गुरु, चरणों में शीश झुकाते हैं।
हम चलें आपके कदमों पर, नित यही भावना भाते हैं॥[42]

गुरु-प्राप्ति का फल

जीव का अज्ञान ही उसके बन्धन का मूल कारण है। गुरु की ही कृपा से जीव अपने जन्म-जन्मान्तर से जकड़े हुए अज्ञान के अन्धकार को समूल नष्ट कर आन्तरिक ज्ञान के प्रकाश को प्रकट करने और अपने दु:खों से सदा के लिए छुटकारा पाकर मोक्ष का अनन्त सुख प्राप्त करने में सफल होता है। गुरु से प्राप्त इस अनुपम लाभ का वर्णन आचार्य पद्मनन्दि इन शब्दों में करते हैं:

यह संसार-वन अज्ञान-अन्धकार से व्याप्त है, दु:ख-रूप व्यालों से—दुष्ट हाथियों अथवा सर्पों से भरा हुआ है—और उसमें ऐसे कुमार्ग हैं जो दुर्गतिरूप गृहों को ले जानेवाले हैं और जिनमें पड़कर सभी प्राणी भूले-भटके घूम रहे हैं—भवन में चक्कर काट रहे हैं। उस वन में निर्मल ज्ञान की प्रभा से देदीप्यमान गुरु-वाक्य रूप-अर्हत्प्रवचनरूप, अथार्त् गुरु-उपदेशरूप,—महान् दीपक जल रहा है। जो सुबुधजन है वह उस ज्ञानदीपक को प्राप्त होकर और उसके सहारे से सन्मार्ग को देखकर सुखपद को—सुख के वास्तविक स्थान (मोक्ष) को—प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।[43]

इसी प्रकार का वर्णन प्रस्तुत करते हुए आचार्य अमितगति भी कहते हैं कि दु:खमय संसार-वन में भटकते रहनेवाले जीव केवल गुरु के बताये मार्ग पर चलकर ही सभी संकटों से बचकर सुरक्षित मोक्षरूपी नगर में पहुँच सकते हैं:

इन दु:खों रूपी हाथियों से भरे हुए व हिंसादि पापों के वृक्षों को रखनेवाले तथा खोटी गतिरूपी भीलों के पल्लियों के (दुष्टवृत्तिवालों के गाँवों के) खोटे मार्ग में नित्य पटकनेवाले संसार वन में सर्व ही प्राणी भटका करते हैं। इस वन के बीच में जो चतुर पुरुष सुगुरु के दिखाए हुए मार्ग में चलना शुरू कर देता है वह परमानन्दमय, उत्कृष्ट व स्थिर एक निर्वाणरूपी नगर में पहुँच जाता है।[44]

असंख्य जन्मों से जीव की आन्तरिक आँख बन्द पड़ी है। इस कारण उसे अपने-आप का ज्ञान नहीं है। वह अपने अन्तर में प्रवेश कर अपने परमात्मरूप का दर्शन करने में असमर्थ है। जब सद्गुरुरूपी नेत्र-वैद्य अपनी युक्ति द्वारा जीव के अज्ञानरूपी पर्दे को हटाते हैं, तब जीव की आन्तरिक आँख खुलती है। तभी वह अपने अन्दर अखण्ड ज्योतिस्वरूप परमात्मा का दर्शन करने और अनन्त सुख को प्राप्त करने में सफल होता है। *अनुभव प्रकाश* में इस तथ्य को इन शब्दों में समझाया गया है:

जैसे किसी का जन्म हुआ और वह जन्म से ही अपनी आँख पर चमड़ी लपेटे हुए संसार में आया। उसकी आँख के भीतर प्रकाश ज्यों का त्यों था, पर बाहरी चमड़ी से ढके रहने के कारण उसे अपना शरीर नहीं सूझता था। जब कोई आँख का वैद्य मिला, तब उसने बताया कि चमड़ी के अन्तर पूरी ज्योतिवाली उसकी आँख है और उस वैद्य ने युक्ति द्वारा लिपटी हुई चमड़ी को दूर कर दिया। तब उस बच्चे को अपना शरीर अपने-आप सूझने लगा और अन्य चीज़ें भी दिखाई देने लगीं। इसी प्रकार अनादि काल से ज्ञान-चक्षु (आन्तरिक आँख) बन्द पड़ी चली आ रही है। इसी कारण अपना आन्तरिक स्वरूप दिखाई नहीं देता। तब सद्गुरुरूपी नेत्र-वैद्य मिले। उन्होंने ज्ञान के आवरण को दूर करने की युक्ति बतायी। उस युक्ति का श्रद्धापूर्वक प्रयोग करने से ज्ञान का आवरण दूर हो गया। तब उस जीव ने स्वयं ही अपने अखण्ड ज्योतिस्वरूप का दर्शन किया और उसे अनन्त सुख की प्राप्ति हुई।[45]*

सद्गुरु की दीक्षा और उपदेश का अमृतमय वचन ही वह अंजन है जिससे जीव की आन्तरिक आँख का पर्दा हटता है, उसके अन्तर में अनन्त ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है और वह परमात्मा के आनन्दमय रस में मग्न होता है। इसे स्पष्ट करते हुए *अनुभव प्रकाश* में कहा गया है:

अज्ञान का आवरण तभी हटता है जब सद्गुरु अपने वचनरूपी अंजन से इस आवरण को दूर करते हैं। तभी आन्तरिक ज्ञान-चक्षु प्रकाशित

---

* जैसे काहू को जन्म भयो, जन्मतैं ही आँखिपरि, चामड़ी कौ लपेटौ चल्यो आयो, मांहि सूं (आभ्यन्तर में) आँखि कौ प्रकाश ज्यौं कौ त्यौं है। बाह्य चर्म आवरण सौं आपकौ शरीर आपकौ न दरसे। जब कोऊ तबीब (नेत्र का वैद्य) मिल्यो, तानैं कही, याकै मांहि प्रकाश ज्योतिरूप आँख सारी है। वानैं जतन करि चर्म को लपेटौ दूरि कियो, तब शरीर आपकौं आप ही देख्यौ, और भी दरसै लाग्यौ। या प्रकारि अनादि ज्ञान दर्शन नैन मुद्रित भये, चले आये, आप स्वरूप न देख्यौ। तब श्री गुरु तबीब (नेत्र वैद्य) मिले, तब ज्ञानावरण दूरि करण को उपाय बतावत ही याकै श्रद्धान करि दूरि ही भयो। तब आपणौ अखण्ड ज्योति:स्वरूप पद आप देख्यो, तब अनन्त सुखी भयो॥ (टिप्पणी 45 का मूल रूप)

होता है तथा लोक और अलोक दिखाई देने लगते हैं। इस ज्ञान की महिमा अपार है। अन्दर के ज्ञानमय मूर्ति का ध्यान कर अनेकों मुनिजन या सन्त-महात्मा पार हो गये। ...उस मूर्ति का स्वरूप ज्ञान का भण्डार है। उस स्वरूप को बार-बार ध्यान करने से अविनाशी रस की प्राप्ति होती है। उस रस का सेवन सन्त-जन करते रहे हैं। तू भी उसका सेवन कर। यह कल्याणमय अनूप ज्योतिस्वरूप पद तेरा अपना ही है। तू परमेश्वर के पद को अपने से दूर मत समझ। अपने को परमेश्वर का ही रूप समझ उसे कुछ याद तो कर। फिर ज्ञान का प्रकाश प्रकट हो जायेगा। मोह का अन्धकार मिट जायेगा और सब कुछ पूरा कर लेने का आनन्दमय भाव चित्त में छा जायेगा। इसलिए परायी (अपने से भिन्न) वस्तुओं का ध्यान और चिन्तन छोड़कर शीघ्र अपनी आत्मा की ओर देख तथा उसके विचार और ध्यान में मग्न रह। तेरे अन्दर ही परमात्मा का आनन्दमय विलास हो रहा है। इससे अधिक भला और क्या है?[46]*

बाहरी आँखों से हम केवल बाहरी संसार के अनित्य और नश्वर पदार्थों को ही देखते हैं जो मोहक और भ्रामक हैं। वे हमारे अन्दर अनेक विकार पैदाकर हमें दु:ख में फँसाये रखते हैं। उस दु:ख से मुक्ति दिलाने के लिए सद्गुरु ही हमारे तीसरे नेत्र को खोलते हैं और हमें सच्चा ज्ञान प्रदान करते हैं। उस नेत्र के खुलने पर साधक त्रिलोचन (तीन नेत्रवाला) बन जाता है और वह तीनों लोकों को देख सकता है। उस नेत्र के खुले बिना न हमारे अज्ञान का

---

* अज्ञान-पटल जब मिटैं, सद्गुरुवचन-अंजनतैं पटल दूरि भये ज्ञान-नयन प्रकाशै, तब लोकालोक दरसै। ऐसा ज्ञान ताकी महिमा अपार, अनेक मुनि पार भये। ज्ञानमय मूरति की सूरति का सेवन करि करि। ...अनन्त सुख निधान स्वरूप भावना के करत ही अविनाशी रस होय, ता रसकौं संत सेय आये। तूँ ताकौं सेय, श्रेयपद रूप अनूप ज्योति:स्वरूप पद अपना ही है। अपनैं परमेश्वर पद का दूरि अवलोकन मति करै। आपही कौं प्रभु थाप्य (मान) जाकौं नेक यादि करि, ज्ञान-ज्योति का उदय होय, मोह-अन्धकार विलय जाय, आनन्द सहित कृतकृत्यता चित्तमैं प्रकटै। ताकौं वेग (शीघ्र) अवलोकि, आन ध्यावन (परका ध्यान एवं चिंतन) निवारि, विचारि कै संभारि, ब्रह्म विलास तेरा तो मैं है। यातैं कहा अधिक? (टिप्पणी 46 का मूलरूप)

अँधेरा दूर होता है, न हमारे दु:खों का अन्त होता है और न हम कभी सुखी ही हो सकते हैं। सद्गुरु द्वारा प्राप्त इस ज्ञान की महिमा बताते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> इस संसाररूपी उग्र मरुस्थल में दु:खरूप अग्नि से संतप्त जीवों को यह सत्यार्थ ज्ञान ही अमृतरूपी जल से तृप्त करने के लिए समर्थ है, अर्थात् संसार के दु:खों को मिटानेवाला सम्यग्ज्ञान ही है।
>
> जब तक ज्ञानरूपी सूर्य का सातिशय (पूर्णता के साथ) उदय नहीं होता है, तभी तक यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित रहता है, किन्तु ज्ञान के प्रकट होते ही अज्ञान का विनाश हो जाता है।
>
> ज्ञान ही तो संसाररूपी शत्रु के नष्ट करने के लिए तीक्ष्ण खड्ग (तलवार) है और ज्ञान ही समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए तीसरा नेत्र है।
>
> जिसकी निर्दोष चेष्टा में तीसरे ज्ञान-नेत्र के द्वारा सारा त्रैलोक्य दर्पण के समान प्रतिबिम्बित होता है, उसे 'त्रिलोचन' कहते हैं।[47]

सतगुरु द्वारा जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह हमारे अन्दर ही है, सतगुरु कहीं बाहर से कुछ घोलकर हमें नहीं पिलाते। वे तो केवल आन्तरिक आँख खोलने की युक्ति सिखाते हैं। उस युक्ति के जाने बिना हम दु:खी बनकर दर-दर ठोकरें खाते फिरते हैं। हमारी अपनी ही गठरी में ज्ञान का अनमोल रत्न, मणि या लाल रखा हुआ है। पर हम उस गठरी को खोलने की युक्ति नहीं जानते। इसीलिए हम संसार में कंगाल की तरह कौड़ी-कौड़ी के मुहताज बने फिरते हैं और अनगिनत जन्मों तक कष्ट भोगते रहते हैं। अपने अन्दर अनन्त ज्ञान का भण्डार होते हुए भी हम संसार के अन्धकूप में पड़े रहते हैं। सतगुरु उस गठरी को खोलने की युक्ति सिखलाकर ज्ञानरूपी लाल की प्राप्ति करा देते हैं। तब हमें अपने-आप अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, हमारे सभी दु:ख मिट जाते हैं और हम अनन्त आनन्द की प्राप्ति कर लेते हैं। इन बातों को समझाते हुए *अनुभव प्रकाश* में कहा गया है:

जैसे सबकी गठरी में लाल या मणि है, फिर भी सभी भ्रम में भूले हुए दुःख से परेशान हो रहे हैं। यदि गठरी खोलकर देख लें, तो सुखी हो जायेंगे। यदि अन्धा कुएँ में गिर पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। पर यदि आँखवाला कुएँ में गिरे तो आश्चर्य है। उसी प्रकार यह जानने और देखनेवाली आत्मा संसाररूपी कुएँ में गिर पड़ी है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। मोहरूपी ठग ने आत्मा के सिर पर अपनी ठगोरी (छलावा या भ्रान्ति) डाल रखी है जिससे संसाररूपी घर को ही अपना घर मानकर वह निज-घर को भूली हुई है। गुरु के ज्ञानमन्त्र द्वारा जब ठगोरी उतारी जाती है तभी वह निजघर को प्राप्त करती है। श्री गुरु उसे बार-बार निजघर को पाने का उपाय बताते हैं और उसे अपने अखण्ड सुख-भरे धाम को प्राप्त कर अविनाशी राज्य करने को कहते हैं। वे समझाते हैं कि अपने पापकर्म के कारण ही तू ने अपना राजपद खो दिया और अब कंगाल बनी कौड़ी-कौड़ी माँगती फिरती है। तेरा खज़ाना तेरे पास ही था, तू ने उसकी सँभाल न की। इसीलिए दुःखी बनी।[48]*

सद्गुरु (सन्त महात्मा), परमात्मस्वरूप का निजी अनुभव प्राप्त कर परमात्मरूप हो गये होते हैं। इसलिए उनसे प्राप्त दीक्षा और उपदेश का मोक्षार्थी के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वे ही शास्त्र का यथार्थ मर्म समझा सकते हैं। पर यदि कोई शास्त्रों को स्वयं पढ़कर परमार्थ के मर्म को ग्रहण करने की चेष्टा करता है तो उसे विफलता ही हाथ लगती है। इसके विपरीत, जो सद्गुरु से सुनकर और समझकर परमार्थ की साधना में लगता है, वह अपने प्रयोजन

---

* जैसैं सब जन की गांठड़ी मैं लाल (मणि) हैं, वै सब भ्रम से भूलकर मसकती होय रहे हैं। जो गठड़ी खोलि देखैं, तौ सुखी होंय। अन्धले तौ कूप मैं परै तौ अचिरज नहीं। देखता परै तो अचिरज। तैसैं आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है, अरु संसार कूप मैं परै है,यह बड़ा अचिरज है। मोह ठग नैं ठगोरी इसके सिर डारी, तिस तैं पर घर ही कौं आपा मानि निजघर भूल्या है, ज्ञानमन्त्र तैं मोह ठगोरी नैं उतारै, तब निज घर कौं पावै। बार-बार श्रीगुरु निज घर पायवे को उपाय दिखावैं हैं। अपने अखंडित उपयोग निधान कौं ले अविनाशी राज्य करि। तेरी हरामजादगी तैं अपना राजपद भूलि कौड़ी कौड़ी कौं जाच (मांग) कंगाल भया है। तेरा निधान ढिग ही था, तैं न संभाल्या। तातैं दुःखी भया। (टिप्पणी 48 का मूलरूप)

को सिद्ध कर लेता है। इसलिए परमार्थ के खोजी को चाहिए कि सद्गुरु के पास जाकर उनके उपदेश का लाभ उठावे और अपने प्रयोजन को सिद्ध करे। केवल शास्त्रों को पढ़ने से अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं :

> सर्व शास्त्रों का प्रयोजन यही है कि चैतन्यस्वरूप आनंदमय आत्मा को पहिचानकर उसमें लीन हो। शास्त्र का एक ही वाक्य सत्पुरुषों के पास से सुनकर यदि इतना समझ ले तभी उसका प्रयोजन सिद्ध है; और लाखों-करोड़ों शास्त्र सुनकर भी यही समझना है। यदि यह न समझे तो उस जीव ने शास्त्रों के एक शब्द को भी यथार्थ रूप से नहीं जाना है। और जिस जीव को शास्त्र पढ़ना भी न आता हो, नव तत्त्वों के नाम नहीं जानता हो, तथापि यदि सत्पुरुष के निकट से श्रवण करके चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुभव कर लिया है तो उसके सर्व प्रयोजन की सिद्धि है।[49]

गुरु का दिया हुआ उपदेश अत्यन्त प्रभावकारी होता है। जब साधक उस उपदेश के अनुसार अभ्यास करता है तो उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। अपने आनन्दमय स्वरूप का अनुभव होने पर वह अपने को संसार के अन्य सभी पदार्थों से भिन्न समझने लगता है और सांसारिक विषय-सुख से उदासीन हो मोक्ष-सुख में लीन हो जाता है। यह अनुपम सुख तपस्या आदि के रूखे साधनों से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। *जैनधर्मामृत* में स्पष्ट कहा गया है:

> जो पुरुष गुरु के उपदेश से, अभ्यास से और संवित्ति अर्थात् स्वानुभव से (आत्मानुभव से) स्व और पर के अन्तर (भेद) को जानता है वही पुरुष निरन्तर मोक्षसुख का अनुभव करता है।
>
> उक्त प्रकार से जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता है वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता।[50]

संसार में अनासक्त रहनेवाले वीतरागी गुरु सभी सद्गुणों से परिपूर्ण होते हैं। वास्तव में वे चलते-फिरते परमात्मा ही होते हैं। वे सर्वसमर्थ और

परम उदार दाता होते हैं। उनकी भक्ति द्वारा सब कुछ पाया जा सकता है। इसीलिए जैन धर्म में परमात्मारूप गुरु की भक्ति की अपार महिमा बतायी गयी है और उनका गुण-गान किया गया है। गुरुरूपी परमात्मा की भक्ति का उपदेश देते हुए *रत्नाकर शतक* में कहा गया है :

> वीतरागी प्रभु (रागरहित गुरुदेव) के गुणों के चिन्तन से जब अनादि कालीन कर्मबद्ध आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है तो फिर कौन सा लौकिक कार्य असाध्य रह जायेगा? प्रभु-भक्ति से बड़े से बड़ा कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। अतः प्रत्येक समय चलते, फिरते, उठते-बैठते भगवान् की भक्ति करनी चाहिए।[51]

गुरु-भक्ति की महिमा और उससे प्राप्त होनेवाले लाभों का उल्लेख करते हुए *रत्नाकर शतक* में फिर कहा गया है :

> जो व्यक्ति मन लगाकर प्रभु के चरणों की भक्ति करता है, उसे तीनों लोक की सभी सुख-सामग्रियाँ मिल जाती हैं, उसका यश समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है तथा सभी लोग उससे स्नेह और उसका आदर करने लगते हैं। मोक्षलक्ष्मी (मोक्षरूपी लक्ष्मी) उसकी ओर प्रति क्षण देखती रहती है, स्वर्ग की सम्पत्तियाँ उसे अपने-आप मिल जाती हैं तथा समस्त गुण उसे प्राप्त हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान् की भक्ति में अपूर्व गुण वर्तमान हैं, जिससे उनकी भक्ति करने से सभी सुख-सामग्रियाँ अपने-आप प्राप्त हो जाती हैं। ...प्रभु-भक्ति का आधार लेकर बिना तपश्चरण आदि के भी व्यक्ति अपना उद्धार कर सकता है।[52]

सद्गुरु ही कृपा कर जीव को सत्संग में लाते, ज्ञान का उपदेश देते, अपने प्रति प्रेम बढ़ाते, अपना ध्यान कराते, अलख को लखाते, अन्तर में आनन्द-रस चखाते और अन्त में संसार से मुक्त करते हैं। *अनुभव प्रकाश* में उनकी महिमा और उनके उपकार का संकेत इन शब्दों में किया गया है :

श्रीगुरु के ही प्रताप से सन्तों का संग (सत्संग) मिलता है जिससे संसार का ताप (दु:ख) मिट जाता है, अपने अन्दर ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है और ज्ञान की प्रत्यक्ष पहचान हो जाती है। श्री गुरु अपना ध्यान कराते हैं, अपने प्रति प्रेम बढ़ाते हैं और जीव को अन्तर्मुखी ध्यान में लीन कराते हैं। तब जीव सहज ही आत्मरस की प्राप्ति करता है, कर्म-बन्धन को नष्ट करता है, अपने को अपने स्वरूप में लगाता है और अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ध्यान करता है। तब आनन्द उत्पन होता है जिसका रसास्वादन कर मन शान्त हो जाता है। इसे 'निज अनुभव' कहा जाता है। इस अनुभव को अपने से दूर कौन कह सकता है? यह (निज अनुभव) आवागमन के चक्र को मिटाता है, अलख को लखाता है, आत्मा के चैतन्य और आनन्दस्वरूप को प्रकट करता है और अविनाशी रस प्राप्त कराता है, जिसका मोक्षार्थी गुण-गान करते हैं, जिसकी अपार महिमा है और जिसे जान लेने पर संसार का भार दूर हो जाता है। श्रीगुरु की कृपा से आत्मा के इस विकाररहित अत्यन्त शुद्ध स्वरूप को जान लेना चाहिए।[53]*

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी सन्त सद्गुरु की संगति मिलने पर ही जीव अपने स्वरूप की पहचान प्राप्त कर पाता है और संसार के दु:खों से छुटकारा पाकर मोक्ष-सुख को प्राप्त करने में सफल होता है।

---

* अब श्रीगुरु प्रताप तैं संत संग मिलाय,
जातैं मिटै भवताप, आप आपही मैं पावै, ज्ञान लक्षण लखावै,
आप चिंतन धरावै, निज परिणति बढ़ावै, निजमांहि लव लावै,
सहज स्व-रस कौं पावै, कर्म बन्धन मिटावै, निज परिणति भाव
आपमैं लगावै,वर चिद् गुण पर्यायकौं ध्यावै, तब हर्ष उपावै, मन
विश्राम आवै, रसास्वादकौं जु पावै, निज अनुभव कहावै, ताकौं
दूरि कौ (कौन) बतावै? भव-भांवरी घटावै, आप अलख लखावै,
चिदानन्द दरसावै, अविनाशी रस पावै, जाको जस भव्य गावै,
जाकी महिमा अपार, जानैं मिटै भव भार, महा ऐसौ समयसार
अविकार जानि लीजिये। (टिप्पणी 53 का मूल रूप)

सन्तों ने मोक्ष-मार्ग को सरल बना दिया है। बिना कोई शारीरिक योग-मुद्रा साधे या कष्ट उठाये आत्मलीनता प्राप्त कर जीव मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसे स्पष्ट करते हुए *अनुभव प्रकाश* में कहा गया है :

> इस प्रकार सत्संग या सन्तों की संगति के फलस्वरूप जीव अपने अन्तर में ध्यान लगाकर अपने आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त करता है जिससे उसका अत्यन्त कठिन मोह दूर होता है और वह परमानन्द की प्राप्ति करता है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के मार्ग को सन्तों ने सरल कर दिया है।
>
> चौरासी लाख योनियों में भटकते रहनेवाले जीव ने कभी भी कहीं स्थिरता के साथ निवास नहीं किया है। जबतक यह अपने परम ज्योतिर्मयस्वरूप को पहचानकर अपने कल्याणमय मोक्षधाम को प्राप्त नहीं कर लेता तबतक यह कार्य पूरा हो भी नहीं सकता। जपी, तपी, ब्रह्मचारी, यती (संन्यासी) आदि बनकर अनेकों प्रकार का वेश धारण करने से भी भला क्या हो सकता है? अनादि भ्रम और दुःख तो आत्मरसरूपी अमृत के पीने पर ही मिटता है।[54]*

अपने अनन्त दुःख को मिटाने और परमपद को प्राप्त करने के लिए अपने में बाहर से किसी नये गुण को लाने की आवश्कता नहीं होती। आत्मा स्वयं ही सर्वगुण-सम्पन्न है। बस केवल किसी सन्त सद्गुरु की सहायता से इसके प्रकाश को ढकनेवाले बाहरी आवरण को हटा देने की आवश्कता होती है। इसे हटाने का उपाय भी सन्तों ने सुगम कर दिया है। इस सम्बन्ध में दीपचंदजी शाह काशलीवाल कहते हैं :

---

* सो यह सत्संगतैं अनुभवी जीवनि के निमित्ततैं निजपरिणति स्वरूप की होय, विषय मोह मिटै परमानन्द भेंटै। स्वरूप पायवे का राह संतों नैं सोहिला (सरल) किया है।

चौरासी लाख योनि सराय का सदा फिरन हारा कबहूं कहूं थिर रूप निवास न किया। जब तक परम ज्योति अपनें शिवघर कौं न पहुंचे तब तक एक कार्य भी न सरै। कहा भयो जो जपी तपी ब्रह्मचारी यति आदि बहुत भेष धरै, तौ तातैं निज अमृत के पीवने तैं अनादि भ्रम खेद मिटै। (टिप्पणी 54 का मूल रूप)

ज्ञान और दर्शन (विश्वास) को धारण करनेवाली मेरी आत्मा चैतन्य और आनन्दरूप है। मेरा यह स्वरूप अनन्त चैतन्यशक्ति से सुशोभित और अनन्त गुणों से परिपूर्ण है। यह मेरे ही उपयोग के लिए है। मैं अपना ध्यान अपने इस स्वरूप में लगाऊँगा। इस प्रकार अनादि दुःख को मिटाऊँगा और परमपद को प्राप्त करूँगा। अपने स्वरूप-प्राप्ति की यह सुगम राह है। आत्मा को अपने अनुभव में लाना ही कठिन है। इसे भी सन्तों ने सुगम कर दिया है। मैंने भी इसे उन्हीं के प्रसादरूप में पाया है।

इस प्रकार आत्मा के अनुभव का प्रकाश प्राप्त करना ही आनन्द धाम में अखण्ड सुख भोगना है। इसे केवल अनुभव द्वारा ही जाना जाता है, वचन द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।[55]*

किसी सन्त सद्गुरु की संगति में आने पर जीव की विचारधारा कैसे बदलती है और वह किस प्रकार संसार में अनासक्त भाव से रहते हुए अन्त में मोक्षपद को प्राप्त करने में सफल होता है, इसे चम्पक सागरजी महाराज ने बड़े ही स्पष्ट और सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं:

यदि कभी आत्मा को सौभाग्य से किसी सद्गुरु का समागम हो जाता है, तो वे दयालु होकर इस मोही संसारी जीव को अपने परमहित उपदेश से सावधान करते हैं कि 'जिस सुख शान्ति के लिए तू बाहर भटक रहा है उस सुख शान्ति का अथाह सागर तो तेरे भीतर (शरीर में नहीं आत्मा में) हिलोरें ले रहा है। कस्तूरा हिरण की नाभि में कस्तूरी होती है उसकी मोहक सुगंधि में वह हिरण मस्त हो जाता है

---

* मेरा आत्मा ज्ञान दर्शन का धारी चिदानन्द है। मेरा स्वरूप अनन्त चैतन्यशक्ति करि मण्डित अनन्त गुणमय है। मेरे उपयोग के आधीन बण्या है। मैं मेरे परिणाम उपयोग मेरे स्वरूपमैं धरूँगा। अनादि दुःख मेटूंगा। परमपद भेटूंगा। यह सुगम राह स्वरूप पावने का है। दृष्टि के गोचर करना ही दुर्लभ है। सो सन्तों ने सुगम कर दिया है। उनके प्रसाद तैं हमों ने पाया है। सो हमारा अखण्ड विलास सुख निवास इस अनुभव प्रकाश मैं है। वचनगोचर नाहीं, भावनागम्य है। (टिप्पणी 55 का मूल रूप)

किन्तु भ्रम से वह उस सुगन्धि को अपने भीतर की न समझकर बाहर की अन्य वस्तुओं की समझता है, अतः इधर-उधर दौड़ता फिरता दूसरी-दूसरी चीज़ों को सूँघता-सूँघता थक जाता है किन्तु उसकी इच्छा की तृप्ति नहीं हो पाती। वैसे ही दशा तेरी है। अतः बाहर की ओर से अपनी विचारधारा हटाकर अपने अंतरंग की ओर सन्मुख हो, अन्तर्मुख होने पर ही तुझे शान्ति प्राप्त होगी, तेरी आकुलता दूर होगी और तेरी परतन्त्रता के बंधन ढीले होंगे। तेरे भीतर अपार अक्षय निधि भरी हुई है, तू अपने-आपको दीन-हीन क्यों समझ रहा है, एक बार अपनी ओर देख तो सही।'

दीनबन्धु पतितपावन एवं तरनतारन अपने सद्गुरु की हितवाणी को सुनकर जब इस जीव की मिथ्या श्रद्धा में परिवर्तन आता है, जब इसके हृदय में आत्म-श्रद्धा जागृत होती है, तब मिथ्या श्रद्धा का जनक (उत्पादक) मोहनीय कर्म स्वयं इस प्रकार दूर हो जाता है जिस तरह विस्तृत खुले मैदान में सूर्य उदय होने पर रात का अन्धेरा लापता हो जाता है, ढूँढ़ने पर भी वहाँ कहीं नहीं दीख पाता। मिथ्या श्रद्धा का गहन अन्धकार हटते ही इस जीव के भीतर आत्म-ज्योति जगमगा जाती है, जिससे आत्मा को अपनी अनुभूति (अनुभव) होने लगती है। उस स्व-आत्म अनुभूति से जीव को महान् अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, वह संसार के किसी भी इष्ट भोग उपभोग पदार्थ के अनुभव से नहीं मिलता, वह निज-आत्मा का आनन्द न तो कहा जा सकता है, न किसी उदाहरण से प्रकट किया जा सकता है। जैसे गूँगा मनुष्य किसी विषय के सुख को स्वयं अनुभव तो करता है परन्तु किसी अन्य व्यक्ति को बतला नहीं सकता, ठीक ऐसी ही बात आत्म अनुभव की हो जाती है। उस आत्म-अनुभव को जैन दर्शन में 'सम्यग्दर्शन' कहा है।

सम्यग्दर्शन होते ही जीव की विचारधारा तथा कार्य प्रणाली में महान् परिवर्तन आ जाता है। उसे फिर अपने आत्मा के सिवाय अन्य किसी पदार्थ में रुचि नहीं रहती। वह बाहरी पदार्थों को छूता हुआ भी उनमें रत (लीन) नहीं होता, अछूता सा रहता है।

अत: वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी, गृहस्थाश्रम के सब कार्य करता हुआ भी, उनसे अलिप्त अछूता रहता है। अत: पापपङ्क से मलिन नहीं होता, जिस तरह कीचड़ में भी पड़ा हुआ सोना मैला नहीं होने पाता या जल में रहता हुआ कमल जल से अछूता रहता है। सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान और आचरण ठीक धारा में बह उठते हैं। तब उनका नाम सम्यग्ज्ञान सच्चारित्र (स्वरूपाचरणादि) हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अवश्य स्वल्पकाल में संसार से मुक्त हो जाता है।[56]

यदि जीव सर्वज्ञ सद्गुरु के उपदेश के अनुसार अन्तर्मुखी अभ्यास द्वारा एक बार भी आत्मरस को चख ले तो उसे ऐसा आनन्द आयेगा कि वह फिर कभी मुड़कर भी सांसारिक विषयों की ओर नहीं देखेगा। जैसा कि *अनुभव प्रकाश* में कहा गया है:

सर्वज्ञ देव ने सारे उपदेश का मूल तत्त्व यह बताया है कि जीव आत्मस्वरूप के अनुभव के रस का यदि एक बार स्वाद ले ले, तो वह ऐसे आनन्द में मग्न हो जायेगा कि अन्य वस्तुओं की ओर फिर कभी देखेगा भी नहीं। अपने स्वरूप में समाधि लगाकर अपने से एकाकार हो जाना सन्तों का चिह्न है। ऐसी अवस्था में रागादि विकार नहीं पाये जा सकते, जैसे आकाश में फूल नहीं पाये जाते। शरीर को आत्मा समझने के अभ्यास के नाश होने और चैतन्य और आनन्दरूप आत्मा के प्रकाश के अनुभव होने की अवस्था के लक्षण या उसकी विशेषता को लिखकर बताया नहीं जा सकता। इसे देखने, अर्थात् अनुभव करने से आनन्द मिलता है। इसका स्वाद लिखने में नहीं आ सकता।[57*]

ऐसा उपदेश सन्तों की संगति या सत्संग में ही प्राप्त होता है। केवल सन्त-महात्मा की संगति ही सन्त-महात्मा बना सकती है।

---

* सर्वज्ञ देवनैं सब उपदेश का मूल यह बताया है, एक बेर स्वसंवेदरस का स्वादी होय तौ ऐसा आनन्दमैं मग्न होय, परकी ओर फिरि कबहूं दृष्टि न दे। स्वरूप समाधि संतन का चिह्न है। तिसके भये रागदि विकार न पाईये, जैसैं आकाशमैं फूल न पाईये। देह अभ्यास का नाश अनुभव प्रकाश चैतन्य विलास भावका लखाव लखि लक्ष्य लक्षण लिखनेमैं न आवै। लखैं सुख होय। स्वाद रूप लिखै न होय। (टिप्पणी 57 का मूल रूप)

इसलिए आत्म-कल्याण के इच्छुक जीवों को परम दुर्लभ सत्संग का लाभ अवश्य उठाना चाहिए। इसे समझाते हुए गणेशप्रसाद जी वर्णी कहते हैं:

> वर्तमान में निष्कपट समागम का मिलना परम दुर्लभ है, जिस तरह दीपक से दीपक जलाया जाता है उसी तरह महात्माओं से महात्मा बनते हैं, अतः महात्माओं के सम्पर्क (साधु समागम) से एक दिन स्वयं महात्मा हो जाओगे।[58]

सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान् और परम दयालु सद्गुरु से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं होती। वे अपने सहज स्वभाव से ही जीवों पर दया करते हैं। इसलिए जीवों का कल्याण अपने-आप हो जाता है। वर्णी जी ने इसे एक सुन्दर उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है:

> जो छाया में वृक्ष के नीचे बैठ जाता है उसको इसकी आवश्कता नहीं कि वृक्ष से छाया की याचना करे। वृक्ष के नीचे बैठने से छाया का लाभ अपने-आप हो जाता है। इसी प्रकार जो रुचिपूर्वक श्री अरहन्तदेव के गुणों का स्मरण करता है उसके मन्द कषाय होने से शुभोपयोग (आत्मा का रागादि से रहित निश्चल दशा ग्रहण करना) स्वयमेव (अपने-आप ही) हो जाता है और उसके प्रभाव से शान्ति का लाभ भी स्वयं हो जाता है।[59]

इस प्रकार सद्गुरु की कृपा से जीव को अपने आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाता है। वह तीनों लोकों के स्वामी का पद प्राप्त कर उस सहज सुखधाम का निवासी बन जाता है जो परम ज्योतिर्मय, निर्मल और निराला है तथा उसके हृदय में निरंजन देव (निर्विकार परमात्मा) प्रकट हो जाते हैं। इसे बताते हुए *अनुभव प्रकाश* में कहा गया है:

> श्री गुरु ने आत्मा का बोध कराया है। उसे पाकर ही जीव सुखी होता है। इसके विषय में कहाँ तक कहा जाय? यह आप ही निर्मल और अनुपम पद है जिसकी महिमा अपार है। यह अलख, अखण्ड, परमज्योतिर्मय और सहज सुख का भण्डार है। पर यह आत्मा अनादि काल से संसार के दुःख-द्वन्द्व में ही आपाभाव मान कर उसीमें आनन्द

मान रही थी। यही भूल उसके दुःख का मूल है। सद्गुरु के वचनरूपी अमृत के पीने पर ही यह भूल मिटती है। जब आत्मचेतना जागृत होती है, तब अन्य पदार्थों की ओर देखना दूर हो जाता है। अपने स्वरूप और अपने पद को देखते ही आत्मा को यह अनुभव हो जाता है कि उसका पद तो तीनों लोकों के स्वामी का है।[60]*

इसी अवर्णनीय अनुभव का संकेत देते हुए *ज्ञानदर्पण* में कहा गया है:

मेरो सरूप अनूप विराजत मोहि में और न भासत आना।
ज्ञान कला निधि चेतन मूरति एक अखण्ड महा सुख थाना॥
पूरन आप प्रताप लिएं जहाँ योग नहीं परके सब नाना।
आप लखैं अनुभाव भयौ अति देव निरंजन को उर आना॥[61]

अर्थ—मेरा अनुपम स्वरूप सुशोभित हो रहा है। मुझमें कोई और दूसरा नहीं दिखाई देता। यह ज्ञान की परिपूर्ण कलारूप एक अखण्ड चैतन्य मूर्ति है जो परमसुख का धाम है। यह अपने पूर्ण प्रताप के साथ प्रकाशित है। जिसमें अन्य सभी नाना प्रकार की वस्तुओं में से किसी का भी मिश्रण (मिलावट) नहीं है। अपने-आपके दर्शन से एक निराला अनुभव हुआ है और निरंजन देव (निर्विकार परमात्मा) हृदय में विराजने लगे हैं।

यही है गुरु-कृपा का अद्भुत फल।

शिष्य का कर्तव्य

परम दयालु गुरु सहज भाव से जीवों पर दयाकर उन्हें उपदेश देते हैं, उन्हें मोक्ष का मार्ग दिखलाते हैं तथा उन्हें इस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा,

---

* श्रीगुरू आपा बताया है। पावै ते सुखी होय। कहाँ लौ कहिये? यह महिमा निधान अमलान अनूप पद आप बण्या है, सहज सुख कन्द है, अलख अखंडित है, अमिततेजधारी है। दुःख-द्वन्द्व मैं आपा मानि अति आनन्द मानि रह्या है अनादि ही का, सो यह दुःख की मूल भूलि जब ही मिटै, जब श्रीगुरु बचन सुधारस पीवै। चेत होय परकी ओर अवलोकन मिटै। स्वरूप स्वपद देखत ही तिहूँलोक नाथ अपना पद जानै। (टिप्पणी 60 का मूल रूप)

उत्साह और सहायता प्रदान करते हैं। पर शिष्य यदि गुरु की बात ही न सुने, उनसे विमुख रहे और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का शिकार होकर कुमार्ग पर चले, तो उसका निस्तार भला कैसे हो सकता है? यदि हितोपदेशी गुरु जीव-कल्याण के लिए उपदेश देते हैं तो अपना कल्याण चाहनेवाले जीव को भी उस उपदेश का लाभ उठाने के लिए अपने आवश्यक कर्तव्य को निभाना अत्यन्त आवश्यक है। यदि कोई पात्र औंधा हुआ (उलटा मुँह) पड़ा हो या गन्दगी अर्थात् विकारों से भरा हो तो वह भला गुरु का पवित्र अमृतमय उपदेश कैसे ग्रहण कर सकता है? इसलिए यह आवश्यक है कि जीव अपने जीवन की शुद्धता पर ध्यान दे, सदाचार के आवश्यक नियमों का पालन करे, श्रद्धाभाव से गुरु के पास जाये, गुरु के उपदेशों को सुने, उनसे दीक्षा ले और फिर दृढ़ता के साथ गुरु के बताये मार्ग पर चले। शिष्य के लिए विनम्रभाव से गुरु की आज्ञा में रहना तथा उनकी सेवा और भक्ति करना आवश्यक है। फिर संयमपूर्वक आत्म-साधना में लगकर आत्म-शुद्धि करना और आत्मज्ञान की प्राप्ति करना सहज हो जाता है। इन आवश्यक कर्तव्यों का दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाला शिष्य ही गुरु-कृपा का पूरा लाभ उठाकर अपने जीवन को सफल बना सकता है। शिष्य के कर्तव्य-सम्बन्धी ऐसी ही कुछ बातों पर यहाँ जैनाचार्यों के विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

जो भाग्यशाली जीव हैं वे ही अपने स्वरूप को समझने और अपने दुःखों को दूर करने के सम्बन्ध में गहराई से सोचते हैं। वे किसी सच्चे गुरु की खोज करते हैं, उनके पास जाकर उनसे उपदेश ग्रहण करते हैं और उनके उपदेशानुसार आध्यात्मिक अभ्यास में लगकर अपने जीवन को सँवारने का प्रयत्न करते हैं। इस सम्बन्ध में पंडित टोडरमल जी कहते हैं:

> भला होनहार है इसलिए जिस जीव को ऐसा विचार आता है कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? जीव दुःखी हो रहा है सो दुःख दूर होने का क्या उपाय है?—मुझको इतनी बातों का निर्णय करके जो कुछ मेरा हित हो सो करना चाहिए—ऐसे विचार से उद्यमवन्त (प्रयत्नशील) होता है। पुनश्च, इस कार्य की सिद्धि शास्त्र सुनने से होती है ऐसा

जानकर अति प्रीतिपूर्वक शास्त्र सुनता है; कुछ पूछना हो सो पूछता है; तथा गुरुओं के कहे अर्थ को अपने अन्तरङ्ग में बारम्बार विचारता है और अपने विचार से सत्य अर्थों का निश्चय करके जो कर्त्तव्य हो उसका उद्यमी होता है।[62]

पारमार्थिक मार्ग पर चलनेवाले साधक को अपने आहार, व्यवहार, आचार और विचार को शुद्ध रखना और गुरु के बताये सदाचार के नियमों का दृढ़ता से पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसे समझाते हुए आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज कहते हैं :

आत्मा को शुद्ध करने वाले आत्मा के शुद्ध भाव हैं। जिस आत्मा का शरीर शुद्ध होता है उसके भाव भी शुद्ध होते हैं। जिसका शरीर अशुद्ध होता है उसके भाव भी अशुद्ध होते हैं। इस शरीर के बनने और बढ़ने में यदि कारण सामग्री अशुद्ध होती है तो यह शरीर भी अशुद्ध होता है तथा शरीर के बनने वा बढ़ने के साधन यदि शुद्ध होते हैं तो शरीर भी शुद्ध ही होता है। मनुष्य जो भोजन करता है वह भी शरीर के बढ़ने का कारण है। शुद्ध शरीर भी उन मद्य मांसादिक अशुद्ध पदार्थों के सेवन करने से अवश्य ही अशुद्ध हो जाता है। जहाँ शरीर की अशुद्धता होती है वहाँ पर परिणामों (आन्तरिक भावों) में अशुद्धता होना स्वाभाविक है। इसीलिए इन मद्य मांसादिक के सेवन को धर्म का नाश करनेवाला बतलाया है।

इसके सिवाय ये पदार्थ अत्यन्त घृणित हैं, देखने योग्य भी नहीं हैं। अनेक जीवों का घात करने से उत्पन्न होते हैं। इनके सेवन करने से क्षण भर के लिए जिह्वा का स्वाद भले ही मिल जाय, परन्तु वह क्षण भर का स्वाद अनन्त दुःखों को देनेवाला होता है। इसलिए हे आत्मन्! तू इनके सेवन करने का सर्वथा त्याग कर। इनका त्याग करने से शरीर पवित्र होता है वा उससे आत्मा वा उसका भाव पवित्र होता है।

प्रथम तो श्रेष्ठ गुरुओं का समागम मिलना ही अति कठिन है। किसी विशेष शुभ कर्म के उदय से ही गुरुओं का समागम मिलता है।

> ऐसे गुरुओं का समागम मिलने पर तथा उनसे निर्मल व्रतों को ग्रहण कर लेने पर फिर उन व्रतों को बड़े प्रयत्न से पालन करना चाहिए। उनमें न तो दोष लगाना चाहिए और न उनको भंग करना चाहिए। इस प्रकार निर्दोष व्रत के पालन करने से ही श्रावक-जन्म (साधक का जन्म) कृतार्थ गिना जाता है। इस प्रकार व्रत (सदाचार) पालन से मन भी उन व्रतों में तथा धर्म वा शील पालन में अत्यन्त दृढ़ हो जाता है।[63]

शिष्य अधूरे ज्ञान के आधार पर अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता होती है। पूर्ण ज्ञान केवल परमात्मरूप पूर्ण ज्ञानी गुरु द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। पर ऐसे पूर्ण ज्ञानी गुरु का पूर्ण लाभ उठाने के लिए शिष्य को भी पूरी शुद्धता और दृढ़ता के साथ उनके बताये उपदेशों का पालन करना आवश्यक है। इस बात की ओर संकेत करते हुए हुकमचन्द भारिल्ल कहते हैं:

> परमात्मा वीतरागी और पूर्णज्ञानी होते हैं, अतः उनका उपासक भी वीतरागता और पूर्णज्ञान का उपासक होना चाहिए। विषय-कषाय (विषय-विकारों) का अभिलाषी वीतराग का उपासक हो ही नहीं सकता।[64]

गुरु सर्वज्ञाता ही नहीं, सर्वदाता अर्थात् सब कुछ देनेवाले भी होते हैं। शिष्य के पास उनको देने के लिए भला है ही क्या? फिर भी शिष्य को श्रद्धाभाव से अपने तन-मन-धन द्वारा उनकी सेवा और भक्ति करनी चाहिए और अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित करने को तैयार रहना चाहिए। यदि सच्चे गुरु न मिल पाये हों, तो उनसे मिलने की तीव्र चाह या लालसा अपने हृदय में सँजोये रखनी चाहिए। सच्ची चाह रखनेवाले को सच्ची राह दिखानेवाले कभी न कभी मिल ही जाते हैं। सच्चे गुरु की तन, मन, धन से भक्ति करने का उपदेश देते हुए मूलशंकर देशाई कहते हैं :

> गुरु ऐसे ही (निस्पृह या लोभरहित) होते हैं ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए और ऐसे गुरु मिलने से उनकी तन मन धन से भक्ति करनी चाहिए। ऐसे गुरु न मिलें तो वेषधारी की भक्ति करना यह तो मात्र ज़हर खाकर

जीने बराबर है। वर्तमान में हंस देखने में नहीं आते हैं तो कौआ को तो हंस नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार यथार्थ गुरु न मिलें तो भावना यह रखनी चाहिए कि ऐसे निस्पृही गुरु कब मिलें; वह भावना भी सातिशय पुण्य बन्ध की जननी (अत्यधिक पुण्य कर्म उत्पन्न करनेवाली) है।[65]

यह बताते हुए कि सन्त सद्गुरु की सेवा द्वारा ही परम आनन्दमय धाम की प्राप्ति होती है, चम्पक सागर जी महाराज कहते हैं :

तन मनकी पीड़ा टले, भवका होवे ज्ञान।
संत चरणको सेवते, पावे सुख निधान॥[66]

आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जो गुरु धारण नहीं करते और उनकी सेवा से दूर रहते हैं उनकी न लोक में शोभा होती है और न परलोक में ही। वे निगुरा या गुरुमार कहे जाते हैं और तिरस्कार (अपमान या अनादर) के पात्र माने जाते हैं। आचार्य जी कहते हैं :

जो लोग गुरुओं की सेवा नहीं करते अथवा अपने गुरुओं को नहीं मानते वे गुरुमार कहलाते हैं और इसीलिए न तो वे संसार में शोभा पाते हैं और न उनकी विद्या पूर्णरूप से विकसित होती है। विकसित न होने से वह विद्या पूर्णरूप से अपने कार्य को भी नहीं कर सकती। इसलिए गुरुओं की सेवा करना गुरुओं को मानना, उनका समागम करना आदि कार्य प्रत्येक जीवको आत्मकल्याण करने के लिए परमावश्यक हैं।[67]

आज्ञाकारिता, विनम्रता और सहनशीलता शिष्य के विशेष शृंगार हैं, अर्थात् इनसे शिष्य की विशेष रूप से शोभा होती है। शिष्य के लिए ये अत्यधिक लाभकारी भी हैं। इन गुणों को धारण करनेवाला शिष्य शीघ्र ही गुरु की प्रसन्नता प्राप्त कर अपना कल्याण कर लेता है। शिष्य के इन गुणों पर प्रकाश डालते हुए *जिन-वाणी* में कहा गया है:

जो गुरु की आज्ञा का पालन करनेवाला हो, अन्तेवासी, अर्थात् गुरु के निकट रहनेवाला हो तथा अपने गुरु के इंगित इशारे तथा आकार मनोभाव का जानकार हो उसे विनीत कहते हैं।

आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले, गुरुजनों के हृदय से दूर रहनेवाले, शत्रु समान विरोधी तथा विवेकहीन साधक को अविनीत (उदण्ड, गुस्ताख़) कहते हैं।

महापुरुषों की शिक्षा से क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। चतुर होकर सहनशीलता रखनी चाहिए।

कोप (क्रोध) करना चाण्डाल कर्म है जो नहीं करना चाहिए। व्यर्थ बकवाद मत करो। समय की अनुकूलता के अनुसार उपदेश श्रवण कर फिर उसका एकान्त में चिन्तन-मनन करना चाहिए। भूल से यदि कदाचित् चाण्डाल भाव क्रोध हो जाये तो उसे कभी मत छुपाओ। जो दोष हो जाये उसे गुरुजनों के समक्ष स्वीकार कर लो। यदि अपना दोष न हो तो विनयपूर्वक उसको स्पष्ट कर देना चाहिए।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि महापुरुष मुझे मीठा उपालम्भ (शिकायत या उलाहना) अथवा कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हैं। इससे मेरा परम कल्याण होगा, ऐसा मानकर उसका विवेकपूर्वक पालन करे। गुरुजन की शिक्षा, दण्ड कठोर तथा कठिन होने पर भी दुष्कृत की नाशक होती है। इसलिए चतुर साधक उसको अपना हितकारी मानता है। किन्तु असाधु जन उसको द्वेष-जनक तथा क्रोधकारी समझ बैठता है।

साधु पुरुष तो यह समझता है कि गुरुजी मुझ को अपने पुत्र, लघुभ्राता अथवा स्वजन के समान मानकर ऐसा कर रहे हैं। इसलिए वह गुरुजी की शिक्षा (दण्ड) को अपना कल्याणकारी मानता है। किन्तु पाप दृष्टिवाला शिष्य उस दशा में अपने को दास मानकर दुःखी होता है।

यदि कदाचित् आचार्य (गुरु) क्रुद्ध हो जायें तो अपने प्रेम से उनको प्रसन्न करे। हाथ जोड़कर उनकी विनय करे तथा क्षमा माँगते हुए उनको विश्वास दिलाये कि भविष्य में वैसा दोष फिर कभी न करूँगा।

आचार्य (गुरु) के मन का भाव जानकर अथवा उनका वचन सुनकर सुशिष्य को उसे वाणी द्वारा स्वीकार कर कार्य द्वारा उसे आचरण में लाना चाहिए।

विनीत साधक प्रेरणा बिना ही प्रेरित होता है, उधर आज्ञा हुई और इधर काम पूरा हुआ ऐसी तत्परता के साथ वह सदैव अपने कर्तव्य करता रहता है।

शिक्षा सम्बन्धी उपरोक्त नियमों को जानकर जो बुद्धिमान् शिष्य विनय धारण करता है उसका यश लोक में फैलता है। और जैसे यह पृथ्वी प्राणिमात्र की आधार है वैसे ही वह विनयी शिष्य आचार्यों (गुरुओं) का आधारभूत होकर रहता है।[68]

शिष्य को सदा गुरु की आज्ञा में रहते हुए और अपनी पूरी ज़िम्मेदारी निभाते हुए गुरु के उपदेश का पालन करना चाहिए। गुरु की बतायी साधना में दृढ़तापूर्वक लगना, सांसारिक पदार्थों में मैं-मेरी की भावना (आपाभाव) को नष्ट करना और अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव प्राप्त करने के लिए भरपूर प्रयत्न करना शिष्य का अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है। इसके लिए गुरुदेव बार-बार उपदेश देते हैं, चिताते हैं और प्रेरित करते हैं। पर यह कार्य तो शिष्य को स्वयं ही करना है, इसके बदले में कोई दूसरा तो नहीं कर सकता। पर में (आत्मा से भिन्न पादर्थों में) आपाभाव मानकर जीव ने स्वयं ही अपने को दु:ख में डाल रखा है। इसलिए उसे स्वयं ही इस झूठे आपाभाव को मिटाना होगा और आत्मानुभव प्राप्त कर अपने दु:खों को दूर करना होगा। इसे स्पष्ट करते हुए *अनुभव प्रकाश* में कहा गया है:

जो पर (अपने से भिन्न) है, अर्थात् जो अपना नहीं है, उसे अपना मानकर अपने ही आपाभाव (मैं-मेरी के भाव) से तू दु:खी बना हुआ है। तुझे दु:ख देनेवाला कोई दूसरा नहीं है, तेरी ही भावना ने तेरा भव (संसार) बनाया है, अजन्मा (जन्मरहित आत्मा) को जन्म दिया है। ...अपने से भिन्न (पर) को देखकर तू ने अपने को भुला दिया—इस प्रकार यह अविद्या तेरी ही फैलायी हुई है। इस अविद्याभाव से जो कर्म किये जाते हैं उनमें से तू आत्मभाव को निकाल ले। फिर आत्मभाव के निकल जानेपर जड़ कर्म तेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेंगे, अर्थात् तू निष्कर्मी और निर्विकारी बना रहेगा। इस प्रकार तेरी शक्ति अपरम्पार

(असीम) है। अपने से भिन्न (पर) में आत्मभावना करने के कारण ही तू भव (संसार-चक्र) में पड़ा है, और तूने अपने संसार का विस्तार किया है। अब आत्मभावना या आत्मध्यान द्वारा तू परमात्मा को प्राप्त कर सकता है जो अविनाशी, अनुपम, निर्मल, अचल, परमपदरूप, सारतत्त्व, सत्-चित्-आनन्दमय, अविकारी, चेतन, अरूपी, अजर और अमर है। तो फिर ऐसी भावना क्यों न की जाय?[69]*

शरीर और इन्द्रियों के सुख-आराम में भूलकर आत्मज्ञान और आत्मसुख की प्राप्ति में शिथिलता या लापरवाही दिखलाना भारी भूल है। आत्मज्ञान से ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। इसलिए शिष्य को शरीरादि की अपेक्षा अपनी आत्मा को सँवारने और उसे रत्नत्रय के अलंकार से सुशोभित करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसे समझाते हुए कानजी स्वामी कहते हैं :

जीव व्यर्थ का मोह करके दुःखी होता है। मेरी माता, मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी बहिन, मेरा भाई—ऐसा ममत्व करता है, परन्तु हे जीव! तू तो ज्ञान है, तू तो आनन्द है; ऐसे अपने ज्ञान-आनन्द को अनुभव में ले; वे तुझसे कभी जुदे नहीं होवेंगे। माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन तो जुदे ही हैं; वे यदि आत्मा के होते तो जुदे क्यों पड़ते? और उनके बिना आत्मा कैसे टिकती? आत्मा तो उन सबसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप है; उसका ज्ञान उससे कभी जुदा नहीं पड़ता! ऐसे ज्ञानस्वरूप से जब अपने को अनुभव में ले तभी आत्मा का सच्चा ज्ञान होता है और तभी आत्मा को पर से भिन्न मानना कहलाता है। शरीर सुन्दर हो या कुरूप—वह जड़ का रूप है, आत्मा उस रूप कभी नहीं हुआ। जो जड़ है वह तीनों काल जड़ ही

---

* परकौं आपा मानि, आप मानितैं दुःखी भया। कोई दूजा नाहीं दुःखदाता, तेरी भावना ने भव बनाया, ना पैद पैदा किया, परकौं देखि आपा भूल्या, अविद्या तेरी ही फैलाई है। तू अविद्या रूप कर्मन परि आपा न दै, तौ किछु जड़का जोर नाहीं। तातैं अपरम्पार शक्ति तेरी है। भावना पर की करि भव करता भया, संसार बढ़ाया। निज भावनातैं अविनाशी अनुपम अमल अचल परम पद रूप आनन्द घन अविकारी सार सत् चिन्मय चेतन अरूपी अजरामर परमात्मा कौं पावै है। तौ ऐसी भावना क्यौं न करिये? (टिप्पणी 69 का मूल रूप)

रहता है, और जो चेतन है वह तीनों काल चेतन ही रहता है। जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं होते; शरीर और आत्मा सदैव जुदे ही हैं। ऐसे आत्मा को अनुभव में लेने से सम्यग्दर्शन होकर अपूर्व शांति होती है। ऐसे आत्मा की धर्मदृष्टि के बिना मिथ्यात्व मिटता नहीं, दुःख टलता नहीं और शांति होती नहीं। ...शरीर तो जड़, अर्थात् चेतन से रहित मृतक कलेवर है—क्या उसकी सजावट से आत्मा की शोभा है?—नहीं; भाई! सम्यक्त्व रूपी मुकुट से और चारित्र रूपी हार से अपनी आत्मा को अलंकृत करो। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय से आत्मा की शोभा है। चेतन भगवान् की शोभा जड़ शरीर द्वारा नहीं होती; अतः देहदृष्टि छोड़कर आत्मा को पहचानो—ऐसा उपदेश है। ...आत्मा का सच्चा स्वरूप समझो और अपनी मिथ्यात्वरूप भूल को दूर करो,—ऐसी श्री गुरु की शिक्षा है।[70]

शिष्य को गुरु के बचन को अपने हृदय में बसा लेना चाहिए और उनके बताये साधन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। अपने शरीर के सुख-आराम के लिए नाहक समय गँवाना उचित नहीं। इसी भावना को प्रकट करते हुए आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं :

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे।
हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्त्वदर्शि॥
त्वरितमसमसारानंदकंदायमाना।
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मीः॥

भावार्थ—यद्यपि यह शरीर ऐसा अपवित्र क्षणिक है सो ऐसा ही रहे, परंतु यदि परम गुरु का वचन जो तत्त्व को दिखलानेवाला है मेरे मन में रहे तो उसके प्रभाव से अर्थात् उस उपदेश पर चलने से मुझे इसी शरीर द्वारा अनुपम और अविनाशी आनन्द से भरपूर मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त हो जावे॥[71]

श्रावक प्रतिक्रमणसार में भी कहा गया है कि श्रेष्ठ गुरु को प्राप्त कर प्रमादरहित हो (लापरवाही को त्यागकर) अपने लक्ष्य की प्राप्ति में दृढ़ता से लगे रहना चाहिए:

नृजन्मलाभे स्वविवेकदं वा, सुदुर्लभं श्रेष्ठगुरुं च लब्ध्वा।
कदापि चित्ते कुरु मा प्रमादं, क्षमस्व लोकस्थितसर्वजीवान्॥

अर्थ—इस संसार में मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। यदि किसी विशेष पुण्यकर्म के उदय से मनुष्यजन्म की प्राप्ति हो जाय और फिर उसी मनुष्य-जन्म में अपने आत्मज्ञान को देनेवाले अत्यन्त दुर्लभ और कृपा के सागर श्रेष्ठ निर्ग्रन्थ (बन्धन-मुक्त) गुरु की प्राप्ति हो जाय तो फिर मनुष्य को अपने हृदय में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। तीनों लोकों में जितने जीव हैं उन सब को क्षमा कर देना चाहिए (अर्थात् उनके प्रति सदा अहिंसा और क्षमा का भाव रखना चाहिए)।[72]

गुरु के अनुपम उपकार को ध्यान में रखते हुए शिष्य के हृदय में गुरु के प्रति सबसे अधिक श्रद्धा और भक्ति का भाव होना चाहिए। *जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला* के अनुसार शिष्य की दृष्टि से गुरु की महिमा गोविन्द से भी बढ़कर है, क्योंकि वे ही कृपाकर गोविन्द (परमात्मा) से मिलने का मार्ग दिखलाकर गोविन्द से मिलाते हैं। तभी तो इस ग्रन्थ में कहा गया है :

गुरु अरु देव दोनों खड़े, किसके लागू पाँय।
बलिहारी श्री गुरुदेव की, भगवन दियो बताय॥[73]

शिष्य को अपने गुरु के प्रति गहरी भक्ति-भावना होनी चाहिए और उसके चित्त में गुरु के सत्संग और गुरु के ध्यान का सदा चाव रहना चाहिए। नीचे दी गयी प्रार्थना में भक्त अपने गुरु की महिमा का गुण-गान करता हुआ उनके प्रति ऐसी ही भावना व्यक्त करता है:

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति भाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो॥ 1॥
विषयों की आशा नहिं जिनके, साम्य-भाव धन रखते हैं।
निज-पर के हित-साधन में, जो निश-दिन तत्पर रहते हैं।

स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दु:ख समूह को हरते हैं॥2॥
रहे सदा सत्संग उन्हीं का, ध्यान उन्हीं का नित्य रहे।
उनही जैसी चर्या में यह चित्त सदा अनुरक्त रहे॥[74]

हुकमचन्द भारिल्ल ने भी अपनी गुरु-स्तुति में ऐसी ही भक्ति-भावना प्रकट की है:

उस वाणी के अन्तर्तम को, जिन गुरुओं ने पहिचाना है।
उन गुरुवर्यों के चरणों में, मस्तक बस हमें झुकाना है॥[75]

गुरु से मिलने और गुरु को अपने हृदय में बसाने की कितनी प्रबल इच्छा शिष्य को होनी चाहिए उसकी एक झलक भूधरदास जी की इस भाव-भरी बिनती में देखी जा सकती है:

जिनके अनुग्रह बिन कभी नहिं कटे कर्म जंजीर।
ते साधु मेरे उर बसो मम हरहु पातक पीर॥
जो काँच कंचन सम गिनही अरि मित्र एक सरूप॥
निन्दा बड़ाई सारिखी वन खंड शहर अनूप॥
सुख दु:ख जीवन मरण में नहीं खुशी नहीं दिलगीर।
ते साधु मेरे उर बसहु मम हरहु पातक पीर॥
कर जोड़ भूधर बीनवे कब मिलें वे मुनिराज।
यह आश मन की कब फलैं मम सरहिं सगरे काज।
संसार विषम विदेश में जे बिना कारण बीर।
ते साधु मेरे उर बसहु मम हरहु पातक पीर॥[76]

दौलतराम जी भी अपनी विनती में शिष्य की विनम्रता और उसके मनोभाव को बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त करते हुए कहते हैं:

हमारी वीर हरो भव पीर।
मैं, दुख तपित दयामृत-सागर, लखि आयो तुम तीर,

तुम परमेश मोखमग दर्शक, मोह दवानल नीर॥
तुम बिन हेत जगत उपकारी, शुद्ध चिदानन्द धीर।
गनपति ज्ञान समुद्र न लंघै, तुम गुन सिंधु गंभीर॥
याद नहीं मैं विपत्ति सही जो, धर-धर अमित शरीर।
तुम गुन चिंतत नशत तथा भय, ज्यों घन चलत समीर॥
कोटि बार की अरज यही है, मैं दुख सहूं अधीर।
हरहु वेदना फन्द "दौल" की, कतर कर्म-जंजीर॥

अर्थ—हे वीर! हमारी संसार-चक्र की व्यथा को दूर कीजिए। हे दया-अनुकम्पा के समुद्र! हे परम कारुणिक! मैं दुःखों से संतप्त हूँ और दुःख-परिहारार्थ (दुःख से मुक्त होने के लिए) आपके कृपासिंधु तट पर उपस्थित हुआ हूँ। आप परमेश्वर हैं, मोक्षपथ के दर्शयिता हैं तथा मोहरूप प्रचण्ड दावानल को शमन करने में नीर-समान हैं। आप बिना हेतु के विश्व का उपकार करनेवाले हैं, शुद्ध परमात्मा हैं, धीर हैं। आपके अपार ज्ञान-समुद्र को गणपति भी उल्लंघन नहीं कर सकते (अर्थात् उसका पार नहीं पा सकते), आप गम्भीर गुण-सिन्धु हैं। मैंने अनन्त शरीर धारण करते हुए जिन विपत्तियों को सहन किया, उनका स्मरण नहीं है, अर्थात् वे इतनी अधिक तथा विपुल हैं कि स्मरण रखना भी दुष्कर (कठिन) है। आपके गुणों का चिन्तन करने से उन समस्त भयों का वैसे ही नाश हो जाता है जैसे पवन के चलने से बादल छितरा जाते हैं। मेरी यही कोटिशः प्रार्थना है कि मैं अधीर दुःख भुगत रहा हूँ आप इस "दौलत" की कर्म शृंखलाओं का निकृन्तन (नाश) करके वेदना-जाल से मुक्त कर दीजिए।[77]

कुगुरु की सेवा से हानि

मनुष्य-जीवन में ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। वास्तव में मोक्ष-प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति गुरु की कृपा और सहायता से ही होती है। गुरु ही मोक्ष का मार्ग दिखलाते हैं। इसलिए यदि सही मार्ग दिखलानेवाले गुरु की खोज किये बिना हम किसी नक़ली या पाखण्डी गुरु

के कहने में आकर ग़लत मार्ग में लग जायें तो हम अपने लक्ष्य से विमुख हो जायेंगे और अपने लक्ष्य की प्राप्ति न कर अनेक योनियों में भटकते रहेंगे। इस प्रकार हमारा मानव-जीवन विफल हो जायेगा। इसलिए गुरु धारण करने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। इसे स्पष्ट करते हुए हुकमचन्द भारिल्ल कहते हैं:

> गुरु के स्वरूप को समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्कता है, क्योंकि गुरु तो मुक्ति के साक्षात् मार्ग-दर्शक होते हैं। यदि उनके स्वरूप को भली-भाँति न समझ पाया तो ग़लत गुरु के संयोग से भटक जाने की सम्भावना अधिक बनी रहती है।[78]

इसलिए गुरु धारण करने के पहले उनके सम्बन्ध में, जहाँ तक बन पड़े, जाँच-पड़ताल कर लेनी चाहिए। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गुरु धारण किया जाता है, वह मनुष्य-जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। इसलिए बिना सोचे-समझे किसी अन्ध परम्परा के प्रभाव में आकर या किसी प्रचलित लोक-रीति को निभाने के लिए किसी को गुरु धारण करना हितकारक होने के बदले हानिकारक हो सकता है। इसलिए हमें अच्छी तरह समझ-बूझकर नक़ली या ढोंगी गुरु से बचे रहना चाहिए और केवल सच्चे गुरु को ही धारण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> प्रत्येक व्यक्ति को संसार में फैले हुए हर एक 'धर्म' नामक वस्तु पर या देवी, देवताओं, धर्म शास्त्रों और गुरुओं पर अन्धे होकर विश्वास कभी न करना चाहिए। जब हम पैसे की हाँडी को भी ठोक बजा कर मोल लेते हैं तो जिस धर्म या देव, गुरु आदि के द्वारा हम संसार-समुद्र से पार होकर सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हैं, उसका अन्धे होकर सहारा लेना, चाहे उससे हानि के बदले लाभ ही क्यों न हो, बुद्धिमत्ता नहीं हो सकती। ...जो आत्म ज्ञान से शून्य, रात-दिन विषय कषायों में मस्त रहा करता है, वह रागी, द्वेषी, आडम्बरी और ढोंगी साधु कदापि सच्चा गुरु नहीं हो सकता।[79]

आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज भी हमें बड़े ही स्पष्ट शब्दों में चिताते हैं कि अनेकानेक योनियों में भटकानेवाले कुगुरु से हमें बचना चाहिए और मोक्ष की प्राप्ति करानेवाले सद्गुरु (सच्चे गुरु) की सेवा में लगना चाहिए। वे कहते है:

> हे आत्मन्! कुगुरुओं की सेवा करने से ही तूने आज तक सदाकाल अत्यन्त क्लेश और भ्रांति उत्पन्न करनेवाले निगोद (अत्यन्त अविकसित सूक्ष्मतम योनि) में परिभ्रमण किया है, महादुःख देनेवाले प्रतिक्षण प्राणों को हरण करनेवाले अत्यन्त निन्दनीय नरक में परिभ्रमण किया है और अत्यन्त निकृष्ट योनि कहलानेवाली तिर्यंचगति में परिभ्रमण किया है। हे शिष्य! इस प्रकार तूने वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा न करने से तथा कुगुरु की सेवा करने से अनन्तकाल तक संसाररूपी महासागर में परिभ्रमण किया। अतएव अब तू कुगुरुओं की सेवा करने का सर्वथा त्याग कर दे। कृपा के सागर समस्त जीवों पर दया धारण करनेवाले वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा करने से मोक्षरूपी स्वराज्य (अपना अर्थात् आत्मा का राज्य) तेरे अधीन हो जायेगा। कुगुरु पत्थर की नाव के समान होते हैं, आप भी डूबते हैं और अपने सेवक को भी ले डूबते हैं। इसलिए ऐसे कुगुरुओं से सदा बचते रहना चाहिए।
>
> निर्ग्रन्थ गुरु सदा मोक्षमार्ग में लगे रहते हैं तथा शिष्यों को भी मोक्षमार्ग में लगाते हैं। इसलिए ऐंसे श्रेष्ठ गुरुओं की सेवा से इस जीव को शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[80]

गुरु होने का दम्भ भरनेवाले या विशेष प्रकार का वेश धारण करनेवाले कुगुरुओं को पहचानना आसान नहीं है। इसलिए कुगुरुओं की पहचान करने के लिए पण्डित टोडरमल कुछ संकेत देते हुए कहते हैं:

> जो जीव विषय-कषायादि (विषय-विकारादि) अधर्मरूप तो परिणमित होते (कर्म करते) हैं, और मानादिक से अपने को धर्मात्मा मानते हैं, धर्मात्मा के योग्य नमस्कारादि क्रिया कराते हैं, अथवा किंचित् धर्म का

कोई अंग धारण करके बड़े धर्मात्मा कहलाते हैं, बड़े धर्मात्मा योग्य क्रिया कराते हैं—इस प्रकार धर्म का आश्रय करके अपने को बड़ा मनवाते हैं, वे सब कुगुरु जानना।

वहाँ कितने ही तो कुल द्वारा अपने को गुरु मानते हैं। उनमें कुछ ब्राह्मणादिक तो कहते हैं—हमारा कुल ही ऊँचा है, इसलिऐ हम सबके गुरु हैं। परन्तु कुल की उच्चता तो धर्म साधन से है। यदि उच्च कुल में उत्पन्न होकर हीन आचरण करे तो उसे उच्च कैसे मानें? यदि कुल में उत्पन्न होने से ही उच्चपना रहे, तो मांसभक्षणादि करने पर भी उसे उच्च ही मानो; सो वह बनता नहीं है।

तथा कोई कहते हैं कि—हमारे कुल में बड़े भक्त हुए हैं, सिद्ध हुए हैं, धर्मात्मा हुए हैं; हम उनकी सन्तति में हैं, इसलिए हम गुरु हैं। परन्तु उन बड़ों के बड़े तो ऐसे उत्तम थे नहीं; यदि उनकी सन्तति में उत्तमकार्य करने से उत्तम मानते हो तो उत्तम पुरुष की सन्तति में जो उत्तम कार्य न करे, उसे उत्तम किसलिए मानते हो? ...इसलिए बड़ों की अपेक्षा महन्त मानना योग्य नहीं है। इस प्रकार कुल द्वारा गुरुपना मानना मिथ्याभाव जानना।

...कितने ही किसी प्रकार का भेष धारण करने से गुरुपना मानते हैं; परन्तु भेष धारण करने से कौन सा धर्म हुआ कि जिससे धर्मात्मा-गुरु मानें? वहाँ कोई टोपी लगाते हैं, कोई गुदड़ी रखते हैं, कोई चोला पहिनते हैं, कोई चादर ओढ़ते हैं, कोई लाल वस्त्र रखते हैं, कोई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कोई भगवा रखते हैं, कोई टाट पहिनते हैं, कोई मृगछाला रखते हैं, कोई राख लगाते हैं—इत्यादि अनेक स्वांग बनाते हैं। ऐसे स्वांग बनाने में धर्म का कौन सा अंग हुआ? गृहस्थों को ठगने के अर्थ ऐसे भेष जानना। यदि गृहस्थ जैसा अपना स्वांग रखे तो गृहस्थ ठगे कैसे जायेंगे? और इन्हें उनके द्वारा आजीविका व धनादिक व मानादिक का प्रयोजन साधना है; इसलिए ऐसे स्वांग बनाते हैं। भोला जगत उस स्वांग को देखकर ठगाता है और धर्म हुआ मानता है; परन्तु यह भ्रम है।

सर्प को देखकर कोई भागे, उसे तो लोग कुछ भी नहीं कहते। हाय हाय! देखो तो, जो कुगुरु सर्प को छोड़ते हैं उसे मूढ़लोग दुष्ट कहते हैं, बुरा बोलते हैं।

अहो, सर्प द्वारा तो एक बार मरण होता है और कुगुरु अनन्त मरण देता है—अनन्त बार जन्म-मरण कराता है। इसलिऐ हे भद्र! सर्प का ग्रहण तो भला और कुगुरु का सेवन भला नहीं है।[81]

सच्चे गुरु अपने शिष्यों को मोक्ष पद की प्राप्ति करानेवाले धर्म का अभ्यास कराते हैं और कुमार्ग में ले जानेवाले अधर्म से दूर रखते हैं। पर मोक्ष मार्ग से विमुख करनेवाले कुगुरु अपने शिष्यों को कुमार्ग में डालकर अनेक जन्मों तक दुःखी बनाये रखते हैं। इसलिए मोक्षार्थी को लोक-लाज और कुल-परम्परा की परवाह न कर निर्भीकता के साथ अधर्म की ओर ले जानेवाले किसी भी प्रकार के कुगुरु को त्याग देना चाहिए और उस सच्चे गुरु को धारण करना चाहिए जो दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्ग को दिखाते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए कानजी स्वामी कहते हैं:

वे कुगुरु हैं; मिथ्यात्व के कारण वे स्वयं तो पत्थर की नाव की तरह संसार-समुद्र में डूबते हैं; और अन्य जो जीव वीतरागी गुरुओं का स्वरूप न पहचानकर ऐसे कुगुरूओं को सच्चा समझकर उनका सेवन करते हैं वे भी संसार समुद्र में डूबते हैं।

प्रश्नः- कोई कुगुरु मिल जाये तो क्या करना?

उत्तरः- तो ऐसा जानना कि यह सच्चा गुरु नहीं है; वह स्वयं भी मिथ्याभाव से दुःखी है और उसका सेवन करनेवाला जीव भी मिथ्याभाव की पुष्टि से दुःखी है,—ऐसा समझकर हमें उसका सेवन छोड़ना। इसमें किसी का अपमान करने की या द्वेष करने की बात नहीं है, परन्तु अपने आत्मा को मिथ्यात्वादि दोषों से बचाने की बात है।

धरम में शरम नहीं होती, अर्थात् शरम से या लोकलाज से भी कुगुरुओं का सेवन धर्मी जीव नहीं करते। अपना हित चाहनेवाले मुमुक्षु जीव को दुनिया की स्पृहा नहीं होती, दुनिया क्या बोलेगी—यह देखने

को वे नहीं रुकते; दुनिया से डरकर असत् देव-गुरु-धर्म का सेवन वे कभी नहीं करते; प्राण चले जायें तो भी सच्चे देव-गुरु-धर्म से विपरीत किसी को वे नहीं मानते। उनको अपने अन्तर में वीतरागता ही इष्ट है।[82]

इसीलिए जैन धर्म में जहाँ एक ओर हमारे मनुष्य-जीवन को सँवारने और सफल बनानेवाले सच्चे गुरु की सेवा और भक्ति करने का उपदेश दिया गया है, वहाँ दूसरी ओर हमारे मनुष्य-जीवन को कुमार्ग में लगाने और उसे निष्फल बनानेवाले कुगुरु से सदा बचे रहने के लिए चिताया गया है। कुगुरु या खोटे गुरु को नमस्कार करना भी हितकर नहीं है। *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है:

सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न जीव भय, आशा, स्नेह अथवा लोभ से भी कभी खोटे देव, खोटे शास्त्र अथवा खोटे गुरु को नमन नहीं करें। कभी उनका विनय भी न करें।[83]

कुन्थुसागर जी महाराज भी राग-द्वेष से युक्त कुगुरुओं को त्यागने और राग-द्वेषरहित, बन्धन मुक्त कृपासागर सद्गुरु को धारण कर मोक्ष की प्राप्ति करने तथा अपने मनुष्य-जीवनको सफल बनाने का उपदेश देते हैं। जीव को चिताते हुए वे कहते हैं:

हे आत्मन्! यदि तूने गुरु समझकर रागी-द्वेषी कुगुरुओं की स्तुति की हो, उनकी प्रशंसा की हो, किसी लोभ के कारण उनको नमस्कार किया हो अथवा कुनीत प्रदर्शक कुशास्त्र की स्तुति की हो, प्रशंसा की हो वा किसी लोभ से उसको नमस्कार किया हो तो तू अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए उन कार्यों का त्याग कर तथा पवित्र मन से जिनेंद्रदेव (जितेन्द्रिय गुरुदेव) के कहे हुए शास्त्रों का पठन-पाठन कर और कृपा के सागर निर्ग्रन्थ (बन्धनमुक्त) गुरु को मान। सदा यथार्थ देव, शास्त्र, गुरु का आराधन कर जिससे कि मनुष्य-जन्म प्राप्त होकर तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो।[84]

निष्कर्ष रूप में जैन धर्म का यही उपदेश है कि अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को सुगुरु, अर्थात् सच्चे गुरु की सेवा-भक्ति द्वारा संसार-सागर को पार करने का प्रयत्न करना चाहिए और संसार में भटकानेवाले कुगुरु की सेवा से दूर रहना चाहिए। सुगुरु और कुगुरु-सम्बन्धी इसी मूल उपदेश को मूलशंकर देशाई इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:

> सुगुरु जो सेवन करे, होवे भव से पार।
> कुगुरुन के सेवन करे, बढ़े संसार अपार॥
>
> अनादि काल से अपनी आत्मा ने कुगुरु की सेवा करने में अनन्त काल निकाला तो भी कल्याण हुआ नहीं। जो जीव अपना कल्याण करना चाहता है उसको प्रथम सुगुरु को पहचान कर उनके चरणों में भक्ति करनी चाहिए।[85]

दिव्यध्वनि

तीर्थंकरों या केवलज्ञानियों से प्रकट होनेवाली अलौकिक वाणी को दिव्यध्वनि कहते हैं। यह दिव्यध्वनि या अलौकिक नाद ही जैन धर्म का मूल स्रोत है। जैन परम्परा के अनुसार इसी के आधार पर गणधरों और आचार्यों ने जैन धर्म के मूल ग्रन्थों की रचना की।

दिव्यध्वनि का स्वरूप

कहा जाता है कि जब वर्द्धमान महावीर को अपनी साधना में सफलता प्राप्त हो गयी और उनके सभी आन्तरिक विकार पूर्णत: नष्ट हो गये, तब उनकी निर्मल आत्मा अनन्त ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता या केवलज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठी। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त ज्ञान-भण्डार के स्वामी बन गये। उनके सर्वांग से एक विचित्र गर्जना रूप ऊँकार ध्वनि गूँज उठी। इस विचित्र या अलौकिक ध्वनि को ही दिव्यध्वनि कहते हैं। इसी के आधार पर उनके प्रमुख शिष्य गौतम गणधर ने जैन धर्म के मूल द्वादशांग ग्रन्थों की रचना की और फिर बाद में अन्य आचार्यों द्वारा इन पर आधारित अन्य ग्रन्थ बनाये गये।

प्रसिद्ध जैन विद्वान् देवेन्द्र कुमार शास्त्री नीमच ने तीर्थंकरों की इस दिव्यध्वनि को 'शब्द ब्रह्म' की संज्ञा दी है।[1] अपनी साधना द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् को पार करने पर ही आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के बन्धनों से मुक्त होकर अपने निर्मल स्वरूप को धारण करती है। तभी यह समस्त ज्ञान के भण्डार को प्राप्त कर केवलज्ञानी बनती है।

साधारणतया: जब हम किसी भी भाषा में कोई वर्णात्मक शब्द या वचन बोलते या उसे सुनते हैं तो वह मुँह द्वारा बोला जाता है और कानों द्वारा सुना जाता है। पर दिव्यवाणी या ध्वनि न मुँह द्वारा बोली जा सकती है और न बाहरी कानों द्वारा सुनी जा सकती है। यह वाणी या ध्वनि मुँह खोले बिना अपने-आप अन्दर में गूँजती है। पर साधारणतया मुँह से बोलने और कानों से सुनने की अपनी पुरानी आदत के कारण शुरू-शुरू में ऐसा लगता है कि यह दिव्यध्वनि मुख से बोली जा रही है और बाहरी कानों से सुनी जा रही है। पर यह तो आन्तरिक वाणी है जो आन्तरिक कमलरूपी मुख से निकलती है।

इसके स्वरूप का संकेत देते हुए जैन धर्म के *महापुराण* में कहा गया है:

> भगवान् (महावीर) के मुखरूप कमल से बादलों की गर्जना का अनुकरण करनेवाली अतिशय युक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्य (मोक्षार्थी) जीवों के मन में स्थित मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी।[2] वह दिव्य ध्वनि भगवान् के मुख से इस प्रकार निकल रही थी जिस प्रकार पर्वत की गुफा के अग्रभाग से प्रतिध्वनि निकल रही हो।[3]

महापुराण के इन कथनों से यह स्पष्ट है कि बादलों की गर्जना के समान प्रतिध्वनित होनेवाली और सूर्य के समान मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाली दिव्यध्वनि में आवाज़ और प्रकाश दोनों ही पाये जाते हैं।

नादबिन्दूपनिषद् में भी प्रणव का स्वरूप बताते हुए उसे नाद और ज्योति (प्रकाश) से युक्त कहा गया है। इस नाद (आन्तरिक आवाज़) और प्रकाश के आनन्द में मग्न होकर मन आनन्दमय शब्दब्रह्म में विलीन हो जाता है, जैसा कि *नादबिन्दूपनिषद्* का स्पष्ट कथन है: "ब्रह्मस्वरूप प्रणव में संलग्न नाद ज्योति स्वरूप होता है। उसमें मन लय को प्राप्त होता है।[4]

दिव्यध्वनि द्वारा निकलनेवाली आवाज़ आन्तरिक आवाज़ है जो बाहरी या भौतिक मुख से प्रकट नहीं की जा सकती। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ *कसायपाहुड* में स्पष्ट कहा गया है: "जिस समय दिव्यध्वनि खिरती (प्रकट होती) है उस समय भगवान् का मुख बन्द रहता है।"[5] *तिलोयपण्णत्ती* और *हरिवंश पुराण* में

भी दिव्यध्वनि को तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्यजनों को आनन्द देनेवाली बताया गया है।[6]

मुख से बोले जानेवाले किसी भी भाषा के वर्णात्मक शब्दों या वचनों को हम अपनी इच्छा से प्रयत्नपूर्वक बोलते हैं। पर दिव्यध्वनि सभी इच्छाओं से परे तीर्थंकरों के अन्दर से बिना किसी प्रयत्न के अनायास ही जीवों के कल्याण के लिए सहजभाव से प्रकट होती है। *महापुराण* और *नियमसार तात्पर्यवृत्ति* में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "भगवान् (महावीर) की वह वाणी बोलने की इच्छा के बिना ही प्रकट हो रही थी।"[7] *स्वयम्भू स्तोत्र*[8] और *समाधिशतक*[9] में बताया गया है कि अरहन्त भगवान् की यह क्रिया स्वाभाविक ही बिना प्रयत्न के होती है।

जैन धर्म में दिव्यध्वनि के स्वरूप के सम्बन्ध में ऊपर जो बातें बतायी गयी हैं, वैसी ही बातें *अमृतनादोपनिषद्* में भी प्रणव या ऊँकार ध्वनि के विषय में कही गयी हैं। प्रणव या ऊँकार की दिव्यध्वनि के सम्बन्ध में *अमृतनादोपनिषद्* की यह उक्ति है:

> यह प्रणव-नामक नाद बाह्य प्रयत्न से उच्चारित होनेवाला नहीं है। यह व्यंजन नहीं है। स्वर भी नहीं है। कण्ठ, तालु, ओष्ठ और नासिका से उच्चारित होनेवाला भी नहीं है। यह मूर्द्धा से उच्चारित होनेवाला भी नहीं है। दोनों ओष्ठों के भीतर स्थित दन्त स्थान से भी इसका उच्चारण नहीं हो सकता। यह वह दिव्य अक्षर है, जो कभी क्षरित (नष्ट) नहीं होता अर्थात् यह अव्यक्त नाद के रूप में सदा विद्यमान रहता है। इसलिए (मन को स्थिर करने के लिए) संयम के साथ प्रणव का अभ्यास करना चाहिए और मन को निरन्तर नाद में लीन किये रहना चाहिए।[10]

जब मन आन्तरिक नाद या दिव्यध्वनि के आनन्द में लीन हो जाता है, तब वह पूरी तरह स्थिर या शान्त हो जाता है। तब आत्मा क्रमश: स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरों से निर्लिप्त होकर निर्मल बन जाती है। इस निर्मल और निर्लिप्त आत्मा के अन्दर से ही दिव्यध्वनि खिरती (प्रस्फुटित होती) है। पर सांसारिक जीवन में तीनों शरीरों से निर्लिप्त होने पर भी यह आत्मा इन शरीरों

से आवृत (ढकी हुई) दीख पड़ती है। इसी कारण आत्मा से निकलनेवाली दिव्यध्वनि शरीर के सर्वांग से निकलती हुई सी प्रतीत होती है। इसलिए इस शीर्षक के प्रारम्भ में यह कहा गया है कि केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भगवान् महावीर के 'सर्वांग से एक विचित्र गर्जना रूप ऊँकार ध्वनि गूँज उठी।'

इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त कर चुके तीर्थंकरों के गहरे अनुभव को किसी भी भाषा के वर्णात्मक शब्दों में ठीक-ठीक व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनका अनुभव मन बुद्धि और वचन से परे होता है। इसलिए उनसे सहज भाव से प्रकट होनेवाली दिव्यध्वनि वर्णात्मक या अक्षरात्मक नहीं हो सकती। वह निरक्षरी ही हो सकती है।

इस निरक्षरी दिव्यध्वनि का मर्म बिखरे और चंचल मन-बुद्धिवाले मनुष्यों के लिए समझ पाना सम्भव नहीं है। इसलिए गणधरों या सुयोग्य पात्रों के अभाव में यह दिव्यध्वनि नहीं खिरती। कहा जाता है कि केवल ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर भी 66 दिनों तक गणधर का अभाव होने के कारण भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि प्रकट नहीं हुई।[11] *जयधवला* में स्पष्ट कहा गया है कि "गणधर का अभाव होने से... दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति नहीं होती है।"[12] यह दिव्यध्वनि गणधर के संशय को दूर करने के लिए होती है। जीव जब तीर्थंकर भगवान् के चरणों में शरण लेकर उनसे दीक्षा प्राप्त करता है और उनके बताये उपदेश के अनुसार अभ्यास में लगता है, तभी वह इस दिव्यध्वनि को सुन सकता है। *कसायपाहुड* में यह प्रश्न उठाया गया है: "जिसने जिन पाद-मूल में महाव्रत स्वीकार किया है (दीक्षा ली है), ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती?" इसके उत्तर में कहा गया है: "ऐसा ही स्वभाव है।"[13]

जैन ग्रन्थों के ये कथन उस अटल आध्यात्मिक नियम की ओर संकेत करते हैं जिसके अनुसार किसी तीर्थंकर, पूर्णज्ञानी मार्गदर्शक या सतगुरु की शरण में आकर, उनसे दीक्षा लिए बिना कोई भी व्यक्ति अपने अन्दर दिव्यध्वनि का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकता। कोई तीर्थंकर या सच्चा गुरु ही अपने शिष्यों को अपनी दिव्यध्वनि की अनुभूति का अनुभव प्रदान कर सकता है। तीर्थंकर या सतगुरु ही अपने शिष्यों की आत्मा को अपनी आन्तरिक ध्वनि से जोड़ते

और अपनी जली हुई ज्योति से उनकी बुझी हुई ज्योति को जलाते हैं। इसलिए जब तक कोई साधक किसी तीर्थंकर या सतगुरु से दीक्षित होकर उनके उपदेश का अभ्यास नहीं करता तब तक उसे तीर्थंकर की दिव्यध्वनि की आवाज़ और प्रकाश का अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता।

तीर्थंकर जीवों के कल्याण के लिए ही संसार में आते हैं। *मोक्षमार्ग प्रकाशक* में पण्डित टोडरमल जी कहते हैं:

> ऐसे जीवों का भला होने के कारणभूत तीर्थंकर केवली भगवानरूपी सूर्य का उदय हुआ; उनकी दिव्यध्वनिरूपी किरणों द्वारा वहाँ से मुक्त होने का मार्ग प्रकाशित किया।[14]

किसी तीर्थंकर या सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि का आश्रय लिए बिना आत्मतत्त्व के स्वरूप का ज्ञान सम्भव नहीं है। *समयसार* की प्रस्तावना में पण्डित पन्नालाल जी ने भी सीमन्धर स्वामी की दिव्यध्वनि द्वारा ही श्री कुन्दकुन्द स्वामी को आत्मतत्त्व का अनुभव प्राप्त होने की बात बतायी है। वे कहते हैं:

> श्री कुन्दकुन्द स्वामी के विषय में यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और सीमन्धर स्वामी की दिव्यध्वनि से उन्होंने आत्मतत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था।[15]

आत्मतत्त्व के सच्चे स्वरूप या अनन्त ज्ञानरूप परमात्मा का अनुभव किसी तीर्थंकर या पूर्ण ज्ञानी महात्मा के माध्यम से (अर्थात् उनकी दिव्यध्वनि के सहारे) प्राप्त करने के अटल आध्यात्मिक नियम को एक उपमा द्वारा समझाया जा सकता है। अगाध समुद्र के जल को सीधे रूप से हम न पी सकते हैं और न हम इससे सिंचाई का काम ले सकते हैं। पर समुद्र का वही जल जब भाप बनकर बादल का रूप ले लेता है तो वह वर्षा बनकर बरसता है जिसे हम उचित विधि से अपने पीने के काम में ला सकते हैं और उससे सारी धरती भी हरी-भरी हो जाती है। इसी प्रकार समुद्ररूपी परमात्मा के अनन्त ज्ञान का अनुभव हमें सीधे रूप से नहीं हो सकता। वह ज्ञान हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब वह बादलरूपी तीर्थंकर या सच्चा गुरु बनकर हमें अपनी ज्ञानमय

दिव्यध्वनि का अनुभव प्रदान करे। अनन्त ज्ञान रूप परमात्मा का अनुभव प्राप्त करने का ऐसा ही प्राकृतिक नियम है।

इसी भाव को व्यक्त करते हुए *छान्दोग्योपनिषद्* में सत्यकाम जाबाल अपने को शिष्य रूप में स्वीकार किये जाने के लिए गुरु गौतम से विनयपूर्वक कहता है:

> मैंने आप जैसे महात्माओं से सुना है कि केवल गुरु से जानी गयी विद्या ही परमपद को प्राप्त करा सकती है।[16]

मुण्डकोपनिषद् में भी स्पष्ट कहा गया है:

> जिज्ञासु को परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा और विनय के साथ वेदों के रहस्य को जाननेवाले और परमात्मा में स्थित किसी गुरु की शरण में ही जाना चाहिए।[17]

इस सम्बन्ध में यह शंका उठायी जाती है कि हम तो किसी तीर्थंकर या गुरु के वचनों या वर्णात्मक शब्दों द्वारा दिये गये उपदेशों को ही अपने मन द्वारा समझते हैं। तब फिर मन और वचन से परे की अवस्था को प्राप्त किये हुए तीर्थंकरों या सतगुरु की निरक्षरी वाणी या दिव्यध्वनि से कोई गणधर या शिष्य किसी प्रकार का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है? इसका समाधान करते हुए *धवला पुस्तक*[18] में कहा गया है कि ऐसी शंका उचित नहीं है, क्योंकि अनुभव या सच्चा ज्ञान आत्मा का गुण है, मन का नहीं। इसलिए एक निर्मल आत्मा का ज्ञान दूसरी निर्मल आत्मा किसी प्रकार का वचन बोले बिना भी ग्रहण कर सकती है। वास्तव में सच्चे ज्ञान या अलौकिक आध्यात्मिक अनुभव को किसी भी वर्णात्मक शब्द या वचन द्वारा व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार तीर्थंकर या सच्चे गुरु के लिए अपनी निरक्षरी दिव्यवाणी द्वारा किसी गणधर या सुयोग्य शिष्य को अलौकिक दिव्यध्वनि सुनाना और उसे गूढ़ अनुभव प्रदान करना कोई असंगत बात नहीं है।

सच पूछें तो निरक्षरी भाषा ही सहज या स्वाभाविक भाषा है और मनुष्य जब तक बोलना नहीं सीखता तब तक निरक्षरी भाषा ही उसकी अभिव्यक्ति का

आधार होती है। निरक्षरी भाषा सहज और अकृत्रिम है; उसे सीखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। पर अक्षरी भाषा कृत्रिम है, उसे सीखने की ज़रूरत पड़ती है।

वास्तव में अन्तर से उठनेवाली दिव्यध्वनि अन्तरात्मा की आवाज़ या परमात्मा की पुकार है जो हमें अन्दर बुला रही है और हमें अन्दर का मार्ग दिखला रही है। बाहरी सांसारिक विषयों में उलझे हमारे ध्यान को यह दिव्यध्वनि अन्दर में मोड़ती है, विषय-वासनाओं के विष-तुल्य रसों से हटाकर हमें अपना अमृत रस पिलाती है और अन्त में हमारे वास्तविक परमात्मारूप को प्रकट कर देती है जिससे हम एक अपूर्व आन्तरिक आनन्द में मग्न हो जाते हैं।

दिव्यध्वनि की आवाज़ सहज और स्वाभाविक होने के कारण सभी मुनष्यों के लिए एक ही होती है[19] जबकि देश-काल की भिन्नता पर निर्भर करनेवाली कृत्रिम या वर्णात्मक भाषा अनेक प्रकार की होती है। पर जैसा कि जैन ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है, यह एकरूप निरक्षरी दिव्यध्वनि न केवल निरक्षर गूढ़ आन्तरिक अनुभवों की अभिव्यक्ति करती है, बल्कि यह सभी भाषाओं या वर्णात्मक शब्दों में दिये गये उपदेशों का भी मूल स्रोत है। इस तथ्य को जैन ग्रन्थों में अनेक उपमाओं द्वारा समझाया गया है। उदाहरण के लिए, *आदिपुराण* में कहा गया है:

> यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकार की थी, फिर भी भगवान् (महावीर) के महात्म्य से वह समस्त मनुष्यों की भाषारूप हो रही थी, अर्थात् सर्वभाषारूप परिणमन कर रही थी और लोगों का अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्व का बोध करा रही थी। जिस प्रकार एक ही प्रकार की जलधारा वृक्षों के भेद से अनेक रसवाली हो जाती है उसी प्रकार सर्वज्ञदेव की वह दिव्यध्वनि भी पात्रों के भेद से अनेक प्रकार की हो जाती थी। अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकार की होती है, फिर भी उसके पास जिस-जिस रंग के पदार्थ रख दिये जाते हैं वह अपनी स्वच्छता (निर्मलता) से अपने-आप उन-उन पदार्थों के रंगों को धारण कर लेती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान् की दिव्यध्वनि भी एक प्रकार की होते हुए श्रोताओं के भेद से अनेक रूप धारण कर लेती है।[20]

हरिवंश पुराण में भी दिव्यध्वनि की सर्वभाषाओं में परिणत होने की शक्ति का उल्लेख इसी प्रकार की उपमा द्वारा दिया गया है:

> जिस प्रकार आकाश से बरसा पानी एकरूप होता है, परन्तु पृथ्वी पर पड़ते ही वह नाना रूप में दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान् की वह दिव्य वाणी यद्यपि एक रूप थी तथापि सब जीव अपनी-अपनी भाषा में उसका भाव पूरी तरह समझते थे।[21]

जैन धर्म के *स्वयम्भू स्तोत्र* ग्रन्थ में भी दिव्यध्वनि को सर्वभाषारूप (सभी भाषाओं में परिणत होने की शक्ति रखनेवाली) बताते हुए कहा गया है:

> सर्व भाषाओं में परिणत होने के स्वभाव को लिए हुए आपका (भगवान् महावीर का) श्री सम्पन्न वचनामृत प्राणियों को उसी प्रकार तृप्त करता है जिस प्रकार अमृत पान करने से जीव तृप्त हो जाता है।[22]

कसायपाहुड में भी दिव्यध्वनि को सर्वभाषामयी बताते हुए यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार इसमें अनन्त पदार्थों का ज्ञान प्रदान करने की शक्ति है।[23]

साधारण मनुष्यों के लिए यह समझ पाना कठिन है कि एक ही निरक्षरी दिव्यवाणी या दिव्यध्वनि को अनेक भाषा बोलनेवाले किस प्रकार अपनी-अपनी भाषा में ग्रहण करते हैं। तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का प्रकट होना एक गूढ़ आध्यात्मिक अनुभव है। इसकी विशेषताओं को इन्द्रिय, मन और बुद्धि से प्राप्त होनेवाले साधारण ज्ञान के स्तर पर ठीक-ठीक समझ पाना सचमुच ही बहुत कठिन है। फिर भी एक सर्वसाधारण उदाहरण द्वारा निरक्षरी दिव्यध्वनि के एक होते हुए भी अनेक भाषाओं के रूप में परिणत होने की शक्ति की थोड़ी-बहुत कल्पना की जा सकती है।

वाद्य-यन्त्रों की निरक्षरी ध्वनि का उदाहरण लें। तबला, सितार, सारंगी आदि वाद्य-यन्त्रों के वादन को प्रायः हम सबने सुना है। पर ताल और सुर के विशेषज्ञ किसी व्यक्ति को इनके मधुर वादन से जैसा अनुभव प्राप्त होगा और वह जितना प्रभावित होगा ठीक वैसा ही अनुभव और वही प्रभाव किसी अन्य

साधारण व्यक्ति पर शायद नहीं होगा। इसी प्रकार दिव्यध्वनि का अनुभव और प्रभाव मनुष्यों की प्रवृत्ति और शक्ति की भिन्नता के कारण विभिन्न रूप में दीख पड़ता है। पर जो साधक उचित युक्ति के अभ्यास द्वारा ऊँचे आध्यात्मिक पद पर पहुँच जाते हैं, उन्हें दिव्यध्वनि का अनुभव एक समान ही होता है, और वे एक समान ही दिव्यध्वनि से प्रभावित होते हैं।

एक ही भाषा के अनेक भाषाओं के रूप में परिणमन होने की बात भी एक अन्य उदाहरण द्वारा समझी जा सकती है। हम जानते हैं कि अपनी मातृभाषा या अपनी बोलचाल की भाषा के साथ हम कितने घुले-मिले होते हैं। उससे हमारा इतना गहरा सम्बन्ध होता है कि हम अक्सर उसी भाषा में सोचने-विचारने या अर्थ ग्रहण करने के अभ्यस्त हो चुके होते हैं। यदि हमारी मातृभाषा हिन्दी है तो हम संस्कृत, अँग्रेज़ी, आदि अन्य किसी भी भाषा को पढ़ते समय या अन्य किसी भाषा में लिखित विषय पर विचार करते समय प्रकट या अप्रकट रूप से हिन्दी में उसका तरजुमा (रूपान्तर) करते हुए उसे पढ़ते या उस विषय पर विचार करते हैं। यदि किसी सभा में कोई व्याख्याता अँग्रेज़ी में व्याख्यान दे रहा होता है और उस सभा में हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि मातृभाषावाले व्यक्ति उसे सुन रहे होते हैं, तो सभी स्वाभाविक रूप से अपनी-अपनी भाषा में तरजुमा करते हुए उसे ग्रहण करते हैं। इस प्रकार व्याख्याता की अँग्रेज़ी भाषा श्रोताओं के कानों तक पुहँचने पर स्वाभाविक रूप से श्रोताओं की विभिन्न भाषाओं में परिणत होती जाती है। इस उदाहरण द्वारा हम समझ सकते हैं कि एक ही निरक्षरी दिव्यध्वनि को अनेक भाषा बोलनेवाले किस तरह अपनी-अपनी भाषा में ग्रहण करते हैं।

इसी भाव को दरसाते हुए *गोम्मटसार* में इस प्रकार कहा गया है:

> केवली की दिव्यध्वनि जबतक सुननेवालों के कर्णप्रदेश (कानों के छिद्रों) को प्राप्त नहीं करती तब तक यह अनक्षरी ही है... पर जब सुननेवालों के कानों का विषय बन जाती है तब वह अक्षरात्मक होकर यथार्थ उपदेशों के वचन के रूप में संशयादि को दूर करती है।[24]

इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण दिया जा सकता है। जिस प्रकार आजकल एक ही भाषा विभिन्न अनुवादक-यन्त्रों द्वारा एक साथ ही अनेक

भाषाओं में सुनी जा सकती है उसी प्रकार दिव्यध्वनि भी अपनी विशेषताओं के कारण एक साथ ही अनेक मनुष्यों को उनकी अपनी-अपनी निर्मलता और योग्यता के अनुसार उनकी अपनी ही भाषा में अर्थ ग्रहण कराती है।

इस प्रकार निरक्षरी ध्वनि या अक्षरी भाषा के एक होने पर भी श्रोताओं की शक्ति और योग्यता के अनुसार उसे अनेक रूप में ग्रहण किये जाने में कोई असंगति नहीं है।

दिव्यध्वनि का प्रभाव

कहा जा चुका है कि सभी इच्छाओं से परे तीर्थंकरों के अन्दर से दिव्यध्वनि बिना किसी इच्छा या प्रयत्न के सहज भाव से जीवों के कल्याण के लिए प्रकट होती है। इसलिए परम परोपकारी तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का प्रभाव सदा कल्याणकारक होता है। वे जीव सचमुच ही भाग्यशाली हैं जो अपने पुण्य की प्रेरणा से इस दिव्यध्वनि का अनुभव प्राप्त करते हैं और इसके द्वारा अपने को निर्मल बनाकर तथा अपने सच्चे स्वरूप को पहचानकर सदा के लिए जन्म-मरण के दु:ख से मुक्त हो जाते हैं। दिव्यध्वनि गणधरों और योग्य शिष्यों के संशय को दूर कर उन्हें सच्चा ज्ञान प्रदान करती है, उन्हें विशुद्ध बनाती है और उन्हें चारों फलों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति करा देती है। जैन धर्म के अनुसार दिव्यध्वनि के द्वारा ही भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर का संशय नष्ट हुआ, उन्होंने केवलज्ञान की प्राप्ति की और उसके आधार पर जीवों के कल्याणार्थ जैन ग्रन्थों की रचना की। आचार्य कुमार कार्तिकेय द्वारा रचित *कार्तिकेयानुप्रेक्षा* नामक ग्रन्थ में प्रश्नोत्तर शैली में दिव्यध्वनिरूप शास्त्र की प्रवृत्ति का कारण बताते हुए कहा गया है:

> प्रश्न—वीतराग सर्वज्ञ के दिव्यध्वनिरूप शास्त्र की प्रवृत्ति किस कारण से हुई?
>
> उत्तर—भव्य (कल्याणार्थी) जीवों के पुण्य की प्रेरणा से।[25]

जैसा कि *हरिवंश पुराण* में कहा गया है, यह दिव्यध्वनि चारों पुरुषार्थों का फल देने वाली है:

गणधर के प्रश्न के अनन्तर दिव्यध्वनि खिरने लगी। भगवान् की दिव्यध्वनि चारों दिशाओं में दिखनेवाले चार मुखकमलों से निकलती थी। यह चार पुरुषार्थरूप चार फल को देनेवाली थी। इसप्रकार यह सार्थक थी।[26]

तीर्थंकर आदिनाथ ने अपने परोपकारी स्वभाव के कारण दया कर दिव्यध्वनिरूपी अमृत की धारा पिलाकर ही जीवों का उद्धार किया था, जैसा कि *आदिपुराण* में कहा गया है:

वे जगदगुरु भगवान् (आदिनाथ) स्वयं कृतकृत्य होकर (अपने उद्धार का कार्य पूरा कर चुके होने पर) भी धर्मोपदेश के द्वारा दूसरों की भलाई के लिए उद्योग करते थे। इससे निश्चय होता है कि महापुरुषों की चेष्टाएँ स्वभाव से ही परोपकार के लिए होती हैं। उनके मुखकमल से प्रकट हुई दिव्यध्वनि या दिव्यवाणी ने उस विशाल सभा को अमृत की धारा के समान सन्तुष्ट किया था, क्योंकि अमृतधारा के समान ही उनकी दिव्यवाणी भव्य जीवों का सन्ताप दूर करनेवाली थी, जन्म-मरण के दुःख से छुड़ानेवाली थी।[27]

परमार्थ की प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक हमारा मन है। जब तक मन की चंचलता दूर नहीं होती और यह एकाग्र नहीं होता तब तक न ध्यान लग पाता है, न आन्तरिक शुद्धि होती है और न आत्मा के स्वरुप की पहचान ही की जा सकती है। मन को शान्त करना या इसे वश में लाना अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि मन स्वाद का आशिक है और संसार के लुभावने विषयों का स्वाद लेने के लिए यह दिन-रात उनके पीछे दौड़ लगाये रखता है। जब तक इसे सांसारिक विषयों से अधिक ऊँचा और मीठा स्वाद नहीं मिल जाता तब तक इसे संसार में भटकते रहने से रोका नहीं जा सकता। दिव्यध्वनि में ही वह अत्यन्त मधुर अमृत का स्वाद है जिसे पाकर मन तृप्त होता है। यह उसमें इस प्रकार मग्न हो जाता है कि इसे अन्य किसी विषय की चाह रह ही नहीं जाती। यह दिव्यध्वनि के मधुर रस में पूरी तरह लीन हो जाता है। मन को इसप्रकार शान्त और स्थिर कर लेने पर साधक सहज ही ध्यान की गूढ़ अवस्था को प्राप्त कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

इसीलिए रणजीत सिंह कूमट मन की शान्ति को बढ़ाने और आत्मा की अनुभूति का आनन्द प्राप्त करने के लिए दिव्यध्वनि या अन्तर की आवाज़ या शब्द को सुनने की प्रेरणा देते हैं। वे कहते हैं:

> दिमाग में (अन्तर में) हो रही आवाज़ को सुनो और उसके द्रष्टा बन जाओ। इस पर कोई निर्णय मत लो, न इसे रोको या इससे लड़ाई लड़ो। शीघ्र ही अनुभव होगा कि शब्द को "मैं" सुन रहा हूँ। यह "मैं" (आत्मा) की अनुभूति तुम्हारी अपनी उपस्थिति की अनुभूति है और यह बौद्धिक बात नहीं है बल्कि बुद्धि से परे की चीज़ है। ...जब हम विचारों के द्रष्टा बनेंगे तो देखेंगे कि यह शान्त मन की स्थिति जो पहले कुछ क्षणों की थी वह बढ़ने लगी है और धीरे-धीरे गहरी भी होने लगी है। यहीं "स्व" (आत्मा) के साथ एकता की अनुभूति होने लगेगी। यहीं से एक अन्तर की ख़ुशी अनुभूत होगी—स्व (आत्मा) से साक्षात्कार की।[28]

जैन ग्रन्थों में बार-बार दिव्यध्वनि की विशेषताओं को बताते हुए उसकी अनुपम मधुरता, अलौकिक मनोहरता (मन को हरनेवाली या वश में करनेवाली शक्ति) तथा मन के मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने और परमतत्त्व को प्रकाशित करने के सामर्थ्य का उल्लेख किया गया है।

· दिव्यध्वनि के स्वरूप पर विचार करते हुए इसके पूर्व के शीर्षक में हम देख चुके हैं कि यह दिव्यध्वनि "भव्य जनों को आनन्द देनेवाली" (*तिलोयपण्णत्ती* 1/162, 4/902, *हरिवंश पुराण* 2/113) है, "मन में स्थित मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित"(*महापुराण* 23/69) है तथा "लोगों का अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्व का बोध करा रही है।"(*आदिपुराण* 23/70)

ऐसे ही विचार को व्यक्त करते हुए *धवला टीका* में आचार्य वीरसेन कहते हैं:

> तीर्थंकर की दिव्यध्वनि मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद भाषा के अतिशयों से युक्त होती है।[29]

इसी प्रकार *अलंकार-चिन्तामणि* में दिव्यध्वनि को "असीम सुखप्रद"[30] बतलाया गया है।

आचार्य जिनसेन ने भी *आदिपुराण* में कहा है:

> हे भगवन्, जिसमें संसार के समस्त पदार्थ भरे हुए हैं, जो समस्त भाषाओं का निर्देशन करती है, अर्थात् जो अपनी अतिशय अलौकिक विशेषता के कारण समस्त भाषाओं के रूप में परिणमन करती है और जो स्याद्वादरूपी अमृत से युक्त होने के कारण समस्त प्राणियों के हृदय के अन्धकार को नष्ट करती है—ऐसी आपकी यह दिव्यध्वनि ज्ञानीजनों को शीघ्र ही तत्त्वों का अनुभव करा देती है।[31]

इन सब कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म के अनुसार अमृत के समान मधुर और मनोहर (मन को हरने या वश में करनेवाली) दिव्यध्वनि में ही वह अनुपम आनन्द का रस है जो मन को पूरी तरह तृप्त कर देता है। दिव्यध्वनि की प्राप्ति होने पर मन अपनी चंचलता छोड़कर स्थिर और एकाग्र हो जाता है। दिव्यध्वनि हृदय को दिव्यता प्रदान करती है, अपने पवित्र प्रभाव से अन्तरात्मा के समस्त कलुष को धोकर उसे निर्मल बनाती है और उसे परमात्मा का रूप दे देती है। इसलिए दिव्यध्वनि को संसार-सागर को पार करने का मार्ग कहा जाता है। आचार्य जिनसेन ने स्पष्ट कहा है:

> हे भगवन्, आपकी यह दिव्यध्वनि या दिव्यवाणीरूपी पवित्र जल हम लोगों के मन के समस्त मल को धो रहा है। वास्तव में यही तीर्थ है और यही आपके द्वारा बताया हुआ धर्मरूपी तीर्थ, भव्यजनों को संसाररूपी समुद्र से पार होने का मार्ग है।[32]

श्री कानजी स्वामी भी कहते हैं:

> सच्चे देव, निर्ग्रंथ (ग्रन्थिरहित या बन्धनमुक्त) गुरु और त्रिलोकीनाथ परमात्मा के मुख से निकली हुई ध्वनि (दिव्यध्वनि) अर्थात् आगमसार इन तीन निमित्तों के बिना मुक्ति नहीं होती।[33]

उपनिषद्‌ों में भी दिव्यध्वनि या अनाहत नाद को मन को वश में करने का अचूक साधन माना गया है। उदाहरण के लिए, *नादबिन्दूपनिषद्* में मन को वश में करने के लिए इसे अनाहत नाद में लीन करने का उपदेश देते हुए कहा गया है :

> यह मनरूपी आन्तरिक सर्प अनाहत नाद को ग्रहण करने पर उस सुहावने नाद की गन्ध से बँधकर तत्काल सारी चपलताओं का परित्याग कर देता है। फिर संसार को भूलकर यह एकाग्र हो जाता है और इधर-उधर कहीं नहीं दौड़ता। विषयों के वन में विचरनेवाले मनरूपी मतवाले हाथी को वशीभूत करने में यह नादरूपी तीक्ष्ण अंकुश ही समर्थ होता है। यह नाद मनरूपी मृग को बाँधने में जाल का काम करता है। यह मनरूपी तरंग को रोकने में तट का काम करता है।[34]

इसी उपनिषद् में फिर आगे कहा गया है :

> जब निरन्तर नाद का अभ्यास करने से वासनाएँ पूरी तरह क्षीण हो जाती हैं, तब मन और प्राण नि:सन्देह रूप से निराकार ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। कोटि-कोटि नाद और कोटि-कोटि बिन्दु ब्रह्मप्रणवनाद में लीन हो जाते हैं।[35]

इस सम्बन्ध में *नादबिन्दूपनिषद्* और *अमृतनादोपनिषद्* के कुछ उद्धरण पहले भी इस अध्याय में दिये जा चुके हैं।

दिव्यध्वनि एक उँचे और गूढ़ अनुभव की अवस्था में प्रकट होती है जहाँ मन, बुद्धि और वचन का प्रवेश नहीं होता। इसीलिए इसे न मन-बुद्धि द्वारा यथार्थ रूप से समझा जा सकता है और न इसे वर्णात्मक भाषा के वचनों द्वारा व्यक्त ही किया जा सकता है। पर परमार्थी साधकों को इसके गहरे शान्त और गम्भीर प्रभाव का अनुभव बड़े ही स्पष्ट और असन्दिग्ध रूप से होता है।

दिव्यध्वनि का प्रभाव इतना गहरा और व्यापक होता है कि पशु-पक्षी भी अपने-अपने स्तर पर इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। *हरिवंश पुराण* में कहा गया है कि ओठों को बिना हिलाये ही निकली हुई तीर्थंकर की दिव्यध्वनि ने

तिर्यञ्च (पशु-पक्षी), मनुष्य और देवों का दृष्टिमोह नष्ट कर दिया, अर्थात् उनका मोहभरा दृष्टिकोण नष्ट हो गया और उनकी प्रवृत्ति ज्ञान की ओर हो गयी।[36]

इससे यह सूचित होता है कि उच्च कोटि के महात्माओं के प्रभाव से उनके समक्ष पशु-पक्षियों के स्वभाव में भी अन्तर आ जाता है और वे उन महात्माओं के प्रति अनुकूल व्यवहार करने लगते हैं। कहा जाता है कि जब देवदत्त ने बुद्ध को मतवाले हाथी के पैरों तले कुचलवाने की कुचेष्टा की तो वह हाथी बुद्ध के पास आकर उनके सामने सिर झुकाकर शान्त भाव से खड़ा हो गया।

इस बात को प्राय: सभी जानते हैं कि वन में निवास करनेवाले ऋषि-मुनियों को बाघ, सिंह आदि खूँख़ार जंगली जानवर कभी नहीं छेड़ते और ऋषि-मुनियों को भी उनसे कभी कोई भय नहीं होता। उच्च कोटि के महात्माओं या सन्तों की सौम्य आकृति, स्वाभाविक सरलता, आहिंसामय जीवन और शान्त भाव को देख जंगली जन्तुओं का विरोध-भाव मिट जाता है और सन्त-महात्माओं के समीप का सम्पूर्ण वातावरण सहज ही शान्तिमय हो जाता है। *योगसूत्र* में भी कहा गया है:

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्याग: ।[37]

अर्थात् जब साधक में अहिंसा का गुण भली-भाँति स्थापित हो जाता है तब उसके सामने सभी प्राणी सहज ही वैरभाव का त्याग कर देते हैं। दूसरे शब्दों में, जब अहिंसा की भावना साधक के अन्दर दृढ़ हो जाती है तो उस अहिंसा भावना का तदनुकूल प्रभाव पास आनेवालों के ऊपर अवश्य पड़ता है।

ऐसी स्थिति में अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द को प्राप्त कर अपने अन्दर दिव्यध्वनि को प्रकट कर लेनेवाले तीर्थंकर के सामने आये पशु-पक्षियों का उनके प्रभाव में आना बिल्कुल ही स्वाभाविक है।

तत्त्वभावना में अरहंत भगवान् के दिव्य स्वरूप तथा उनकी मेघ गर्जना के समान दिव्यध्वनि का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है:

परम रमणीक अशोक वृक्ष (जहाँ शोक या दु:ख नही होता) शोभायमान है। उसके नीचे प्रभु का सिंहासन है। दुंदुभि बाजों (दिव्य नगाड़ों) की

परम मिष्ट (मधुर) व गम्भीर ध्वनि हो रही है। भगवान् की दिव्य ध्वनि मेघ गर्जना के समान हो रही है।[38]

महावीर स्वामी की पूजा में भी इस दिव्यध्वनि का संकेत करते हुए कहा गया है:

घननं घननं घनघंट बजै। दृमदम दृमदम मिरदंग सजै।[39]

वास्तव में यह अनाहत नाद, जो प्रभु का प्रकट रूप है, सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। आचार्य पार्श्वदेव ने *संगीत-समयसार* में स्पष्ट कहा है:

नादात्मकं जगत।
अर्थ—सम्पूर्ण जगत् नादात्मक है।[40]

भक्ति की तन्मयता और ध्यान की सिद्धि के लिए नाद की आश्यकता बतलाते हुए इस पुस्तक में कहा गया है:

भक्ति के लिए तन्मयता और तन्मयता के लिए नाद-सौदर्न्य आवश्यक है। नाद-सौन्दर्य की भावना संगीत को जन्म देती है। वीणा की झंकार, वेणु की स्वर-माधुरी, मृदंग-मुरज-पर्णव-दर्दुर-पुष्कर-मंजीर आदि अनेक वाद्य प्राणों में एकीभाव उत्पन्न करते हैं। एकीभाव से ध्यान-सिद्धि होती है। मन-वचन-काय एकनिष्ठ होकर समाधि का अनुभव करते हैं।[41]

यह बताते हुए कि किस प्रकार ध्यान या समाधि की अवस्था में दिव्यध्वनि की अमृत-वृष्टि द्वारा साधकों के सांसारिक दुःख दूर हो जाते हैं, उन्हें परमसुख का अनुभव होता है और वे मुक्ति का महाफल प्राप्त कर लेते हैं, महाचन्द्र जैन कहते हैं:

अमृत झर झुरि-झुरि आवे जिनवानी।
दिव्य ध्वनि गम्भीर गरज है श्रवण सुनत सुखदानी॥
भव्य जीव मन-भूमि मनोहर पाप कूड़कर हानी।

धर्म-बीज तहाँ ऊगत नीको मुक्ति-महाफल ठानी॥
ऐसो अमृत झर अति शीतल मिथ्या तपत बुझानी॥
"बुध महाचन्द्र" इसी झर भीतर मग्न सफल सोइ जानी॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र की वाणी अमृतनिर्झर के साथ झर-झर बरस रही है। दिव्यध्वनि ही वह गम्भीर मेघगर्जन है जिसे सुनकर श्रोत्र सम्पुट (आन्तरिक कान) में सुख की प्रतीति हो रही है। भव्यात्माओं (मोक्ष-प्राप्ति की साधना में लगे जीवों) की हृदय-भूमि का पापमय अवकर (कूड़ा) इससे बह गया है, नष्ट हो गया है। इस जिनेन्द्र-भारती (वाणी) रूप अमृत नीर के सिंचन से श्रेष्ठ धर्मबीज अंकुरित होता है जिसके वृक्ष पर मुक्तिरूप महान् फल फलित होता है। इस प्रकार के अत्यन्त शीतल अमृतनिर्झर से मिथ्यात्वरूप दाह की शान्ति होती है। "महाचन्द्र" का अभिमत है कि इसी अमृत-निर्झर में जो मग्न रहते हैं, अवगाहन करते हैं, वे ही अपना जन्म सफल करते हैं।[42]

दिव्यध्वनि के स्वरूप और प्रभाव पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन को वश में करने, संसार-सागर को पार करने और आत्मतत्त्व के स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनाने के लिए किसी तीर्थंकर या सच्चे गुरु की खोज कर उनसे दिव्यध्वनि का रहस्य प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए हमें पूरी तैयारी और दृढ़ संकल्प के साथ अपने मनुष्य-जीवन के इस मूल उद्देश्य को पूरा करने के प्रयत्न में लग जाना चाहिए। श्री कानजी स्वामी ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में हमें जीवन के इस उद्देश्य की पूर्ति के प्रयत्न में पूरी तैयारी के साथ लग जाने का उपदेश दिया है। वे कहते हैं:

सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के निमित्त के बिना कदापि सत्य नहीं समझा जा सकता, ...ऐसा नियम अवश्य है कि जहाँ अपनी तैयारी होती है वहाँ निमित्त का सुयोग अवश्य होता ही है। ...महाविदेह में तीर्थंकर न हों यह कदापि नहीं हो सकता। यदि अपनी तैयारी हो तो चाहे जहाँ, सत् निमित्त का योग मिल ही जाता है और यदि अपनी तैयारी न हो तो सत् निमित्त का योग मिलने पर भी सत् का लाभ नहीं होता।[43]

इसलिए हमें चाहिए कि सद्ग्रन्थों या शास्त्रों से प्रेरणा लेकर और सच्चे देव को स्मरण कर, दृढ़ संकल्प और पूरी तैयारी के साथ सच्चे गुरु की खोज करें और उनसे दिव्यध्वनि का अनुभव प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनावें। जैन धर्म पर गहराई से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस धर्म में दिव्यध्वनि को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और इसका अनुभव प्राप्त करना मानव-जीवन को सफल बनाने के लिए आवश्यक माना गया है।

अनुप्रेक्षा (भावना)

सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों की असलियत को न समझने के कारण जीव उनके मोह में पड़ जाता है और उनमें आसक्त हो जाता है। उसकी यह आसक्ति ही उसके बन्धन का मूल कारण है। जब तक जीव में संसार के प्रति अनासक्ति या वैराग्य की भावना उत्पन्न नहीं होती, तब तक संसार से उसका छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। इसीलिए जैन धर्म में संसार की वास्तविकता को समझाकर उसका बार-बार स्मरण और चिन्तन करते रहने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार के स्मरण और चिन्तन से जीव में संसार के प्रति अनासक्ति और वैराग्य की भावना विकसित होती है और समत्व-भाव उत्पन्न होता है। यह भावना मोक्ष-प्राप्ति के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। संसार और इसके पदार्थों की असलियत के बारे में बार-बार चिन्तन करने को ही जैन धर्म में 'अनुप्रेक्षा' (अनु=बार-बार; प्रेक्षा=गौर से देखना या गहराई से विचार करना) या 'भावना' (बार-बार चिन्तन करना) कहा गया है। *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* में इसे इन शब्दों में व्यक्त किया गया है:

(तत्त्व का) पुनः-पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा (भावना) है।[1]

वैराग्य बढ़ानेवाली भावनाएँ

जैन ग्रन्थों में वैराग्य की वृद्धि के लिए बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख पाया जाता है। इन्हें बारह वैराग्य भावनाएँ भी कहते हैं। इनके नाम हैं:

1. अनित्य भावना 2. अशरण भावना 3. संसार भावना 4. एकत्व भावना 5. अन्यत्व भावना 6. अशुचि भावना 7. आस्रव भावना 8. संवर भावना 9. निर्जरा भावना 10. लोक भावना 11. बोधि-दुर्लभ भावना और 12. धर्म भावना। अपनी साधना में दृढ़ होने के लिए इन्हें अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। हम यहाँ एक-एक कर इन पर विचार करेंगे।

1. अनित्य भावना

इस संसार और इसके पदार्थों को जिस रूप में हम अपने मन और इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं, वह उनका वास्तविक रूप नहीं है। जबतक हमें पारमार्थिक ज्ञान नहीं होता, तबतक हमारा सांसारिक ज्ञान हमें भ्रम में ही रखता है। धन-दौलत, मान-प्रतिष्ठा, सुन्दरता और दुनिया की चकमक आदि जिन विषयों को स्थायी समझकर हम उनके पीछे दौड़ते रहते हैं, वे स्थायी नहीं हैं। जिस शरीर को हम मोहक और आकर्षक समझकर उससे मिलने या लिपटने के लिए व्यग्र रहते हैं, वह केवल हाड़-मांस का एक पुतला है, जो चिता में जलकर भस्म हो जाता है। पर हमारे ऊपर अज्ञानजनित मोह का इतना मोटा परदा पड़ा हुआ है कि हम इस अनित्य और असार संसार को नित्य और सच्चा मानकर इसमें आसक्त हो जाते हैं। संसार की अनित्य और झूठी वस्तुओं के लोभ में पड़कर हम अनेक प्रकार के भले-बुरे कर्म करते हैं, जिनके फलस्वरूप हमें आवागमन के चक्र में पड़कर घोर दुःख भोगना पड़ता है। ऐसी स्थिति से बचने के लिए जैन ग्रन्थों में अनेक प्रकार से संसार की अनित्यता और असारता दिखलाकर उसका बार-बार चिन्तन करते रहने पर ज़ोर दिया गया है। हम जिस प्रकार का चिन्तन बार-बार करते हैं, उसके अनुसार ही हमारी चित्तवृत्ति ढल जाती है। जब संसार की अनित्यता और असारता की भावना हमारे हृदय में घर कर लेती है, तब हम संसार से उदासीन या अनासक्त हो जाते हैं और दृढ़ विश्वास के साथ मोक्ष-मार्ग में सहज रूप से आगे बढ़ते जाते हैं।

संसार का अर्थ ही है संसरण या गमन करनेवाला। अर्थात् जो चलायमान है या जिसमें सदा परिवर्तन या बदलाव होता रहता है, उसे ही संसार कहते हैं। यहाँ एकमात्र परमात्मस्वरूप आत्मा ही नित्य है, जो वास्तव में संसार से परे और

उससे भिन्न है। संसार में जो कुछ उत्पन्न होता है, वह अवश्य ही नष्ट होता है। पर मोहवश हम अनित्य और नश्वर पदार्थों को नित्य या स्थायी समझकर उनमें आसक्त हो जाते हैं और अपनी इस नासमझी के कारण जन्म-मरण के चक्र में पड़कर दु:ख भोगते रहते हैं। इसीलिए जैन ग्रन्थों में बार-बार संसार और सांसारिक पदार्थों की अनित्यता की ओर हमारा ध्यान दिलाया गया है और नित्य पदार्थ (परमात्म-तत्त्व) को जानने के लिए ध्यान द्वारा परमार्थ बुद्धि प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है, जैसा कि *णाणसार (ज्ञानसार)* में कहा गया है:

बिजली जलबुदबुदवत प्यारे, जोबन जीवन तन धन सारे।
ऐसे सब अस्थिर पहचानो, परम ध्यान को करहु प्रमाणो॥
बिजली अथवा जल बुदबुद के समान जीवन, यौवन, धन-धान्य सब अस्थिर (अनित्य) हैं। इस प्रकार परमार्थ बुद्धि से जानो।[2]

जिन-वाणी में भी संसार और इसके सभी पदार्थों को अनित्य और क्षणभंगुर बताते हुए कहा गया है:

जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसका नियम से नाश होता है। परिणमन (बदलते रहनेवाला) स्वरूप होने से कुछ भी शाश्वत (नित्य) नहीं है।

जन्म मरण से सहित है, यौवन जरा सहित है, लक्ष्मी (धन-दौलत) विनाश सहित है, इसप्रकार सब पदार्थ क्षणभंगुर हैं ऐसा जानिए।

जैसे नवीन मेघ तत्काल उदय होकर विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इस संसार में परिवार, बन्धुवर्ग, पुत्र, स्त्री, भले मित्र, शरीर का लावण्य (सुन्दरता), गृह, गोधन (बहुत सी गौओं की सम्पत्ति) इत्यादि समस्त पदार्थ अस्थिर हैं।[3]

आचार्य कुंथुसागरजी महाराज ने भी संसार और उसके पदार्थों की अनित्यता इन शब्दों में व्यक्त की है:

यह संसार देखते-देखते नष्ट हो जाता है। माता, पिता, भाई, पुत्र आदि का संयोग बिजली की चमक के समान चंचल है, इनके वियोग का

कोई निश्चित काल नहीं है, जिनका आज संयोग है कल उन्हीं का वियोग हो जाता है। आज जो धनी है कल वही दरिद्र हो जाता है। इसप्रकार विचार करने से इस संसार की अनित्यता अपने-आप मालूम हो जाती है।[4]

यह बताते हुए कि जीव इस संसार में अज्ञानजनित मोह का शिकार होकर अनित्य को नित्य और दु:ख को सुख मानने के भ्रम में पड़ा हुआ अपना विनाश कर रहा है, शुभचन्द्राचार्य हमें इस भ्रम से निकलने के लिए चिताते हैं। वे कहते हैं:

हे मूढ़! क्षण-क्षण में नाश होनेवाले इन्द्रियजनित सुख में प्रीति करके ये तीनों भुवन नाश को प्राप्त हो रहे हैं, सो तू क्यों नहीं देखता?

पुत्र, स्त्री, बांधव, धन शरीरादि चले जाते हैं और जो हैं, वह भी अवश्य ही चले जायेंगे। फिर इनके लिए यह जीव वृथा ही क्यों खेद करता है?

जो मूढ़धी पञ्चेन्द्रियों के विषय सेवने में सुख ढूँढ़ते हैं, वे मानो शीतलता के लिए अग्नि में प्रवेश करते हैं और दीर्घ जीवन के लिए विष पान करते हैं। उन्हें इस विपरीत-बुद्धि से सुख के स्थान दु:ख ही होगा।

यह जगत इन्द्रजालवत् (जादू या बाजीगरी के समान) है। प्राणियों के नेत्रों को मोहनीअञ्जन के समान भुलाता है, और लोग इसमें मोह को प्राप्त होकर अपने को भूल जाते हैं, अर्थात् लोग धोखा खाते हैं। अत: आचार्य महाराज कहते हैं कि हम नहीं जानते ये लोग किस कारण से भूलते हैं। यह प्रबल मोह का माहात्म्य ही है।

इस जगत् में जो जो चेतन और अचेतन पदार्थ हैं, उन्हें सब महार्षियों ने क्षण-क्षण में नष्ट होनेवाले और विनाशीक (नश्वर) कहे हैं। यह प्राणी इन्हें नित्यरूप मानता है, यह भ्रम मात्र है।[5]

आचार्य पद्मनन्दि ने भी संसार की अनित्यता और इसे न समझने के कारण होनेवाली जीव की दुर्दशा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। वे कहते हैं:

इस संसार-सरोवर में यम-धीवर के हाथ से फैलाए हुए चमकीले जरा-जाल में फँसकर भी यह लोकरूप दीन-हीन मीनों का समूह अपने इन्द्रिय-सुख-जल में क्रीड़ा करता रहता है और निकट में ही प्राप्त होनेवाले घोर आपदाओं के चक्र को नहीं देखता, यह बड़े ही खेद का विषय है! अर्थात् वृद्धावस्था प्राप्त हो जाने पर भी जो इन्द्रिय-विषय-सुखों में मग्न रहते हैं उनकी दशा बड़ी ही खेदजनक है! ऐसे लोग जाल में फँसकर क्रीड़ा करते हुए मीनों की तरह शीघ्र ही घोर आपदाओं को प्राप्त होते हैं।

गत जीवों को काल के गाल गये सुनकर और बहुतों को अपने सामने काल के गाल में जाते (मरते) हुए देखकर भी जो लोग अपने को स्थिर मान रहे हैं उसका कारण एकमात्र मोह है—और इसलिए ऐसे लोग मोही कहे जाते हैं। वृद्धावस्था प्राप्त होने—बुढ़ापा आ जाने पर भी जो लोग धर्म में चित्त नहीं लगाते वे पुत्र-पौत्रादिक बन्धनों से अपने आत्मा को और ज़्यादा-ज़्यादा बँधाते रहते हैं। ऐसे लोगों का बन्धन-मुक्त होना बड़ा ही कठिन कार्य हो जाता है।

इस जगत् में मनोवांछित लक्ष्मी पायी, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को भोगा—उस पर राज्य किया—और वे अति मनोहर-रमणीय विषय प्राप्त किये जो स्वर्ग में देवताओं को भी दुर्लभ हैं; परन्तु इन सबके अनन्तर मृत्यु (मौत) आवेगी। अत: ये सब विषय-भोग—जिनमें हे आत्मन्! तू रच-पच रहा है—विषमिश्रित भोजन के समान धिक्कार के योग्य हैं। अर्थात् जिस प्रकार विष मिला हुआ भोजन खाते समय स्वादिष्ट मालूम होने पर भी अन्त में प्राणों का हरण करनेवाला होने से त्याज्य है उसी प्रकार ये विषय-सुख भी सेवन करते समय अच्छे मालूम होते हुए भी अन्त में दुर्गति का कारण होने से त्यागने के योग्य हैं। अत: इनमें आसक्ति का त्याग करके मुक्ति के मार्ग पर लगना चाहिए जिससे फिर वियोगादि-जन्य कष्ट न उठाने पड़ें।

इस संसार में विधि के वश से—पूर्वोपार्जित कर्म के अधीन हुआ—राजा भी क्षणभर में रंक हो जाता है और सर्वरोगों से रहित

तरुणहट्टा-कट्टा नौजवान—भी शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है; औरों की तो बात ही क्या? जब संसार में सार रूप से माने जानेवाले धन और जीवन दोनों की ही ऐसी क्षणभंगुर स्थिति है तब बुधजनों को किसे पाकर मद करना चाहिए?—कहीं भी उनके मद के लिए स्थान नहीं है, विधि के चक्कर में पड़कर दम भर में सारे मद का चकनाचूर हो जाता है।

धन, स्त्री और पुत्रादि की हालत उन दीपकों के समान है जो ऊँचे पर्वत की चोटी पर रखे हुए पवन से काँप रहे हैं और दम भर में बुझ जाने की स्थिति में हैं। ऐसे क्षणभंगुर धनादिक को पाकर जो मनुष्य घमण्ड करता है—अभिमानी बन रहा है—वह प्रायः पागल हुआ मुक्का-घूसा मारकर आकाश को हनना चाहता है! व्याकुल हुआ सूखी नदी को तिरने को चेष्टा करता है! और प्यास से पीड़ित हुआ मृगमरीचिका को पीने का उद्यम करता है! ये सब कार्य जिस प्रकार व्यर्थ हैं और इन्हें करनेवाले किसी भी मनुष्य के पागलपन को सूचित करते हैं, उसी प्रकार स्त्री-पुत्र-धनादिक को पाकर अहंकार (गर्व) करना भी व्यर्थ है और वह अहंकारी के पागलपन को सूचित करता है।[6]

मनुष्य का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध और उसकी सबसे गहरी आसक्ति अपने शरीर से होती है, जिसे वह रोज़ सँवारता-सिंगारता है और जिसके सुख-आराम के लिए अनेक उपाय और अथक प्रयत्न करता है। वह भूल जाता है कि उसका शरीर नश्वर है, जीव का बन्धन है और दुःख का कारण है। वह अपनी सुन्दरता, शक्ति और सामर्थ्य का अभिमान करता है, पर काल के सामने उसका कुछ भी ज़ोर नहीं चलता। अपने प्रियजनों की मृत्यु पर वह नाहक रोता-बिलखता है और अपनी मृत्यु को, जिसे टाला नहीं जा सकता, भुलाये रहता है। जीवन की अनित्यता पर उचित ध्यान न देने के कारण वह अपने दुर्लभ मनुष्य-जीवन के अनमोल समय को व्यर्थ ही गँवाकर संसार से चला जाता है।

संसार की अनित्यता के सम्बन्ध में आचार्य पद्मनन्दि के विचारों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अब हम शरीर की अनित्यता के सम्बन्ध में उनके विचारों को नीचे प्रस्तुत करते हैं। शरीर की अवस्था के सम्बन्ध में वे कहते हैं:

काया तो दु:ख और मरण की जननी है—दु:ख और मरण इसी भूमि से उत्पन्न होते हैं। यदि काया (देह) न हो तो आत्मा को दु:ख भी न उठाने पड़ें और मरण भी न हो सके। जब काया के साथ आत्मा का सम्बन्ध है तो फिर दु:ख अथवा मरण के उपस्थित होने पर, जिनका सम्बन्धावस्था में होना अवश्यम्भावी है, बुधजनों को शोक नहीं करना चाहिए। प्रत्युत (विपरीत) इसके उन्हें तो नित्य ही निराकुल (शान्त) होकर बहिरात्म-बुद्धि के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप का—अपनी मुक्ति का—विचार करना चाहिए, जिससे दुखदायी देह का पुन: पुन: जन्म ही सम्भव न रहे।

जिसने जन्म लिया है वह मृत्यु का दिन आने पर निश्चित रूप से अवश्य ही मरता है, तीन लोक में भी फिर उसका कोई रक्षक नहीं होता—उसे मौत से नहीं बचा सकता। अत: जो मनुष्य अपने प्रिय स्वजन के मरने पर शोक करता है वह निर्जन वन में विलाप करके रोता है—निर्जन वन का विलाप जैसे व्यर्थ होता है वैसे ही उसका वह शोक भी व्यर्थ है, उस पर कोई ध्यान देनेवाला नहीं।

यह सुनिश्चित है कि अपनी आयु यम से अति ही पीड़ित है—काल से बराबर हनी जा रही है। इस तरह आयु का विनाश होते देखकर भी जो मनुष्य अपने को स्थिर-अमर मान रहा है—निरन्तर काल के गाल में चले जाने का जिसे ख़याल ही नहीं होता—वह कैसे अज्ञानी नहीं है? अवश्य ही अज्ञानी है—जड़बुद्धि है।[7]

शुभचन्द्राचार्य ने भी बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से इस शरीर की अनित्यता दिखलायी है। वे कहते हैं:

इस लोक में राजाओं के यहाँ जो घड़ी का घंटा बजता है और शब्द करता है, सो सबके क्षणिकपन को प्रगट करता है; अर्थात् जगत् को मानो पुकार पुकारकर कहता है कि हे जगत के जीवों! जो कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो, सो शीघ्र ही कर डालो, नहीं तो पछताओगे। क्योंकि यह जो घड़ी बीत गयी, वह किसी प्रकार भी पुनर्वार लौटकर

नहीं आयेगी। इसी प्रकार अगली घड़ी भी जो व्यर्थ ही खो दोगे तो वह भी गयी हुई नहीं लौटेगी।

देखो! इन जीवों का प्रवर्त्तन (बदलाव) कैसा आश्चर्यकारक है कि शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है और आशा नहीं छीजती है; किन्तु बढ़ती जाती है। तथा आयुर्बल तो घटता जाता है और पापकार्यों में बुद्धि बढ़ती जाती है। मोह तो नित्य स्फुरायमान् होता है और यह प्राणी अपने हित व कल्याण मार्ग में नहीं लगता है। सो यह कैसा अज्ञान का माहात्म्य है?

जिस प्रकार नदी की जो लहरें जाती हैं, वे फिर लौटकर कभी नहीं आती हैं; इसी प्रकार जीवों की जो विभूति (महिमा या महत्ता) पहले होती है, वह नष्ट होने के पश्चात् फिर लौटकर नहीं आती। यह प्राणी वृथा ही हर्ष-विषाद करता है।

नदी की लहरें कदाचित् कहीं लौट भी आती हों, परन्तु मनुष्यों का गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सौन्दर्य फिर नहीं आता। यह प्राणी वृथा ही उनकी आशा लगाये रहता है।

जीवों का आयुर्बल तो अञ्जलि के जल समान क्षण-क्षण में निरन्तर झरता है और यौवन कमलिनी के पत्र पर पड़े हुए जलबिंदु के समान तत्काल ढलक जाता है। यह प्राणी वृथा ही स्थिरता की इच्छा रखता है।[8]

इससे यह स्पष्ट है कि संसार और शरीर ऊपर से जैसे लगते हैं, वास्तव में वैसे नहीं हैं। जो नित्य और सुखद मालूम पड़ते हैं, वे वास्तव में अनित्य और दुःखद हैं। इस संसार में सर्वत्र द्वैतभाव या विरोधीभाव पाया जाता है। जन्म के साथ मृत्यु, संयोग के साथ वियोग, संपदा के साथ विपदा और सफलता के साथ विफलता लगी हुई है। इसलिए हमें संसार और शरीर के यथार्थ स्वभाव का बार-बार चिन्तन करते हुए कभी भी इनमें आसक्त नहीं होना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन या भावना से ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि होती है और साधक को आत्म-स्वरूप को पहचानने और मोक्ष की प्राप्ति करने में सहायता मिलती है।

2. अशरण भावना

जीव को इस संसार में कहीं भी शरण नहीं है; उसे कोई भी शरण देनेवाला या बचानेवाला नहीं है। अपने भ्रमवश यह कुछ लोगों को आत्मीय या अपना समझता है और उनसे अपनी रक्षा की आशा रखता है। पर जब उसे अपने कर्मों का भुगतान करते हुए दु:ख भोगना पड़ता है, तब कोई भी उसके दु:ख को बाँट नहीं सकता। जब मृत्यु का समय आता है, तब स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु आदि आत्मीयजन तथा अंगरक्षक, सेना आदि सभी देखते ही रह जाते हैं। कोई भी उसे बचा नहीं सकता। इस सचाई का बार-बार चिन्तन करना ही अशरण भावना है।

इसे भली-भाँति समझकर मनुष्य को केवल धर्म की शरण लेनी चाहिए और आत्मतत्त्व की पहचान कर संसार के अनित्य वस्तुओं से सदा के लिए छुटकारा पा लेने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रयत्न में पंचपरमेष्टी (अरहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधु), अर्थात् सच्चे धर्मगुरु उसके सहायक बन सकते हैं।

ये बातें अनेक जैन ग्रन्थों में बतायी गयी हैं। उदाहरण के लिए, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अशरण भावना को इस प्रकार समझाया गया है:

> जैसे निर्जन वन में सिंह से पकड़े हुए हरिण के बच्चे को कोई भी शरण नहीं है अथवा कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है, उसी प्रकार इस संसाररूपी गहन वन में मृत्यु से पकड़े हुए जीव को कोई शरण नहीं है।[9]

इस प्रकार कोई भी सांसारिक व्यक्ति या वस्तु जीव की रक्षा नहीं कर सकता। केवल जीव का धर्माचरण ही जीव की रक्षा कर सकता है। इसलिए जीव को अपनी रक्षा के लिए क्षमा, मार्दव (कोमलता), शौच (पवित्रता), सत्य, संयम आदि दशलक्षणरूप धर्म का आचरण करना चाहिए। *जिन-वाणी* में स्पष्ट कहा गया है:

> जो आपको क्षमादि दशलक्षणरूप (धर्म) भाव से परिणत (परिवर्तित) करे वही अपना आप शरण है।[10]

अपने कर्मों के अनुसार जीव अनेक योनियों में जन्म लेता है और प्रत्येक योनि में वह गर्भावस्था से ही मृत्यु की ओर बढ़ता जाता है। मृत्यु की घड़ी आ जाने पर उसे कोई भी बचा नहीं सकता। वास्तव में इस संसार में जीव का कोई शरण है ही नहीं। केवल धर्माचरण करनेवाली आत्मा स्वयं और उसे धर्म की शिक्षा-दीक्षा देनेवाले धर्मगुरु—ये ही जीव के शरण हैं। इसे स्पष्ट करते हुए शुभचन्द्राचार्य कहते हैं:

> हे मूढ प्राणी! आयुनामा कर्म जीवों को गर्भावस्था ही से निरन्तर प्रतिक्षण अपने प्रयाणों से (मंज़िलों से) यम मंदिर की तरफ ले जाता है सो उसे देख!
>
> जब मृत्यु (काल) आती है, तब इस जीव को कोई भी नहीं बचा सकता है।
>
> कोई ऐसा समझता होगा कि मृत्यु से बचानेवाला कोई तो इस जगत में अवश्य होगा, परन्तु ऐसा समझना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि काल से—मृत्यु से—रक्षा करनेवाला न तो कोई हुआ और न कभी कोई होगा।
>
> यदि निश्चय दृष्टि से विचारा जाये, तो अपनी आत्मा ही का शरण है और व्यवहार दृष्टि से विचार किया जाय तो परंपराय (गुरु शिष्य की परम्परा से चले आते हुए) सुख के कारण वीतरागता को प्राप्त हुए पंचपरमेष्ठि का ही शरण है; क्योंकि ये वीतरागता के एकमात्र कारण हैं, अतएव अन्य का शरण छोड़कर उक्त दो ही शरण को विचारना चाहिए—(आत्मा जो धर्माचरण करती है और सतगुरु जो उसे धर्म का ज्ञान देते हैं)।[11]

3. संसार भावना

जीव अपने अज्ञानवश जो कर्म करता है उसके अनुसार उसे अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है। भले-बुरे कर्मों में उलझे जीव का जन्म-मरण का सिलसिला सदा चलता रहता है। इसे ही संसार कहते हैं। अपने कर्मों के कारण ही जीव कभी ऊँची और कभी नीची योनि में जन्म लेता है। संसार के इस चक्र

से बचने के लिए जीव को संसार के इस स्वरूप का बार-बार चिन्तन करते हुए उसके प्रति मोह या आसक्ति का त्याग कर देना चाहिए और आत्मतत्त्व का ध्यान कर आवागमन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। इसे समझाते हुए शुभचन्द्राचार्य कहते हैं:

> ये जीव अपने-अपने कर्मरूपी बेड़ियों से बँधे स्थावर (अचर) और त्रस (चर) शरीरों में संचार करते हुए मरते और उपजते हैं।
>
> यह यंत्रवाहक (कर्मों के लेख को लिए हुए चलनेवाला प्राणी) संसार में अनेक रूपों को ग्रहण करता है और अनेक रूपों को छोड़ता है। जिस प्रकार नृत्य के रंगमंच पर नृत्य करनेवाला भिन्न-भिन्न स्वाँगों को धरता है, उसी प्रकार यह जीव निरन्तर भिन्न-भिन्न स्वाँग (शरीर) धारण करता रहता है।
>
> इस संसार में यह प्राणी कर्मों से बलात् वंचित हो (ठगा हुआ) राजा से तो मरकर कृमि (लट) हो जाता है और कृमि से मरकर क्रम से देवों का इन्द्र हो जाता है। इस प्रकार परस्पर ऊँची गति से नीची गति और नीची से ऊँची गति पलटती ही रहती है।
>
> इस संसार में प्राणी की माता तो मरकर पुत्री हो जाती है और बहन मरकर स्त्री हो जाती है, और फिर वही स्त्री मरकर आपकी पुत्री भी हो जाती है। इसी प्रकार पिता मरकर पुत्र हो जाता है तथा फिर वही मरकर पुत्र का पुत्र हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन होता ही रहता है।
>
> इसका संक्षेप यह है कि संसार का कारण अज्ञानभाव है। अज्ञानभाव से परद्रव्यों में मोह तथा रागद्वेष की प्रवृत्ति होती है। रागद्वेष की प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्ध का फल चारों गति में भ्रमण करना है।[12]

जिन-वाणी में भी संसार के स्वभाव को संक्षेप में बतलाकर आत्मस्वरूप का ध्यानकर संसार से मुक्त होने का उपदेश इन शब्दों में दिया गया है:

> जीव एक शरीर को छोड़ता है और दूसरा ग्रहण करता है, फिर नया ग्रहण कर पुन: उसे छोड़ अन्य ग्रहण करता है। ऐसे बहुत बार ग्रहण करता और छोड़ता है।

इस प्रकार संसार के स्वरूप को जानकर सर्व प्रकार उद्यम कर मोह को छोड़ हे भव्य (मोक्षार्थी), उस आत्म स्वभाव का ध्यान कर जिससे संसार के भ्रमण का नाश हो।[13]

4. एकत्व भावना

इस संसार में स्त्री, पुत्र, मित्र-बन्धु, धन-सम्पत्ति आदि से घिरे होने और उनके प्रति ममत्व-भाव रखने के कारण यह जीव अपने एकत्व-भाव को भुला देता है। कुटुम्ब-परिवार को अपना समझकर उनके लिए वह जो-जो कर्म करता है उन सबका फल उसे अकेले ही भोगना पड़ता है। इस सचाई का बार-बार चिन्तन करना ही एकत्व भावना है।

इस भावना के हृदय में भली-भाँति बैठ जाने पर मनुष्य सांसारिक विषयों से अनासक्त हो जाता है और उसे सहज ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

जीव के अकेलेपन को स्पष्ट करते हुए *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में कहा गया है:

> यह जीव सदा का अकेला है। परमार्थदृष्टि से इसका मित्र कोई नहीं है। अकेला आया है, अकेला दूसरी योनि में चला जावेगा। अकेला ही बूढ़ा होता है, अकेला ही जवान होता है और अकेला ही बालक होकर क्रीड़ा करता फिरता है। अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही दु:खी होता है, अकेला ही पाप कमाता है और अकेला ही उसके फल को भोगता है। बंधुवर्गादिक कोई भी श्मशान भूमि से आगे के साथी नहीं हैं, एक धर्म ही साथ जानेवाला है।[14]

जिन-वाणी में भी जीव का अकेलापन दिखलाते हुए ऐसे ही भाव प्रकट किये गये हैं:

> जीव अकेला उत्पन्न होता है, अकेला ही गर्भ में देह को ग्रहण करता है, अकेला ही बालक व जवान होता है और अकेला ही जरा-ग्रसित वृद्ध होता है।
>
> अकेला ही जीव रोगी होता है, शोक करता है तथा अकेला ही मानसिक दु:ख से तप्तायमान होता है। बेचारा अकेला ही मरता है और अकेला ही नरक के दु:ख भोगता है।

हे भव्य, तुम सब प्रकार से प्रयत्न करके जीव को शरीर से भिन्न और अकेला जान लो। जीव को इस प्रकार अकेला जान लेने पर समस्त परद्रव्य (आत्मा से भिन्न पदार्थ) क्षणमात्र में हेय (त्याज्य) हो जाते हैं।[15]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जीव इस संसार के वस्तुओं और व्यक्तियों के मोह में पड़कर उनके लिए जो भी भला-बुरा कर्म करता है, उसका फल उसे अकेले ही भोगना पड़ता है। यदि जीव एकत्व भावना का चिन्तन कर इन विषयों के प्रति अपने मोह या आसक्ति का त्याग कर दे तो वह सहज ही मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसे समझाते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

यह जीव पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक के निमित्त जो कुछ बुरे-भले कार्य करता है उनका फल भी नरकादिक गतियों में स्वयम् अकेला ही भोगता है। वहाँ भी कोई पुत्र-मित्रादि कर्मफल भोगने को साथी नहीं होते।

यह प्राणी बुरे-भले कार्य करके जो धनोपार्जन करता है, उस धन के भोगने को तो पुत्रमित्रादि अनेक साथी हो जाते हैं, परन्तु अपने कर्मों से उपार्जन किये हुए निर्दयरूप दु:खों के समूह को सहने के अर्थ (लिए) कोई भी साथी नहीं होता है। यह जीव अकेला ही सब दु:खों को भोगता है।

जिस समय यह जीव भ्रमरहित हो ऐसा चिंतवन करे कि, मैं एकता को प्राप्त हो गया हूँ, उसी समय इस जीव का संसार का सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि संसार का सम्बन्ध तो मोह से है और यदि मोह जाता रहै, तो आप एक है फिर मोक्ष क्यों न पावे?[16]

श्रावक प्रतिक्रमणसार में भी यह बतलाया गया है कि सदा एक रहनेवाली आत्मा का अनेक के प्रति ममत्व होना ही उसके बन्धन और दु:ख का मूल कारण है। इसलिए एकत्व भावना का चिन्तन आत्मा को अनेकात्मक संसार से मुक्त कराने में बहुत ही सहायक होता है। इसे समझाते हुए कुन्थुसागरजी महाराज कहते हैं:

यह आत्मा सदा अकेला ही महापाप उत्पन्न करता है और समय पाकर अकेला ही उन कर्मों के उदय से उत्पन्न होनेवाले महान् दुःखों को भोगता है। इसी प्रकार अकेला ही मोक्ष जाता है और अकेला ही अनन्तकाल तक सिद्ध अवस्था में विराजमान रहता है। हे आत्मन्! जब तक तेरी आत्मा इस प्रकार मोक्ष में पहुँचकर अपने आत्मा में लीन न हो जाये तब तक तू इस सुख देनेवाली आत्मा की एकत्वभावना का ही चिंतवन करता रह।[17]

5. अन्यत्व भावना

जड़ और मूर्तिमान् शरीर तथा सांसारिक पदार्थों से चेतन और अमूर्त आत्मा सर्वथा भिन्न है। इस भिन्नता का बार-बार चिन्तन करते रहने को ही अन्यत्व भावना कहते हैं। इस प्रकार का चिन्तन न करने के कारण जीव शरीर और सांसारिक पदार्थों को अपने से भिन्न रूप में देखते और समझते हुए भी इनके प्रति राग करता है और इनके मोह में पड़ा रहता है। इसीलिए जैन ग्रन्थों में अन्यत्व भावना को साधक के लिए आवश्यक माना गया है। *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में आत्मा को शरीर और सांसारिक पदार्थों से बिल्कुल भिन्न बताते हुए स्पष्ट कहा गया है:

यद्यपि इस शरीर से मेरा अनादि काल से सम्बन्ध है, परन्तु यह अन्य है और मैं अन्य ही हूँ। यह इन्द्रियमय है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। यह जड़ है, मैं चैतन्य हूँ। यह अनित्य है, मैं नित्य हूँ। यह आदि अन्त संयुक्त है, मैं अनादि अनन्त हूँ। सारांश—शरीर और मैं सर्वथा भिन्न हूँ। इसलिए जब अत्यन्त समीपस्थ शरीर भी अपना नहीं है, तो फिर स्त्री कुटुम्बादिक अपने किस प्रकार हो सकते हैं? ये तो प्रत्यक्ष ही दूसरे हैं।[18]

जिन-वाणी के अनुसार शरीर और बाह्य वस्तुओं को अपने से भिन्न जानते हुए भी उनमें राग करना कोरी मूर्खता है:

यह जीव सब बाह्य वस्तुओं को आत्मा से भिन्न जानता है और जानता हुआ भी उन परद्रव्यों में ही राग करता है। यह इसकी मूर्खता है।

जो कोई देह को जीवन के स्वरूप से तत्त्वत: भिन्न जानकर आत्म-स्वरूप का ही सेवन करता है उसकी अन्यत्व भावना कार्यकारी (कारगर) है।[19]

ज्ञानार्णव में भी आत्मा को शरीर और बाहरी पदार्थों से भिन्न बतलाते हुए आत्मभाव में लीन होने का उपदेश इन शब्दों में दिया गया है:

मूर्त चेतनारहित नाना प्रकार के स्वतन्त्र परमाणुओं से जो शरीर रचा गया है उससे और आत्मा से क्या सम्बन्ध है? विचारो! इसका विचार करने से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा प्रतिभास होगा।

जब उपर्युक्त प्रकार से देह से ही प्राणी की अत्यन्त भिन्नता है, तब बहिरंग जो कुटुंबादिक हैं उनसे एकता कैसे हो सकती है? क्योंकि ये तो प्रत्यक्ष में भिन्न दीख पड़ते हैं।

यह आत्मा अनादिकाल से पर पदार्थों को अपना मानकर उनमें रमती है इसी कारण से संसार में भ्रमण किया करती है। आचार्य महाराज ने ऐसे ही जीव को उपदेश किया है कि, तू पर भावों से भिन्न अपने चैतन्यभाव में लीन होकर मुक्ति को प्राप्त हो। इस प्रकार यह अन्यत्वभावना का उपदेश है।[20]

इस प्रकार आत्मा को शरीर और सांसारिक वस्तुओं से बिल्कुल भिन्न समझते हुए आत्मलीनता की प्राप्ति के प्रयत्न में लगना चाहिए।

6. *अशुचि भावना*

आत्मा अपने-आप में निर्मल और पवित्र है। पर कर्मों के कारण मिले अपवित्र शरीर में राग करने और उसमें ममत्व का भाव रखने से जीव में विकार उत्पन्न हो जाते हैं और उसे संसार के बन्धन में पड़कर दु:ख उठाना पड़ता है। ऐसा अपवित्र शरीर प्रीति करने के योग्य नहीं है। इसकी अपवित्रता का बार-बार चिन्तन करना ही अशुचि भावना है। जीव को अपने और पराये—सभी शरीर के प्रति अशुचि या अपवित्रता की भावना रखकर अपने को अपनी आत्मा में, जो परम पवित्र है, लीन कर देना चाहिए। इस प्रकार जीव को सदा के लिए शरीर से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

जिन-वाणी में शरीर को 'मल-मूत्र का घर' कहते हुए इसकी अपवित्रता इन शब्दों में बतायी गयी है:

हे भव्य, तू इस देह को अपवित्र जान। यह देह समस्त कुत्सित वस्तुओं का पिण्ड है, कृमि-समूहों से भरा हुआ है, अपूर्व दुर्गन्धमय है तथा मल-मूत्र का घर है।[21]

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है:

शरीर इतना निंद्य पदार्थ है कि यदि इसके ऊपर त्वचाजाल नहीं होता, तो इसकी ओर देखना भी कठिन हो जाता।[22]

ज्ञानार्णव में भी शरीर को अत्यन्त अपवित्र और दु:ख का घर बतलाकर इससे छुटकारा पाने का उपदेश दिया गया है। मनुष्य-शरीर प्राप्त करने का सुन्दर फल उसी को मिलता है जो शरीर से अनासक्त हो कल्याण मार्ग पर चलते हुए शरीर से छुटकारा पा लेता है। इसे समझाते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

यह मनुष्य का शरीर नव द्वारों से निरन्तर दुर्गन्धरूप पदार्थों से झरता रहता है, तथा क्षणध्वंशी पराधीन है और नित्य अन्नपानी की सहायता चाहता है।

इस शरीर में जो जो पदार्थ हैं, सुबुद्धि से विचार करने पर वे सब घृणा के स्थान तथा दुर्गन्धमय विष्टा के घर ही प्रतीत होते हैं। इस शरीर में कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है।

यदि यह शरीर बाहर के चमड़े से ढका हुआ नहीं होता, तो मक्खी, कृमि तथा कौओं से इसकी रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं होता।

इस शरीर के प्राप्त होने का फल उन्हींने लिया, जिन्होंने संसार-से विरक्त (उदासीन या अनासक्त) होकर इसे अपने कल्याणमार्ग में पुण्यकर्मों से क्षीण किया।

इस जगत में संसार से (जन्ममरण से) उत्पन्न जो जो दु:ख जीवों को सहने पड़ते हैं, वे सब इस शरीर के ग्रहण से ही सहने पड़ते हैं। इस शरीर से निवृत्त (मुक्त) होने पर फिर कोई भी दु:ख नहीं है।[23]

मनुष्य-शरीर पाकर शरीर से सदा के लिए छुटकारा पा लेने में ही आत्म-कल्याण है।

7. आस्रव भावना

काय, वचन और मन द्वारा जीव जो शुभ (प्रशस्त) और अशुभ (अप्रशस्त) कर्म करता है उसके अनुसार ही उसमें पुण्य और पाप के विकार प्रवेश करते हैं। जैसे, अहिंसा, सत्य आदि शुभ कर्मों से पुण्य और हिंसा, असत्य आदि अशुभ कर्मों से पाप के विकार जीव में प्रवेश करते हैं। इन शुभ और अशुभ कर्मों से उत्पन्न विकारों का जीव में प्रवेश करना ही आस्रव कहलाता है। पुण्य और पाप—दोनों का आस्रव जीव के लिए बन्धनकारी है। ऐसे बन्धनकारी आस्रव के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना ही आस्रव भावना है। इस प्रकार का चिन्तन जीव को पुण्य और पाप से ऊपर उठकर अनासक्त होने और आत्मस्वरूप के ध्यान में लगने के लिए प्रेरित करता है। आत्मस्वरूप के ध्यान से पाप-पुण्य का प्रवाह या आस्रव रुक जाता है, जो कर्मों से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है।

आस्रव के सम्बन्ध में बतलाते हुए *जिन-वाणी* में कहा गया है:

> कर्म पुण्य तथा पाप रूप से दो प्रकार का होता है। उसके कारण भी दो प्रकार के हैं—प्रशस्त (शुभ) और इतर अर्थात् अप्रशस्त (अशुभ)। मन्द कषाय (अल्प विकार) रूप परिणाम (परिवर्तन) प्रशस्त और तीव्र कषायरूप परिणाम अप्रशस्त कर्मास्रव के कारण हैं।[24]

शुभचन्द्राचार्य ने शुभ और अशुभ कर्मों के आस्रव को इन शब्दों में स्पष्ट किया है:

> जैसे समुद्र में प्राप्त हुआ जहाज छिद्रों से जल को ग्रहण करता है, उस ही प्रकार जीव शुभाशुभयोगरूप छिद्रों से (मनवचनकाय से) शुभाशुभकर्मों को ग्रहण करता है।[25]

संक्षेप में, बन्धनकारी कर्मों का जीव में प्रवेश करना ही आस्रव है। इस बात का बार-बार चिन्तन करना और इस बात को भली-भाँति चित्त में बिठा

लेना ही आस्रव भावना है। यह भावना जीव को बन्धनकारी कर्मों से बचे रहने के लिए सजग करती है।

8. संवर भावना

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के अनुसार कर्मों के आस्रव (बहाव) का निरोध करना (रोकना) ही संवर है—"आस्रव निरोधः संवरः।"[26]

हम जो भी शुभ या अशुभ कर्म करते हैं, वे पहले हमारे चित्त में शुभ या अशुभ भाव के रूप में उठते हैं। तब हम काय, वचन और मन द्वारा उन भावों को कार्यरूप देते हैं। इसके अनुसार संवर के दो भेद किये जाते हैं: (i) भावसंवर और (ii) द्रव्यसंवर। जीव के वे भाव जो कर्मों के आस्रव को रोकनेवाले होते हैं उन्हें भावसंवर कहते हैं और उन भावों के अनुसार नये कर्मों का आत्मा में प्रवेश रुक जाना द्रव्यसंवर कहलाता है। जैन धर्म में कर्मों के आस्रव को रोकने के लिए बहुत से उपाय बताये गये हैं, जैसे राग-द्वेष को दूर करने के लिए सत्पुरुषों या महात्माओं की जीवनचर्या का स्मरण करना, दूसरों को पीड़ा न पहुँचाने के उद्देश्य से सावधानी से चलना-फिरना, संयमपूर्वक रहना आदि।

इस प्रकार नये बन्धनकारी कर्मों का अपने अन्दर प्रवेश न होने देने के लिए अन्दर और बाहर से पूर्ण सतर्क और सचेष्ट बने रहना ही संवर भावना का वास्तविक लक्ष्य है। इसे *ज्ञानार्णव* में इस प्रकार समझाया गया है:

> समस्त आस्रवों के निरोध को संवर कहा है। वह द्रव्यसंवर तथा भावसंवर के भेद से दो प्रकार का है।
>
> जिस प्रकार युद्ध के संकट में भले प्रकार से सजा हुआ वीरपुरुष बाणों से नहीं भिदता है, उसी प्रकार संसार की कारणरूप क्रियाओं से विरतिरूप संवरवाला संयमीमुनि भी असंयमरूप बाणों से नहीं भिदता है। जिस कारण से आस्रव हो, उसके प्रतिपक्षी (विरोधी) भावों से उसे रोकना चाहिए।
>
> क्रोधकषाय का तो क्षमा शत्रु है, तथा मानकषाय का मृदुभाव (कोमलभाव), मायाकषाय का ऋजुभाव (सरलभाव) और लोभकषाय

का परिग्रह त्यागभाव; इस प्रकार अनुक्रम से (क्रमानुसार) शत्रु जानने चाहिए।

जो योगी ध्यानी मुनि हैं, वे निरन्तर समभावों से अथवा निर्ममत्व से रागद्वेष का निराकरण (परास्त) करते रहते हैं, तथा सम्यग्दर्शन के योग से मिथ्यात्वरूप भावों को नष्ट कर देते हैं।

संवर करने में तत्पर संयमी और नि:शंक मुनि असंयमरूपी विष के (जहर के) उद्गार (उफान) को संयमरूपी अमृतमयी जलों से दूर कर देते हैं।

जैसे चतुर द्वारपाल मैले तथा असभ्यजनों को घर में प्रवेश नहीं करने देता है उसी प्रकार समीचीन (शुद्ध) बुद्धि पापबुद्धि को हृदय में फटकने नहीं देती।

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि आत्मा अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूल रही है, इस कारण आस्रवरूप भावों से कर्मों को बाँधती है और जब यह अपने स्वरूप को जानकर उसमें लीन होती है, तब यह संवररूप होकर आगामी (आनेवाले) कर्मबन्ध को रोकती है।[27]

इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग न रखने या उनसे अनासक्त रहने से आत्मा में किसी भी नये कर्म का प्रवेश नहीं होता। संवर का यही वास्तविक अर्थ है। नये कर्मों से आत्मा को बचाने या ढके रखने के लिए संवर मानो एक कवच है। इसी भाव को *जिन-वाणी* में इस प्रकार व्यक्त किया गया है:

जो मुनि इन्द्रियों के विषय से विरक्त होकर मनोहर इन्द्रिय विषयों से आत्मा को सदैव संवृत (ढका हुआ अर्थात् सुरक्षित) रखते हैं उसके स्पष्ट संवर भावना है।[28]

9. निर्जरा भावना

निर्जरा का अर्थ है कर्मों का जल जाना या झड़ जाना। कर्म ही संसार के बीज हैं। जैसा कि हमने अभी देखा है, संवर द्वारा नये कर्म आत्मा में प्रवेश नहीं कर पाते। निर्जरा द्वारा आत्मा के समस्त संचित कर्म जल जाते हैं। इस प्रकार संवर

और निर्जरा द्वारा सभी कर्मों से छुटकारा पाकर आत्मा सदा के लिए मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेती है।

निर्जरा के दो भेद बताये गये हैं: (1) सविपाक निर्जरा अर्थात् आत्मा में संचित कर्मों का अपना फल देकर स्वयं जल जाना या झड़ जाना, और (2) अविपाक निर्जरा अर्थात् संचित कर्मों को पारमार्थिक साधना द्वारा जलाकर नष्ट कर देना।

इन दोनों भेदों को स्पष्ट करते हुए *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में कहा गया है:

> यह (निर्जरा) दो प्रकार की होती है; एक सविपाक निर्जरा, दूसरी अविपाक निर्जरा। पूर्वसंचित कर्मों की स्थिति पूर्ण होकर उनके रस (फल) देकर स्वयं झड़ जाने को सविपाक निर्जरा कहते हैं, और तपश्चर्या परीषहविजयादि (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि को स्थिरभाव से सहन करने में सफलता) के द्वारा कर्मों की स्थिति पूरी किये बिना ही झड़ जाने को अविपाक निर्जरा कहते हैं। आम्रफल का वृक्ष में लगे हुए काल पाकर स्वयं पक जाना सविपाक निर्जरा का और पदार्थ विशेष में दबाकर गर्मी के द्वारा पकाया जाना अविपाक निर्जरा का उदाहरण है। सविपाक निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवों के होती है, परन्तु अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टी सत्पुरुषों तथा व्रतधारियों के ही होती है। निर्जरा स्वरूप का इस प्रकार चिंतवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।[29]

ज्ञानार्णव में निर्जरा भावना के इन दोनों भेदों को इन शब्दों में समझाया गया है:

> यह निर्जरा जीवों को सकाम और अकाम दो प्रकार की होती है। इनमें से पहिली सकाम निर्जरा (अविपाक निर्जरा) तो मुनियों को होती है और अकामनिर्जरा (सविपाक निर्जरा) समस्त जीवों को होती है।
>
> यद्यपि कर्म अनादिकाल से जीव के साथ लगे हुए हैं, तथापि वे ध्यानरूपी अग्नि से स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं। उनके क्षय होने से जैसे अग्नि के ताप से सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी कर्मनष्ट होकर शुद्ध (मुक्त) हो जाता है।[30]

स्थिरभाव से अपने अन्तर में आत्मस्वरूप का ध्यान करने से ही उत्तम निर्जरा होती है। *जिन-वाणी* में स्पष्ट कहा गया है:

> जो मुनि समताभावरूप सुख में लीन होकर आत्मा का स्मरण करता है तथा इन्द्रियों और कषायों को जीत लेता है उसके उत्कृष्ट (उत्तम) निर्जरा होती है।[31]

इस प्रकार संवर द्वारा नये कर्मों का प्रवाह रुक जाने और निर्जरा द्वारा सभी संचित कर्मों के नष्ट हो जाने से जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

10. लोक भावना

जहाँ जीव और अजीव (अचेतन) पदार्थों का निवास है उसे लोक कहते हैं। इस लोक में आत्मा को छोड़ अन्य सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं। वे सभी समय की सीमा में हैं और किसी विशेष समय पर उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। एकमात्र आत्मा ही नित्य पदार्थ है जो सभी सांसारिक पदार्थों से बिल्कुल भिन्न है। इसे भली-भाँति समझते हुए साधक को सभी सांसारिक पदार्थों के प्रति ममता या अपनेपन का त्याग कर देना चाहिए।

इस प्रकार लोक के यथार्थ स्वरूप का बार-बार स्मरण और चिन्तन करना ही लोकभावना है। यह भावना आत्मस्वरूप का ध्यान करने में बहुत ही सहायक होती है।

ज्ञानार्णव में लोकभावना को इस प्रकार समझाया गया है:

> जितने आकाश में जीवादिक चेतन अचेतन पदार्थ ज्ञानीपुरुषों ने देखे हैं, सो तो लोक है। उसके बाह्य जो केवल मात्र आकाश है, उसे अलोक व अलोकाकाश कहते हैं।
>
> इस लोक में ये सब प्राणी नाना गतियों में संस्थित (रहते हुए) अपने अपने कर्मरूपी फाँसी के वशीभूत होकर मरते तथा उपजते रहते हैं।
>
> इस भावना का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि यह लोक जीवादिकद्रव्यों की रचना है। जो (समस्तद्रव्य) अपने अपने स्वभाव

को लिए हुए भिन्न-भिन्न तिष्ठते (विराजमान) हैं उनमें आप एक आत्मद्रव्य है। उसका स्वरूप यथार्थ जानकर, अन्य पदार्थों से ममता छोड़के, आत्मभावन (आत्मचिन्तन) करना ही परमार्थ है। व्यवहार से समस्तद्रव्यों का यथार्थस्वरूप जानना चाहिए, जिससे मिथ्या-श्रद्धान दूर हो जाता है, इस प्रकार लोकभावना का चिंतवन करना चाहिए।[32]

इन कथनों से स्पष्ट है कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाली सांसारिक वस्तुओं को आत्मा से भिन्न समझते हुए उनके प्रति मोह और ममता का त्यागकर समभाव से आन्तरिक ध्यान कर आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त करना चाहिए। यही लोक भावना का उद्देश्य है।

11. बोधिदुर्लभ भावना

संसार के असंख्य जीवों में मनुष्य को सबसे श्रेष्ठ माना गया है। अनेक योनियों में भटकने के बाद अत्यन्त कठिनाई से मनुष्य का जन्म प्राप्त होता है। इस जन्म में भी पाँचों इन्द्रियों और सुन्दर बुद्धि से युक्त होना और फिर सुसंगति और सुअवसर प्राप्त करना दुर्लभ है। ऐसे मनुष्यों में भी वे साधक अत्यन्त दुर्लभ हैं जो आलस और सुस्ती को छोड़ पूर्ण तत्परता के साथ बोधि (परम ज्ञान) की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। यह बोधि ही मोक्ष का साधन या मार्ग है। इस तथ्य का बार-बार चिन्तन करना कि बोधि ही दुर्लभ से दुर्लभ पदार्थ है और एकमात्र मनुष्य-जीवन में ही इसकी प्राप्ति हो सकती है, बोधिदुर्लभ भावना कही जाती है।

यह भावना आलस और असावधानी को त्यागने और पूर्ण तत्परता के साथ बोधि-प्राप्ति के प्रयत्न में लगे रहने की प्रेरणा देती है।

शुभचन्द्राचार्य ने बोधिदुर्लभ भावना को इस प्रकार समझाया है:

यह जो बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-स्वरूप रत्नत्रय है, संसार रूपी समुद्र में प्राप्त होना सुगम नहीं है, किन्तु अत्यन्तदुर्लभ्य है। इसको पाकर भी जो खो बैठते हैं, उनको हाथ में रक्खे हुए रत्न को बड़े समुद्र में डाल देने पर जैसे फिर मिलना कठिन है, उसी प्रकार सम्यग्रत्नत्रय का पाना दुर्लभ है।[33]

जिन-वाणी में भी इस दुर्लभ मनुष्य-जीवन में अत्यन्त दुर्लभ बोधि, अर्थात् सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र को अपनाने पर बल देते हुए कहा गया है:

> इस प्रकार इस मनुष्यगति को दुर्लभ से भी अतिदुर्लभ जानकर और उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र को भी दुर्लभ से दुर्लभ समझकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों का बड़ा आदर कीजिए।[34]

इस परम दुर्लभ बोधि या सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को ही मोक्ष का मार्ग कहा गया है जो मानव-जीवन का लक्ष्य है।

12. धर्म भावना

सर्वज्ञ देव ने जीवों के उद्धार के लिए उन्हें धर्म का उपदेश दिया है। धर्म के संरक्षण में ही जीवों के उपकार के लिए सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि नियमित रूप से अपना-अपना कार्य करते हैं। धर्म इस लोक में जीव की रक्षा करता है और परलोक में मोक्षरूपी अमृत प्रदान करता है। इसलिए अपना कल्याण चाहनेवालों को दृढ़ता से अहिंसा, सत्य आदि धर्म के सभी नियमों का पालन करना चाहिए। धर्म के स्वरूप, महिमा और फल को यथार्थ रूप से समझते हुए इसका बार-बार चिन्तन करना ही धर्म भावना है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इसे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार समझाया गया है:

> यह सर्वज्ञप्रणीत (सर्वज्ञ द्वारा रचित) जैन धर्म अहिंसालक्षणयुक्त है। सत्य, शौच, ब्रह्मचर्यादि इसके अंग हैं। इनकी अप्राप्ति से जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करता है, पाप के विपाक से दुःखी होता है, परन्तु इसकी प्राप्ति से अनेक सांसारिक सम्पदाओं का भोग करके मुक्ति-प्राप्ति से सुखी होता है। इस प्रकार चिंतवन करने को धर्मानुप्रेक्षा (धर्म भावना) कहते हैं।[35]

धर्मभावना के विषय में कुछ अधिक विस्तार के साथ बतलाते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

> धर्म, कष्ट के आने पर समस्त जगत के त्रस-स्थावर (चलने और न चलनेवाले) जीवों की रक्षा करता है और सुखरूपी अमृत के प्रवाह से समस्त जगत् को तृप्त करता है।

मेघ, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र और इन्द्र ये सम्पूर्ण पदार्थ जगत के उपकाररूप प्रवर्त्तते (संचालित होते) हैं और वे सब ही धर्मद्वारा रक्षा किये हुए प्रवर्तते हैं। धर्म के बिना ये कोई भी उपकारी नहीं होते हैं।

धर्म, परलोक में प्राणी के साथ जाता है, उसकी रक्षा करता है, नियम से उसका हित करता है तथा संसाररूपी कर्दम (कीचड़) से उसे निकालकर निर्मल मोक्षमार्ग में स्थापन करता है।

इस जगत् में धर्म के समान अन्य कोई समस्त प्रकार के अभ्युदय का साधक नहीं है। यह मनोवांछित सम्पदा का देनेवाला है। आनंदरूपी वृक्ष का कन्द (मूल) है, अर्थात् आनंद के अंकुर इससे ही उत्पन्न होते हैं तथा हितरूप पूजनीय और मोक्ष का देनेवाला भी यही है।[36]

धर्म को दश अंगोंवाला कहा जाता है। इन दश अंगों का उल्लेख *ज्ञानार्णव* में इस प्रकार किया गया है:

1. क्षमा 2. मार्दव 3. शौच 4. आर्जव 5. सत्य 6. संयम 7. ब्रह्मचर्य 8. तप 9. त्याग और 10. आकिञ्चन्य—ये दश प्रकार के धर्म हैं।[37]

इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में धर्म के स्वरूप को विस्तारपूर्वक बतलाया गया है। धर्म की भावना सदा चित्त में बनी रहनी चाहिए। तभी साधक अधर्म से बचकर दृढ़ता से धर्म के नियमों का पालन करते हुए मोक्ष-मार्ग में आगे बढ़ सकता है।

इन बारह भावनाओं के निरन्तर चिन्तन से संसार, शरीर और इन्द्रियों के भोगों से चित्त उदासीन होता है, आत्म-निर्मलता प्रकट होती है और वैराग्य-भाव की वृद्धि होती है।

ज्ञानार्णव में इन भावनाओं के अभ्यास का फल बताते हुए कहा गया है:

इन द्वादश भावनाओं के निरन्तर अभ्यास करने से पुरुषों के हृदय में (क्रोध, मान, माया आदि) कषायरूप अग्नि बुझ जाती है तथा परद्रव्यों के प्रति राग भाव गल जाता है और अज्ञानरूप अंधकार का विलय (नाश) होकर ज्ञानरूप दीपक का प्रकाश होता है।[38]

जबतक जीव की संसार के प्रति आसक्ति रहती है तबतक उसका अन्तर में ध्यान लगना कठिन है और ध्यान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। बारह भावनाओं के चिन्तन से ध्यान में रुचि होती है और ध्यान द्वारा केवल ज्ञान (सर्वज्ञता) के प्रकट होने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

भगवती आराधना, मूल में स्पष्ट कहा गया है:

> धर्मध्यान में जो प्रवृत्ति करता है उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा (बारह भावनाएँ) आधार रूप हैं।[39]

इसीलिए *जिन-वाणी* में बारह भावनाओं का उल्लेख कर यह निश्चित उपदेश दिया गया है:

> इनको (बारह भावनाओं को) समझकर नित्य प्रति मन, वचन और काय की शुद्धि सहित इनकी भावना कीजिए।[40]

ध्यान को स्थिर बनानेवाली भावनाएँ

परमार्थ की साधना में लगे साधक के लिए अपने ध्यान को स्थिर बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य एक संवेदनशील प्राणी है। वह जिस वातावरण में और जिन लोगों के बीच रहता है, उनसे वह किसी न किसी प्रकार से अवश्य प्रभावित होता है। संसार के सुखी, दु:खी, गुणी या पुण्यात्मा और पापी—सभी जीवों के प्रति मनुष्य के मन में स्वाभाविक रूप से विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। पर ध्यान या समाधि की साधना करनेवाले साधक के चित्त में किसी भी परिस्थिति में किसी के भी प्रति तीव्र प्रतिक्रिया के उठने से विघ्न पैदा होता है। यदि विभिन्न परिस्थितियों में पड़े जीवों के प्रति पूरी कठोरता अपना ली जाये और उनकी बिल्कुल उपेक्षा कर देने का विचार किया जाये तो ऐसा कर पाना अत्यन्त कठिन है और ऐसी कठोरता मनुष्य के लिए उचित भी नहीं है। ऐसी स्थिति में साधक विभिन्न परिस्थितियों में अपना सन्तुलन कैसे बनाये रख सकता है? अपने चित्त को सन्तुलित रखे बिना वह अपने ध्यान को स्थिर कैसे रख सकता है? ध्यान की स्थिरता के लिए

आवश्यक शान्ति, समता और मृदुता को वह कैसे प्राप्त कर सकता है? इन समस्याओं का समाधान क्या है? अर्थात् शान्त चित्त होकर ध्यान को कैसे स्थिर रखा जा सकता है? जैन धर्म में इसके लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य नामक चार भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में इन भावनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है:

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु॥[41]

अर्थात् प्राणीमात्र में मैत्री, अपने से अधिक गुणवालों में प्रमोद, क्लिश्यमान् (दु:खित या पीड़ित जीवों) में करुणा-भाव और अविनेय (धर्म में रुचि न रखनेवाले दुष्ट या उजड्ड जीवों) में माध्यस्थ्य (उदासीन) भावना करनी चाहिए।

ज्ञानार्णव में भी इन भावनाओं के चिन्तन करने का उपदेश इन शब्दों में दिया गया है:

> मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ—इन चार भावनाओं को पुराणपुरुषों ने (तीर्थंकरादिकों ने) आश्रित किया है (अर्थात् इनका सहारा लिया है), इस कारण धन्य हैं, (प्रशंसनीय हैं); सो धर्मध्यान की सिद्धि के लिए इन चारों भावनाओं को चित्त में ध्यावना चाहिए।[42]

पहली भावना—मैत्री का अर्थ है समस्त प्राणीमात्र को अपने समान समझते हुए अपने चित्त में सदा यह चाह बनाये रखना कि सभी प्राणी दु:ख से बचे रहें और सुख को प्राप्त करें।

ज्ञानार्णव में मैत्री भावना को इस प्रकार व्यक्त किया गया है:

> इस मैत्रीभावना में ऐसी भावना रहे कि—ये सब जीव कष्ट आपदाओं से वर्जित हो जीओ, तथा वैर पाप अपमान को छोड़कर सुख को प्राप्त होओ। इस प्रकार की भावना को मैत्रीभावना कहते हैं।[43]

इसी भाव को व्यक्त करते हुए *जैनधर्मामृत* में मैत्री भावना को इस प्रकार समझाया गया है:

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सन्तु सर्वे निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥
मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत् कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥

संसार के सभी प्राणी सुखी हों, सभी प्राणी रोगरहित हों, सभी जीव आनन्द से रहें और नित्य नये कल्याणों को देखें। कोई भी जीव दुःख को प्राप्त न हो, कोई भी प्राणी पापों को न करे और यह सारा संसार दुःखों से छूटे। इस प्रकार से विचार करने को मैत्रीभावना कहते हैं।[44]

दूसरी भावना को प्रमोद (मुदिता) कहा गया है। संसार में जो मनुष्य सदाचार, पारमार्थिक साधना या अन्य किसी भी गुण में अपने से बढ़कर हों उनके प्रति कभी भी ईर्ष्या और द्वेष की भावना न रखकर सदा उनके प्रति भक्ति और अनुराग का भाव रखकर अपने अन्तर में प्रसन्नता का अनुभव करना ही प्रमोद की भावना है।

इस भावना को *ज्ञानार्णव* में इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है:

जो पुरुष तप, शास्त्राध्ययन और यम नियमादिक में उद्यमयुक्त चित्तवाले हैं, तथा ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं, इन्द्रिय, मन और कषायों को जीतनेवाले हैं, तथा स्वतत्त्वाभ्यास करने में चतुर हैं, जगत को चमत्कृत करनेवाले चारित्र से जिनकी आत्मा अधिष्ठित (प्रतिष्ठित) है, ऐसे पुरुषों के गुणों में प्रमोद का (हर्ष का) होना सो मुदिता या प्रमोद भावना है।[45]

तीसरी भावना को कारुण्य (करुणा-भावना) कहते हैं। परमार्थ के साधक को कोमलचित्त होना अत्यन्त आवश्यक है। तभी वह संसार के दुःखों की तीव्रता को भली-भाँति समझ सकता है और उनसे छुटकारा पाने के उपाय में दृढ़ता से लग सकता है। ऐसे व्यक्ति को अपने समान ही दूसरों के दुःखों के प्रति भी गहरी सहानुभूति होती है और वह उन पर दया कर उनका उद्धार करना चाहता है। उसके चित्त में जीवों के प्रति करुणा का भाव और उनके उद्धार की भावना का होना ही करुणा-भावना कहलाती है। *ज्ञानार्णव* में इसे इस प्रकार समझाया गया है:

> जो जीव दीनता से तथा शोक भय रोगादिक की पीड़ा से दुःखित हों, पीड़ित हों तथा वध (घात) बंधन सहित रोके हुए हों, अथवा अपने जीवन की बांछा (इच्छा) करते हुए कि कोई हमको बचाओ ऐसे दीन प्रार्थना करनेवाले हों, तथा क्षुधा तृषा खेद (भूख, प्यास, दुःख) आदिक से पीड़ित हों, तथा शीत उष्णतादिक से पीड़ित हों तथा निर्दय पुरुषों की निर्दयता से रोके हुए (पीड़ित किये हुए) मरण के दुःख को प्राप्त हों, इस प्रकार दुःखी जीवों को देखने-सुनने से उनके दुःख दूर करने के उपाय करने की बुद्धि हो उसे करुणा नाम की भावना कहते हैं।[46]

चौथी भावना को माध्यस्थ्य भावना कहते हैं। जो लोग अनेक प्रकार की विषय-वासनाओं में बुरी तरह लिप्त हैं, सबके साथ सदा दुष्टता का व्यवहार करते हैं, सबको सताना या कष्ट देना ही जिनका स्वभाव है, जो अपने कल्याण की बात सुनने को भी तैयार नहीं हैं और अकारण परमात्मास्वरूप जिनेन्द्र देव, सद्गुरु और सद्ग्रन्थों की निन्दा करते हैं, उन्हें समझाने-बुझाने की चेष्टा करना पत्थर पर तीर मारने के समान ही निष्फल है। वैसी स्थिति में उन्हें समझाना या किसी प्रकार छेड़ना अपने-आपको व्यर्थ ही संकट में डालना है। उनके प्रति व्यर्थ चिन्ता करने या परेशान होने से कोई लाभ नहीं। इसलिए परमार्थ के साधक को उनके प्रति राग-द्वेष न कर तटस्थता या उदासीनता का भाव अपनाना ही उचित है। इस उदासीनता की भावना को ही माध्यस्थ्य भावना कहते हैं। *ज्ञानार्णव* में इस भावना को इस प्रकार व्यक्त किया गया है:

> जो प्राणी क्रोधी हों, निर्दय व क्रूरकर्मी हों, मांस मद्य और पर-स्त्री में लुब्ध (लम्पट) तथा आसक्त व्यसनी हों, और अत्यन्त पापी हों तथा देव-शास्त्र गुरुओं के समूह की निंदा करनेवाले और अपनी प्रशंसा करनेवाले हों तथा नास्तिक हों, ऐसे जीवों में रागद्वेषरहित मध्यस्थभाव होना सो उपेक्षा कहा है। उपेक्षा नाम उदासीनता (वीतरागता) का है, सो यही मध्यस्थभावना है।[47]

इन चारों भावनाओं को नाथूराम डोंगरीय जैन ने बड़े ही संक्षिप्त रूप में सरल और सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं:

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ-भावं विपरीत-वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव!

अर्थात् मनुष्य सोचे कि—भगवन्! संसार के सम्पूर्ण प्राणियों से मित्रता, गुणी पुरुषों को देखकर प्रसन्नता, दुःखी जीवों पर दयार्द्रता और अकारण द्वेष करनेवालों या दुष्ट जीवों पर माध्यस्थता अर्थात् न राग, न द्वेष, मेरी आत्मा निरन्तर धारण करे। प्रत्येक व्यक्ति का मनुष्यता के नाते यह परम कर्तव्य होना चाहिए कि वह जीवन की उपर्युक्त चर्या और भावनाओं को अपने जीवन में अवश्य उतारे।[48]

इन चारों भावनाओं को प्राचीन भारतीय परम्परा में प्रायः सर्वसम्मति से धार्मिक आचार-विचार का आवश्यक अंग, मार्गदर्शक और धर्म ध्यान की आधारशिला माना गया है। जैन धर्म के ही समान बौद्ध धर्म और पातञ्जल योग में भी इन चारों भावनाओं की शिक्षा दी गयी है।

पतञ्जलि के *योगसूत्र* में इन्हीं भावनाओं का उल्लेख मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के नाम से किया गया है:

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम्।[49]

अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी जीवों के प्रति क्रमशः मित्रता, करुणा (दया), प्रसन्नता और उपेक्षा की भावना करने से चित्त में निर्मलता आती है।

निश्चय ही ये भावनाएँ साधक के लिए बहुत उपयोगी हैं। क्रोध, मान, माया आदि चित्त के विकारों को हटाकर ये आत्मा को निर्मल बनातीं, अन्तर में प्रकाश उत्पन्न करतीं, संसार के प्रति मोह को दूर करतीं और ध्यान को स्थिर बनाती हैं। ध्यान या समाधि द्वारा ही तो अन्त में जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस अध्याय में वर्णित भावनाओं का समुचित अभ्यास, अभ्यासी के वैराग्य-भाव को बढ़ाने और ध्यान को स्थिर करने में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होता है।

9

अन्तर्मुखी साधना

यह कहा जा चुका है कि सभी जीवों को सुख की चाह होती है। संसारी मनुष्य सांसारिक विषयों में सुख ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं। इसलिए उनका मन इन्द्रियों के माध्यम से सदा सांसारिक विषयों की ओर दौड़ता रहता है। पर उन्हें *किसी भी सांसारिक विषय-भोग से, जो क्षणिक और भ्रामक हैं, कभी* तृप्ति नहीं होती। वे सदा दु:खी ही बने रहते हैं। आत्मा स्वयं ही सच्चे सुख का भण्डार है। इसलिए सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए बाहर दौड़नेवाले मन को बाहरी विषयों से मोड़कर अन्तर में लाने और इसे आत्मस्वरूप में लीन करने की आवश्यकता है। सभी सुख-शान्ति तथा शक्ति और ऐश्वर्य की प्राप्ति अपने अन्तर में ही होती है। बाहरी विषय मिथ्या और नश्वर हैं। यही कारण है कि संसार में अनासक्त रहनेवाले सभी सच्चे सन्त-महात्मा जीवों को बहिर्मुखी कर्म-धर्म को त्यागने और अन्तर्मुखी साधना को अपनाने का उपदेश देते हैं। सन्तों के उपदेश की इसी विशेषता की ओर ध्यान दिलाते हुए कानजी स्वामी कहते हैं:

> *अहा, वीतरागमार्गी सन्तों की कथनी ही जगत् से जुदी है, वह अन्तर्मुख ले जानेवाली है।*[1]

पूर्ण सन्तों की बात ही जगत् से निराली होती है। वे अन्तर्मुखी साधना का उपदेश देते हैं। इस अन्तर्मुखी साधना के लिए साधक को किसी सच्चे सन्त-सद्गुरु के पास जाकर उनसे अन्तर्मुखी साधना की जानकारी प्राप्त करने

की ज़रूरत होती है। अन्तर्मुखी साधना में सबसे पहले सदा बाहर भटकते रहनेवाले मन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। मन पर नियन्त्रण किये बिना अन्तर्मुखी ध्यान का अभ्यास करना सम्भव नहीं है और ध्यान के बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

> जब तक प्रमाद (लापरवाही) और इन्द्रियों के विषयों में चित्त की प्रवृत्ति रहती है, तब तक कोई ध्यान में नहीं लग सकता।[2]

> यदि तू ध्यान करना चाहता है तो प्रथम ही अपने मन को वश में कर और शान्तभाव धारण कर।[3]

मन का नियन्त्रण

मन को अपने नियन्त्रण में लाना या इसे वश में करना ही अन्तर्मुखी साधना का मूल है। जो साधक विषयों की ओर दौड़नेवाले मन को वश में कर लेता है, वह सबको अपने वश में कर लेता है। मन को वश में करने पर ही कर्मों की मैल उतरती है और चित्त में शुद्धता आती है। इसके फलस्वरूप ध्यान में निर्मलता आती है, विवेक में वृद्धि होती है और अन्त में साधक आत्मलीन हो मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है। *ज्ञानार्णव* में इन बातों को विस्तार के साथ समझाते हुए कहा गया है:

> जिसने मन का रोध किया उसने सब ही रोका, अर्थात् जिसने अपने मन को वश किया उसने सबको वश किया और जिसने अपने मन को वशीभूत नहीं किया उसका अन्य इन्द्रियादिक का रोकना भी व्यर्थ ही है।
>
> मन की शुद्धता से ही साक्षात् कलंक का विलय (नाश) होता है और जीवों को उनका समभाव स्वरूप होने पर स्वार्थ की (आत्मस्वरूप की) सिद्धि होती है, क्योंकि जब मन रागद्वेषरूप नहीं प्रवर्तता है तब ही अपने स्वरूप में लीन होता है, यही स्वार्थ की सिद्धि है।
>
> संयमी मुनियों को एक मात्र मनरूपी दैत्य का जीतना ही समस्त अर्थों की सिद्धि को देनेवाला है, क्योंकि इस मन को जीते बिना अन्य

व्रत नियम तप व शास्त्रादिक में क्लेश करना (धर्मग्रन्थों को पढ़ने और उनके पाठ करने का कष्ट करना) व्यर्थ ही है।

नि:संदेह मन की शुद्धि से ही जीवों की शुद्धता होती है, मन की शुद्धि के बिना केवल काय को क्षीण करना वृथा है।

मन की शुद्धता से उत्तरोत्तर विवेक बढ़ता है। जो पुरुष चित्त की शुद्धता को न पाकर भले प्रकार मुक्त होना चाहता है वह केवल मृगतृष्णा की नदी में जल पीता है।

भावार्थ—मृगतृष्णा में जल कहाँ से आया? उसी प्रकार चित्त की शुद्धता के बिना मुक्ति कहाँ से हो?[4]

मन को वश में करना जितना आवश्यक है, उतना ही कठिन भी है। मन अनेक रूप धारण करता है। कभी दैत्य या राक्षस के समान विकराल बनकर जीवों को कष्ट पहुँचाता है और कभी हाथी, बन्दर और सर्प के समान अपने अत्यन्त प्रबल, चंचल और ज़हरीले स्वभाव को प्रकट करता है। इसलिए इसे जीतना अत्यन्त कठिन है। दृढ़ संकल्प के साथ अडिग रूप से अपनी साधना में लगे रहनेवाले साधक ही मन को जीतने में सफल होते हैं। मन के स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए तथा इसे पूरी सावधानी और साहस के साथ वश में लाने की प्रेरणा देते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

विषय ग्रहण करने में लुब्ध (लोभी) ऐसे इस चित्तरूपी दैत्य ने (राक्षस ने) सर्व प्रकार विक्रिया (बुरा कर्म) करके विकाररूप हो अपनी इच्छानुसार इस जगत को पीड़ित किया है।

हे मुने! यह चित्तरूपी हस्ती (हाथी) ऐसा प्रबल है कि इसका पराक्रम अनिवार्य है, अर्थात् इसकी शक्ति को रोक पाना कठिन है। इसलिए जब तक यह समीचीन संयमरूपी घर को नष्ट नहीं करता, उससे पहिले-पहिले तू इसका निवारण करे। यह चित्त निरर्गल (स्वच्छन्द) रहेगा तो संयम को विगाड़ैगा।

यह चंचलचित्तरूपी बंदर विषयरूपी बन में भ्रमता रहता है। सो जिस पुरुष ने इसको रोका, वश किया, उसी के बांछित फल की सिद्धि है।

जो पद निर्मत्सर (द्वेषरहित) तपोनिष्ठ मुनियों के द्वारा भी असाध्य है वह पद चित्त के प्रसार को रोकनेवाले धीर पुरुषों के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ—केवल बाह्य तप से उत्तम पद पाना असंभव है।

जिस मुनि ने अपने चित्त को वश नहीं किया उसका तप, शास्त्राध्ययन, व्रत धारण, ज्ञान, कायक्लेश इत्यादि सब तुषखंडन (भूसी कूटने) के समान निःसार (व्यर्थ) हैं, क्योंकि मन के वशीभूत हुए बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती। इसका रोकना अतिशय कठिन है। जो योगीश्वर इसे रोकते हैं वे धन्य हैं। इस जगत् में जो साधक चित्तरूपी दुर्निवार सर्प को जीतते हैं वे योगियों के समूह में वंदनीय हैं।

पवनवेगहूतैं प्रबल, मन भरमै सब ठौर।
याको वश करि निज रमैं, ते मुनि सब शिरमौर॥[5]

मन अनेक जन्मों से राग, द्वेष और मोह के संस्कारों से जकड़ा हुआ है। ये संस्कार इतने प्रबल हैं कि तनिक भी असावधानी होने पर ये प्रयत्नशील साधकों के मन में भी विकार उत्पन्न कर देते हैं और उन्हें अपने मार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं। इसलिए साधक को सांसारिक विषयों के प्रलोभन से बचे रहने के लिए सदा पूरी तरह सावधान रहना आवश्यक है। रागादि भाव मन को अनेक प्रकार से अशान्त करते हैं। वे कभी भ्रम पैदा करते हैं, कभी डराते हैं, कभी रोग में फँसाते हैं, कभी सन्देह उत्पन्न करते हैं और कभी दुःख में उलझाकर साधक को अपनी साधना से विचलित कर देते हैं। राग, द्वेष और मोह के विकारों को अत्यन्त सावधानीपूर्वक मन से निकालने पर ही साधक अपने ध्यान को एकाग्र कर सकता है और तभी वह परमात्मा का दर्शन प्राप्त करने में सफल हो सकता है। इसलिए रागादि विकारों को दृढ़तापूर्वक दूर कर मन को जीतने और अपने अन्दर परमात्मस्वरूप का दर्शन करने का उपदेश देते हुए *ज्ञानार्णव* में फिर कहा गया है:

आत्मस्वरूप के सन्मुख स्वस्थ (शान्त) किया हुआ मन भी अनादिकाल से उत्पन्न हुए व बँधे हुए रागादि शत्रुओं से जबरदस्ती पीड़ित किया

जाता है, अर्थात् अपने आधीन (वश) किया हुआ मन भी रागादिक भावों से तत्काल कलंकित (मलिन) किया जाता है, इस कारण मुनिगणों या साधकों का यह कर्तव्य है कि इस विषय में वे प्रमादरहित (आलस्यरहित) हो सबसे पहिले इन रागादिक को दूर करने का यत्न करैं। जो योगी मुनि या साधक इन्द्रियों के विषयों को दूर कर निज स्वरूप का अवलंबन करै तौ भी रागादिक भाव मन को बारंबार छलते हैं, अर्थात् विकार उत्पन्न करते हैं। ये रागादिक भाव मन को कभी तो मूढ़ करते हैं, कभी भ्रमरूप करते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी रोगों से चलायमान करते हैं, कभी शंकित करते हैं, कभी क्लेशरूप करते हैं। इत्यादि प्रकार से स्थिरता से डिगा देते हैं।

मोहरूपी कर्दम (कीचड़) के क्षीण होनेपर तथा रागादिक परिणामों के प्रशान्त होनेपर योगीगण अपने में ही परमात्मा के स्वरूप का अवलोकन करते हैं वा अनुभव करते हैं। जब तक मन में रागद्वेष रहता है तब तक परमात्मा का स्वरूप नहीं भासता, रागद्वेषमोह के नष्ट होने पर ही शुभाशुभ कर्मों को नष्ट करनेवाले परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति होती है। रागद्वेषमोह रूपी कर्दम (कीचड़) के अभाव से प्रसन्नचित्तरूपी जल में मुनि को समस्त वस्तुओं के समूह स्पष्ट स्फुरायमान होते हैं अर्थात् प्रतिभासते हैं।

जिस प्रकार कटे हुए पाँखों का पक्षी उड़ने में असमर्थ होता है तैसे मनरूप पक्षी भी रागद्वेषरूप पाँखों के कट जाने से विकल्प रूप भ्रमण से रहित हो जाता है।

यह प्राणी मोह के वश से अन्य स्वरूप पदार्थों में क्रोध करता है, द्वेष करता है, तथा राग भी करता है। इस कारण मोह ही जगत् को जीतनेवाला है। इस रागद्वेषरूप विष के बन का बीज मोह ही है ऐसा भगवान् ने कहा है। इस कारण यह मोह ही समस्त दोषों की सेना का राजा है। जो मुनि मोहरूपी पटल (परदा) को दूर करता है वह मुनि शीघ्र ही समस्त लोक को ज्ञानरूपी नेत्रों से साक्षात् – प्रत्यक्ष (प्रकट) देखता है।[6]

मन को स्थिर किये बिना विषयों से अनासक्ति नहीं होती और विषयों के मोह में पड़कर मन भक्ति से दूर हो जाता है। मन को शान्त और एकाग्र करने के लिए एकान्त में अभ्यास करना आवश्यक है। इसे एक सुन्दर उपमा द्वारा समझाते हुए *रत्नाकर शतक* में कहा गया है:

> जैसे डोरी के सहारे पतंग आकाश में चढ़ जाती है, इसी प्रकार विषयों के आधीन होकर मन भी स्वानुभूति से या सिद्ध-भगवान की भक्ति से दूर हट जाता है। वायु जिस प्रकार पतंग को आकाश में ऊँचा चढ़ा देती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म इस जीव को भक्ति से हटा देता है। मन के स्थिर हुए बिना विषयों से विरक्ति कभी नहीं हो सकती तथा विषयों में आसक्ति बनी ही रहती है, अत: मन को ध्यान के द्वारा एकाग्र करना चाहिये। मन को एकाग्र करने के लिए एकान्त में अभ्यास करना परम आवश्यक है तथा कभी भी मन को खाली नहीं रखना चाहिये।[7]

यह अभ्यास किसी सच्चे गुरु से उपदेश ग्रहण करने पर ही सफलतापूर्वक किया जा सकता है। गुरु की बतायी विधि से मन को स्थिर कर लेने पर ध्यान में स्थिरता आ जाती है। इसे स्पष्ट करते हुए *णाणसार (ज्ञान-सार)* में कहा गया है:

> शुद्ध महाव्रत पाँचों धारै, क्रोध लोभ मद मोह निवारै।
> परिषह जीत भय स्मर (काम) खोई, ऐसे गुरु उपदेशक होई॥
> सार देशना योगी पाके, निज आत्मा में निज मन लाके।
> नहिं रोकै तो मन चल होई, पवन वेगतें पत्ते ज्योंइ॥
> मन चंचल चपला की नांई, ता मनको वश करहू सांई।
> बाँधे विन जिम जल स्थिर नांही, मन वश विन ध्यान न हो स्थायी॥[8]

अर्थात् जो अहिंसा, सत्य आदि पाँचों पवित्र महाव्रतों को धारण करनेवाले और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अंहकार, भय और चिन्ता से दूर रहनेवाले हैं, वैसे ही गुरु सच्चे उपदेशक होते हैं। वैसे गुरु के सार उपदेश को ग्रहणकर अपने मन को आत्मा में लगाना चाहिए। यदि साधक अपने मन को इस प्रकार नहीं रोके

तो मन हवा के झोंकों से काँपते रहनेवाले पत्ते की तरह चंचल ही बना रहता है। हे स्वामी (गुरुदेव)! बिजली के समान चंचल इस मन को वश में करें। जिसप्रकार बाँध लगाये बिना जल स्थिर नहीं होता, उसी प्रकार मन को वश में किये बिना ध्यान भी स्थिर नहीं होता।

गणेशप्रसाद वर्णी भी बड़े ही ज़ोरदार शब्दों में मन पर विजय प्राप्त करने के लिए चिताते हैं। वे कहते हैं:

> जो मनुष्य अपने मन पर विजयी नहीं संसार में उसकी अधोगति निश्चित है। जितने पाप संसार में हैं उन सबकी उत्पत्ति का मूल कारण मानसिक विकार है। जब तक वह शमन (शान्त) न होगा सुख का अंश भी न होगा। मन की शुद्धि बिना कायशुद्धि का कोई महत्त्व नहीं। आत्मा की विजय वही कर सकता है जो अपने मन को पर से (आत्मा से भिन्न विषयों से) रोक कर स्थिर करता है। विशुद्धता ही मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है। उसके बिना हमारा जीवन किसी काम का नहीं। जिन्होंने उसको त्यागा वे संसार से पार न हुए, उन्हें यहीं पर भ्रमण करने का अवसर मिलता रहेगा।[9]

इसलिए मन को बाहरी विषयों से हटाकर इसे अपनी आत्मा में केन्द्रित करना आवश्यक है। मोक्ष की चाह रखनेवाले साधक को गुरु के उपदेशानुसार एकान्त अभ्यास द्वारा आत्मा से भिन्न विषयों से मन को हटाकर इसे आत्मलीन करने का प्रयत्न करना चाहिए। मन के शान्त होने पर ही ध्यान में एकाग्रता आती है और ध्यान के पूर्ण एकाग्र होने पर जीव परमात्मा का दर्शन प्राप्त करता है। इस प्रकार मन को वश में करनेवाला साधक मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

ध्यान की अनिवार्यता

ध्यान की सिद्धि के लिए ही मन को बाहरी विषयों से हटाने और इसे वश में करने पर ज़ोर दिया गया है। परमार्थ की प्राप्ति अन्तर्मुखी ज्ञान द्वारा होती है। यह ज्ञान ही अज्ञानजनित कर्मों का नाश कर मोक्ष की प्राप्ति कराता है। यह ज्ञान केवल ध्यान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए जैन धर्म की साधना

में ध्यान का स्थान सबसे ऊँचा है। इसकी सर्वोच्चता और अनिवार्यता दिखलाते हुए *ऋषिभासित* में कहा गया है:

> सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
> सव्वस्स साहु धम्मस्स, तहा झाणं विधीयते॥[10]

अर्थ—जैसे शरीर में सिर का और वृक्ष में मूल (जड़) का महत्त्व है वैसे ही साधु के समस्त धर्मों में ध्यान का महत्त्व है। क्योंकि ध्यान के बिना व्युत्सर्ग (शरीरादि में 'मैं-मेरा' के भाव का त्याग) नहीं होता और व्युत्सर्ग के बिना शरीर, संसार, कषाय और कर्म से मुक्ति नहीं होती है।[11]

कन्हैया लाल लोढ़ा ने भी ध्यान को सर्वोच्च और मुक्ति के लिए अनिवार्य साधन बताते हुए कहा है:

> जैन धर्म के साधना मार्ग में सर्वोच्च स्थान ध्यान का है। ...यह नियम है कि ध्यान के बिना वीतरागता व केवल ज्ञान नहीं होता है। केवल ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। अत: मुक्ति की अन्यतम साधना ध्यान ही है।[12]

ध्यान को 'मुक्ति का द्वार' बताते हुए वे फिर कहते हैं:

> अब तक जितने साधक मुक्त हुए हैं, उन सबने ध्यान-साधना अवश्य की है। ध्यान मुक्ति का द्वार है। ध्यान के बिना मुक्ति में प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है।[13]

ध्यान को संसार-समुद्र से पार जाने का एकमात्र साधन बताते हुए शुभचन्द्राचार्य भी कहते हैं:

> हे आत्मन्! तू संसार के दु:खविनाशार्थ ज्ञानरूपी सुधारस (अमृतरस) को पी और संसाररूप समुद्र के पार होने के लिए ध्यानरूपी जहाज का अवलम्बन कर।

मोक्ष कर्मों के क्षय से ही होता है। कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से होता है और वह सम्यग्ज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है, अर्थात् ध्यान से ज्ञान की एकाग्रता होती है। इस कारण ध्यान ही आत्मा का हित है। हे आत्मन्! यदि तू कष्ट से पार पाने योग्य संसार नामक महापंक (कीचड़) से निकलने की इच्छा रखता है तो ध्यान में निरन्तर धैर्य क्यों नहीं धारण करता?[14]

इसी बात की पुष्टि करते हुए *तत्त्वभावना* में भी कहा गया है:

आत्मध्यान ही परमोपकारी जहाज़ है। इसीपर चढ़के भव्य जीव संसार पार हो जाते हैं। अतएव ज्ञानी को आत्मध्यान का ही अभ्यास करना चाहिये। वास्तव में आत्मध्यान से ही आत्मा की शुद्धि होती है, आत्मध्यान से ही आनन्द की प्राप्ति होती है, आत्मध्यान से ही कर्मों की निर्जरा होती है, आत्मध्यान से ही कर्मों का संवर होता है, आत्मध्यान से ही मोक्ष होता है। इसलिए हितेच्छु को निरन्तर आत्मध्यान का अभ्यास परम निश्चिन्त होकर करना योग्य है।[15]

णाणसार (ज्ञानसार) में भी बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ध्यान का अभ्यास किये बिना आत्मा का अनुभव प्राप्त करना सम्भव नहीं है:

जैसे पाषाण (पत्थर) में से सुवर्ण (सोना), काष्ठ (काठ) में से अग्नि बिना प्रयोग (युक्ति) के नहीं दीखते तैसे ध्यान बिना आत्मा के दर्शन नहीं होते। ध्यान से ही आत्मा का शुद्ध प्रतिभास (अनुभव) होता है।[16]

ध्यान का स्वरूप

ध्यान की अनिवार्यता को समझते हुए ध्यान सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का संक्षिप्त पर सही उत्तर स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है। ध्यान के सम्बन्ध में स्वाभाविक रूप से ऐसे प्रश्न उठते हैं: जैन धर्म के अनुसार ध्यान कहते किसे हैं? ध्यान कितने प्रकार का होता है? उसकी यथार्थ जानकारी किस प्रकार प्राप्त की जाती है? ध्यान कौन कर सकता है? किस ध्यान का क्या फल है? इत्यादि। यहाँ पर इन प्रश्नों पर संक्षेप में विचार किया जायेगा।

सबसे पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि जैन धर्म में ध्यान किसे कहते हैं। जैन धर्म के *आदिपुराण* के अनुसार "तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहते हैं।"[17] या यों कहें कि "जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं।"[18]

इसी बात को *ज्ञानार्णव* में इस प्रकार कहा गया है:

> एकाग्र चिन्ता के रोधने (रोकने) को पंडित जन ध्यान कहते हैं। जो एक चिन्ता (चित्तवृत्ति) का निरोध है—एक ज्ञेय में ठहरा हुआ है वह तो ध्यान है और इससे भिन्न है सो भावना है। उसे अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी कहते हैं।[19]

इस प्रकार चित्त को एकाग्रभाव से इष्ट पदार्थ में ठहराये रखना ही ध्यान का सामान्य लक्षण है। यहाँ मुख्य बात है चित्त को एकाग्र करके टिकाना। 'अग्र' का अर्थ है मुख। जिसका एक अग्र होता है वह एकाग्र कहलाता है, जो अनेक ओर दौड़ता रहता है वह चंचल कहलाता है। चित्त को बड़े यत्न के साथ अन्य विषयों से हटाकर एक इष्ट विषय में ठहराये रखना ही चित्त को एकाग्रभाव से टिकाना है और यही ध्यान का स्वरूप है।

अपने अन्तर में चित्त को एकाग्र भाव से पूरी तरह टिकाने के लिए तन, मन और वचन—तीनों को बिल्कुल निश्चल या स्थिर रखना आवश्यक है। इन तीनों की क्रियाओं को रोकने या बन्द करने को जैन धर्म में त्रियोग का निरोध करना कहते हैं। इस त्रियोग-निरोध से ही आत्मलीनता की अवस्था प्राप्त होती है। इसे *द्रव्यसंग्रह* में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है:

> मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो।
> अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवेज्झाणं॥
>
> *अर्थ—हे ध्याता! तू न तो शरीर से कोई चेष्टा कर, न वाणी से कुछ बोल और न मन से कुछ चिन्तन कर, इस प्रकार त्रियोग का निरोध करने से तू स्थिर हो जायेगा—तेरी आत्मा आत्मरत (आत्मलीन) हो जायेगी। यही परम ध्यान है।*[20]

तन, मन और वचन को पूर्ण स्थिर करने पर ही आत्मा की अपने अन्दर में सुनने और देखने की शक्ति एकाग्र होती है और इस पूर्ण एकाग्रता के एक क्षण में जो गहरा अनुभव प्राप्त होता है उसे कल्प भर (अनेक महायुगों तक) की भी चंचल वृत्तिवाली साधना द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

ध्यान की गहरी अवस्था में ध्याता (ध्यान करनेवाला) शरीर में रहते हुए भी शरीर और संसार से असंग, अतीत या अनासक्त हो जाता है। इसे समझाते हुए कन्हैयालाल लोढ़ा कहते हैं:

> शरीर में रहते हुए शरीर से असंग होना, शरीर से अनासक्त होना, अर्थात् कायोत्सर्ग करना (शरीर से 'मैं-मेरी' की भावना को निकालना) मुक्ति की साधना है। ...मानव मात्र में शरीर व संसार से असंग, अतीत होने की क्षमता है—यही मानव भव (जन्म) की विशेषता है। सर्वसंग रहित होने का प्रयास ही ध्यान-साधना है।[21]

जब ध्यान में पूर्ण आत्मलीनता की अवस्था प्राप्त हो जाती है और आत्मा शरीरादि के प्रति मैं-मेरी की भावना को त्यागकर शरीरादि से अनासक्त हो जाती है तब इसे अपने अन्दर ही परमात्मा का दर्शन प्राप्त हो जाता है। इसे स्पष्ट करते हुए सागरमल जैन कहते हैं:

> ध्यान में आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा को जानती है। ...ध्यान ही वह विधि है, जिसके द्वारा हम सीधे अपने ही सम्मुख होते हैं, इसे ही आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। ध्यान जीव में 'जिन' का, आत्मा से परमात्मा का दर्शन कराता है।[22]

जब एकाग्रता भंग होती है तो ध्यान टूट जाता है। इसलिए ध्यान के लिए चित्त को विक्षेपरहित या बाधारहित रखना आवश्यक होता है। इसी दृष्टि से *ज्ञानार्णव* में ध्यान को इस रूप में समझाया गया है:

> योगीश्वर चित्त के आकुलतारहित (विक्षेप या बाधा से रहित) होने अर्थात् क्षोभरहित होने को ही ध्यान कहते हैं।[23]

सांसारिक विषयों के प्रति राग, द्वेष और मोह ही चित्त में आकुलता, क्षोभ या बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए ध्यान की सिद्धि के लिए इनसे ऊपर उठना आवश्यक है। यही कारण है कि *पंचास्तिकाय* में कहा गया है:

> जिसे मोह और रागद्वेष नहीं हैं तथा मन वचन कायरूप योगों (क्रियाओं) के प्रति उपेक्षा है, उसे शुभाशुभ को जलानेवाली ध्यानमय अग्नि प्रकट होती है।[24]

इसी प्रकार *अनगारधर्मामृत* में कहा गया है:

> इष्टानिष्ट बुद्धि (वस्तु के इच्छित और अनिच्छित होने के भाव) के मूल मोह का छेद (नाश) हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है। उस चित्त की स्थिरता को ध्यान कहते हैं।[25]

ध्यान-सम्बन्धी इन कथनों से स्पष्ट है कि चित्त की एकाग्रता और स्थिरता को ही ध्यान कहा जाता है। इस एकाग्रता का क्रमिक विकास होता है। प्रारम्भ में चित्त कुछ ही क्षणों के लिए एकाग्र होता है। धीरे-धीरे दृढ़तापूर्वक प्रयत्न जारी रखने पर एकाग्रता में कुछ अधिक निखार और टिकाव होने लगता है और अन्त में एकाग्रता इतनी गहरी और स्थिर हो जाती है कि यह तल्लीनता में बदल जाती है। तब ध्याता (ध्यान करनेवाला) ध्येय (ध्यान किये जानेवाले पदार्थ) में लीन हो जाता है, अर्थात् ध्याता ध्येय से एकाकार हो जाता है। इस तरह मुख्य रूप से एकाग्रता की ये तीन अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें पतञ्जलि ने अपने *योगशास्त्र* में क्रमश: धारणा, ध्यान और समाधि कहा है। पर जैन धर्म में 'ध्यान' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाता है जिसमें एकाग्रता की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर पूर्ण तल्लीनता तक की सभी अवस्थाएँ शामिल हैं। यही कारण है कि जैन धर्म में 'योग' अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध और 'समाधि' अर्थात् ध्याता और ध्येय की एकरूपता—दोनों ही शब्द 'ध्यान' शब्द के पर्यायवाची (समानार्थक) माने गये हैं, जैसा कि *आदिपुराण* में ध्यान के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए कहा गया है:

> योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धि की चञ्चलता रोकना, स्वान्त निग्रह अर्थात् मन को वश में करना, और अन्त:संलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि सब ध्यान के ही पर्यायवाचक शब्द हैं।[26]

ध्यान में गहराई आने पर ध्येय पदार्थ का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है। इस प्रकार आत्मध्यान द्वारा आत्मा के स्वरूप का अनुभव प्राप्त हो जाता है जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसीलिए आत्मध्यान ही जैन धर्म में मुक्ति का कारण माना जाता है, जैसा कि *आदिपुराण* में कहा गया है:

> जो किसी एक ही वस्तु (आत्मा) में परिणामों की स्थिर और प्रशंसनीय एकाग्रता होती है उसे ही ध्यान कहते हैं, ऐसा ध्यान ही मुक्ति का कारण होता है।[27]

ध्यान अन्तर्मुखी साधन है। इसलिए इसके लिए मन को अन्तर्मुख बनाना आवश्यक है। जबतक इन्द्रियाँ बाहरी विषयों में लगी रहती हैं तबतक न मन अन्तर्मुख हो सकता है और न एकाग्रता ही आ सकती है। इसलिए माला फेरने या अन्य बहिर्मुखी क्रियाओं में लगने को ध्यान करना नहीं कह सकते। *राजवार्तिक* में स्पष्ट कहा गया है:

> माला जपना आदि ध्यान नहीं है, क्योंकि इसमें एकाग्रता नहीं है। गिनती करने में व्यग्रता स्पष्ट ही है।[28]

ध्यान के भेद

'ध्यान' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करने के कारण जैन धर्म में इसके अनेक भेद किये गये हैं। सबसे पहले अप्रशस्त (अशुभ) ध्यान को प्रशस्त (शुभ) ध्यान से अलगकर अप्रशस्त ध्यान को त्यागने और प्रशस्त ध्यान को अपनाने के लिए कहा गया है। अप्रशस्त और प्रशस्त इन दोनों के दो-दो भेद कहे गये हैं। अप्रशस्त ध्यान के आर्त्त और रौद्र नामक दो भेद हैं और प्रशस्त ध्यान के धर्म और शुक्ल नामक दो भेद हैं। फिर इन चारों में से प्रत्येक के चार-चार भेद बताये गये हैं। इन सब पर हम यहाँ संक्षेप में विचार करेंगे।

अज्ञानी जीव राग, द्वेष और मोह के वश होकर अशुभ या खोटे चिन्तन में लगे रहते हैं। इस प्रकार के चिन्तन से उनकी विषयों की तृष्णा बढ़ती है। उनका सांसारिक विषय-सम्बन्धी यह खोटा ध्यान ही अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है। इसे स्पष्ट करते हुए ज्ञानार्णव में कहा गया है:

> जिसने वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना तथा जिसकी आत्मा रागद्वेष मोह से पीड़ित है ऐसे जीव की स्वाधीन (उपदेश के बिना मनमानी) प्रवृत्ति को अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है।[29]

अप्रशस्त ध्यान का पहला भेद आर्त्त ध्यान है। आर्त्त का अर्थ है दु:खी। दु:खी मनुष्यों द्वारा दु:ख की अवस्था में किया गया ध्यान आर्त्त ध्यान कहलाता है। इसके चार भेद हैं। पहला इष्ट वस्तु के न मिलने पर उसकी प्राप्ति के लिए, दूसरा अनिष्ट वस्तु के मिलने पर उसे हटाने के लिए, तीसरा रोग आदि होने पर उसे दूर करने के लिए और चौथा दूसरों के भोग और ऐश्वर्य को देखकर उन भोगों को भोगने के लिए किया जाता है। इन्हें क्रमश: इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, पीड़ा चिंतवन और निदान प्रत्यय (निदान बन्ध) आर्त्त ध्यान कहते हैं।

णाणसार (ज्ञानसार) में इन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है:

> अपनी प्रिय वस्तु जो धन कुटुम्बादि तिनके वियोग में उनके मिलने के लिए बारबार चिंतवन करना इष्टवियोगज आर्त्तध्यान है। अपने को दु:खदायी दरिद्रता, शत्रु आदि के संयोग में वियोग के लिए चिंतवन करना अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान है। अपने शरीर में रोग इत्यादि होने पर उनके दूर होने के लिए बारबार चिंतवन करना पीड़ा चिंतवन आर्त्तध्यान है और भावी सांसारिक सुखों के लिए चिंतवन करना निदान बंध आर्त्तध्यान है।[30]

अप्रशस्त ध्यान का दूसरा भेद रौद्र ध्यान है। रुद्र अर्थात् क्रूर व्यक्तियों का क्रूर कर्मों के सम्बन्ध में बार-बार क्रूर चिन्तन करना रौद्र ध्यान कहलाता है। इसके भी चार भेद हैं। इन्हें समझाते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

तत्त्वदर्शी पुरुषों ने क्रूर आशय (हृदय) वाले प्राणी को रुद्र कहा है। उस रुद्र प्राणी के कार्य अथवा उसके भाव को रौद्र कहते हैं। हिंसा में आनन्द मानने से, मृषा (असत्य कहने) में आनन्द मानने से, चोरी में आनन्द मानने से और विषयों की रक्षा करने में आनन्द मानने से जीवों के रौद्र ध्यान भी निरन्तर चार प्रकार के होते हैं, अर्थात् हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और संरक्षणानन्द—ये चार भेद रौद्र ध्यान के हैं।[31]

आदिपुराण में इसकी पुष्टि इन शब्दों में की गयी है:

जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है वह रुद्र, क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है। ऐसे पुरुष का जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं। यह रौद्रध्यान भी चार प्रकार का होता है। हिंसानन्द अर्थात् हिंसा में आनन्द मानना, मृषानन्द अर्थात् झूठ बोलने में आनन्द मानना, स्तेयानन्द (चौर्यानन्द) अर्थात् चोरी करने में आनन्द मानना और संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रह (संग्रह की गयी धन-सम्पत्ति) की रक्षा में ही रात-दिन लगा रहकर आनन्द मानना—ये रौद्रध्यान के चार भेद हैं।[32]

संसार में फैले अन्धविश्वास का शिकार होकर कुछ लोग मुद्रा, मंडल, यन्त्र-तन्त्र, मारन, उच्चाटन आदि अनेक प्रकार के खोटे ध्यान के प्रपञ्च में पड़कर सन्मार्ग से इतने दूर चले जाते हैं कि उन्हें फिर सन्मार्ग पर लाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। उन्हें ऐसे प्रपञ्च से बचाये रखने के लिए ही जैन धर्म में अप्रशस्त ध्यान का भेदों सहित वर्णन किया गया है और उन्हें इन सबसे बचने और कर्म-बन्धन को मिटानेवाले प्रशस्त ध्यान में लगने के लिए प्रेरित किया गया है। अप्रशस्त ध्यान से होनेवाली भारी हानि को बतलाते हुए *ज्ञानार्णव* में साधक को इनसे बचे रहने के लिए इन शब्दों में सावधान किया गया है:

खोटे ध्यान के कारण सन्मार्ग से विचलित हुए चित्त को फिर सैकड़ों वर्षों में भी कोई सन्मार्ग में लाने को समर्थ नहीं हो सकता, इस कारण खोटा ध्यान कदापि नहीं करना चाहिये।[33]

इसलिए मोक्षार्थी को आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान को त्यागकर धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को ही ग्रहण करना चाहिए।

धर्म ध्यान किसे कहते हैं और इसकी क्या आवश्यकता है? जो ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है क्या उससे हमारा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता? यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि इन्द्रियों और मन द्वारा सांसारिक पदार्थों का जो कुछ ज्ञान हमें मिलता है उससे इन पदार्थों की वास्तविकता या असलियत की जानकारी नहीं होती। इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे विषय भी हैं जो इतने सूक्ष्म, दूर और गुप्त हैं कि इन्द्रियों और मन द्वारा उनकी जानकारी सम्भव नहीं है और इन सब की वास्तविकता की जानकारी हुए बिना हम विषय-वासनाओं और सांसारिक मोह से छूट नहीं सकते। इसलिए इन पदार्थों की वास्तविकता की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। यह जानकारी केवल सही आन्तरिक ध्यान द्वारा ही हो सकती है। राग-द्वेष को त्यागकर साम्यता का अभ्यास करने के लिए जिस ध्यान को साधक ध्याता है वही सही आन्तरिक ध्यान है, क्योंकि साम्यावस्था में ही पदार्थों की यथार्थ जानकारी प्राप्त होती है। उसी ध्यान को जैन धर्म में धर्म ध्यान कहते हैं। *आदिपुराण* में इसे इन शब्दों में व्यक्त किया गया है:

> वस्तु के स्वभाव (यथार्थ स्वरूप) को धर्म कहते हैं और जिस ध्यान में वस्तु स्वभाव का चिंतवन किया जाता है उसे धर्म ध्यान कहते हैं।[34]

ज्ञानसार में धर्म ध्यान को इस प्रकार समझाया गया है:

> राग-द्वेष को त्यागकर अर्थात् साम्यभाव से जीवादि पदार्थों का, वे जैसे-जैसे अपने स्वरूप में स्थित हैं, वैसे-वैसे ध्यान या चिंतवन करना धर्म ध्यान है।[35]

धर्म ध्यान के आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय नामक चार भेद हैं।

विचय का अर्थ है विचार करना। जिन विषयों को साधारणतया नहीं जाना जा सकता उन विषयों पर सर्वज्ञ सद्गुरु या जिनेन्द्र देव के उपदेश या आज्ञा

के आधार पर ही विचार किया जा सकता है। सद्ग्रन्थों में बताये गये अनेक विषयों पर उन्हें सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करनेवाला समझकर उनका चिंतवन करना आज्ञा विचय कहलाता है। इसे समझाते हुए *आदिपुराण* में कहा गया है:

> *अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ को विषय करनेवाला जो आगम (सद्ग्रन्थ या शास्त्र) है उसे आज्ञा कहते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय से रहित केवल श्रद्धान (श्रद्धा या विश्वास) करने योग्य पदार्थ में एक आगम की ही गति होती है।*
> भावार्थ—संसार में कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जो न तो प्रत्यक्ष से जाने जा सकते हैं और न अनुमान से ही। ऐसे सूक्ष्म, अन्तरित (छिपे हुए) और दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान सिर्फ आगम (सद्ग्रन्थ) के द्वारा ही होता है। जो परम उत्कृष्ट है, सूक्ष्म है और आप्त (सर्वज्ञाता हितोपदेशक) के द्वारा कहा हुआ है ऐसे प्रवचन अर्थात् आगम को सत्यार्थ रूप मानता हुआ मुनि आगम में कहे हुए पदार्थों का ध्यान करे। इस प्रकार ध्यान करने को आज्ञाविचय नाम का धर्म ध्यान कहते हैं।[36]

आज्ञा विचय ध्यान को *ज्ञानार्णव* में इस प्रकार समझाया गया है:

> *जिस ध्यान में सर्वज्ञ की आज्ञा को अग्रसर (प्रधान) करके पदार्थों को सम्यक्-प्रकार चिंतवन करै (विचारै) सो मुनीश्वरों ने आज्ञाविचय नाम धर्मध्यान कहा है।*
>
> श्रीजिन-आज्ञा में कह्यो, वस्तुस्वरूप जु मानि।
> चित्त लगावै तासुमें, आज्ञाविचय सु जानि॥[37]

धर्म ध्यान के दूसरे भेद अपाय विचय का अर्थ है कर्मों के अपाय (नाश) के सम्बन्ध में विचार करना। जीव अज्ञानवश अपने विकारयुक्त कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के कारण जन्म-मरण के चक्र में पड़कर दुःख भोग रहा है। इसलिए इन कर्मों के नाश के उपाय के विषय में गम्भीरता

से विचार करना, बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं), क्षमा, शौच, सत्य, संयम आदि दश धर्म और धर्म के अन्य अंगों को ग्रहण कर चित्तशुद्धि करना तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को अपनाकर कर्मों को समूल नष्ट करने के लिए ध्यान करना अपाय विचय धर्म ध्यान कहलाता है। *आदिपुराण* में इसे इस प्रकार समझाया गया है:

> यह संसाररूपी समुद्र मानसिक, वाचनिक, कायिक अथवा जन्म-जरा-मरण से होने वाले, तीन प्रकार के सन्तापों से भरा हुआ है। इसमें पड़े हुए जीव निरन्तर दुःख भोगते रहते हैं। उनके दुःख का बार-बार चिंतवन करना सो अपायविचय नामका धर्मध्यान है। अथवा उन दुःखों को दूर करने की चिन्ता से उन्हें दूर करनेवाले अनेक उपायों का चिंतवन करना भी अपायविचय कहलाता है। बारह अनुप्रेक्षा तथा दश धर्म आदि का चिंतवन करना इसी अपायविचय नाम के धर्म ध्यान में शामिल समझना चाहिए।[38]

ज्ञानार्णव में अपाय विचय को इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है:

> जिस ध्यान में कर्मों का अपाय (नाश) हो, तथा जिसमें चिंतवन किया जाय कि इन कर्मों का नाश किस उपाय से होगा, उस ध्यान को बुद्धिमान पुरुषों ने अपायविचय कहा है।
>
> फिर ऐसा विचारै कि जिस प्रकार अन्य धातु (पाषाण) में मिला हुआ कंचन (सोना) अग्नि से शोधकर, शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार मैं प्रबल ध्यानरूप अग्नि द्वारा कर्मों के समूह को नष्ट करके, आत्मा को कब शुद्ध करूँगा?
>
> मोक्षमार्गमें विघ्नको, मिटै कौन विधि सोय।
> इमि चिंतै ज्ञानी जबै, विचय अपाय सु होय॥[39]

कर्मों के अनुसार फल उत्पन्न होने को ही कर्मविपाक कहते हैं। धर्म ध्यान के तीसरे भेद विपाकविचय में मोक्षार्थी कर्मों से छुटकारा पाने के उपाय में दृढ़ता से लगे रहने के लिए बार-बार ध्यान करता है।

आदिपुराण में विपाकविचय धर्मध्यान को इन शब्दों में समझाया गया है:

> शुभ और अशुभ भेदों में विभक्त हुए कर्मों के उदय से संसाररूपी आवर्त (चक्कर) की विचित्रता का चिंतवन करनेवाले मुनिके जो ध्यान होता है उसे आगम के जाननेवाले गणधरादि देव विपाकविचय नाम का धर्म ध्यान मानते हैं। ...क्योंकि कर्मों के विपाक (उदय) को जाननेवाला मुनि उन्हें नष्ट करने के लिए प्रयत्न करता है, इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनियों को मोक्ष के उपायभूत इस विपाक विचय नाम के धर्म ध्यान का अवश्य ही चिंतवन करना चाहिए।[40]

धर्म ध्यान के चौथे भेद संस्थान विचय में यह विचार किया जाता है कि जीव अपने कर्मों के अनुसार किस तरह अनेक प्रकार के द्वीपों, स्वर्गों और नरकों में सुख-दुःख भोगता है। नरकों की असह्य पीड़ा से छटपटाते जीव की उस समय कोई पुकार सुननेवाला नहीं होता। केवल धर्म ही लोक-परलोक में अपना सहायक होता है। इसलिए साधक आत्मध्यान द्वारा अपने कर्मरहित परम निर्मल आत्मतत्त्व को पहचानने का प्रयत्न करता है। संस्थानविचय धर्म ध्यान का यही उद्देश्य है।

ज्ञानार्णव में संस्थानविचय धर्मध्यान को इस प्रकार समझाया गया है:

> संस्थानविचय धर्मध्यान में लोक का स्वरूप विचारा जाता है। यह लोक ऊर्ध्व (ऊपर), मध्य, अधोभाग (नीचे के भाग) से तीन भुवनों को धारण करता है। हिंसादि पाँच पाप या सात व्यसनों के सेवन में लगे रहनेवाले जीव घोर नरकों में जाकर दुःख भोगते हैं। जो रोग असह्य हैं और जिनकी कोई चिकित्सा नहीं है, ऐसे समस्त प्रकार के रोग नरकों में रहनेवाले जीवों के शरीर के रोम-रोम में होते हैं। वे नारकी जीव उस नरक भूमि को अपूर्व (जैसा पहले कभी नहीं देखा था वैसा) भयानक देखकर किसी की शरण लेने की इच्छा से चारों तरफ देखते हैं, परन्तु वहाँ कोई सुख का कारण नहीं दीखता और न कोई शरण ही प्रतीत होता है। फिर विचारता है कि यह धर्मरूप बन्धु ही ऐसा है

> कि साथ जाता है और जहाँ जाता है वहीं रक्षा करता है। यह नियत रूप से हित ही करता है और दु:ख का नाश करके सुख देता है। ऐसे धर्मरूपी मित्र का मैंने सेवन ही नहीं किया और जिनका सेवन मैंने मित्र समझकर किया उनमें से कोई एक भी साथ नहीं आया। इसलिए इस लोक के संस्थान के चिंतवन के बाद (या इसके फलस्वरूप) ध्याता अपने शरीर के अन्दर कर्मरहित ज्योतिर्मय पुरुषस्वरूप अति निर्मल आत्मा का चिंतवन करै।[41]

धर्म ध्यान द्वारा आत्मा को शुद्ध कर ध्याता शुक्ल ध्यान में प्रवेश करता है। विकारों के दूर हो जाने से आत्मा का स्वरूप निर्मल, पवित्र और स्वच्छ (शुक्ल) हो जाता है। उस निर्मल आत्मा द्वारा किये जानेवाले ध्यान को शुक्ल ध्यान कहते हैं, जैसा कि *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

> पुरुषों के (क्रोध मान, माया, लोभ आदि) कषायरूपी मल के क्षय (नष्ट) होने से अथवा उपराम (शान्त) होने से यह शुक्लध्यान होता है। इसलिए उस ध्यान को जानने वाले आचार्यों ने उस शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार उसका 'शुक्ल' ऐसा सार्थक नाम रखा है।[42]

इसके पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चार भेद हैं। इनमें से प्रथम दो श्रुतज्ञान अर्थात् आगम या प्रामाणिक सद्ग्रन्थों का आधार लेकर किये जाते हैं, पर अन्त के दो शुक्लध्यान में कोई आलम्बन या आधार नहीं होता। वे सर्वज्ञ केवली अर्थात् केवली सन्त द्वारा स्वत: किये जाते हैं।

आगम या शास्त्र को वितर्क कहते हैं। पृथक्त्ववितर्क नामक ध्यान में वितर्क की अनेक प्रकारता (पृथक्त्व) रहती है। वितर्क की अनेकता होने के कारण विचार की भी अनेकता होती है। पर एकत्ववितर्क नामक ध्यान में वितर्क के एकरूप होने के कारण विचार नहीं उठते और ध्यान में एकता या निश्चलता आ जाती है। ध्याता का ध्यान एकभाव में स्थिर रहता है। इस ध्यान से ध्याता केवली (सर्वज्ञ) बन जाता है। केवली पुरुष द्वारा किये जानेवाले दो अन्य ध्यानों को, जैसा ऊपर कहा गया है, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति कहते हैं। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान में मन और वचन

की क्रिया तो शान्त हो चुकी होती है, पर काया की सूक्ष्म क्रिया बाक़ी रहती है। व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान में काया की यह सूक्ष्म क्रिया भी मिट जाती है और ध्याता अचल और निष्कम्प होकर अपने ध्यान में पूर्णरूप से लीन हो जाता है। *ज्ञानार्णव* में शुक्ल ध्यान के इन चारों भेदों को इस प्रकार समझाया गया है:

> इन चार ध्यानों के आदि के दो शुक्ल ध्यानों में पहला शुक्लध्यान वितर्क, विचार और पृथक्त्वसहित है। इसलिए इसका नाम पृथक्त्ववितर्कविचार है और दूसरा इससे विपर्यस्त (विपरीत) है। दूसरा शुक्लध्यान वितर्कसहित है, परन्तु विचाररहित है और एकत्व पदसे लाञ्छित अर्थात् सहित है। इसलिए इसका नाम मुनियों ने एकत्ववितर्कविचार (एकत्व वितर्क अविचार) कहा है। यह ध्यान अत्यन्त निर्मल है। तीसरे शुक्ल ध्यान का सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ऐसा सार्थक नाम है। इसमें उपयोग की (चेतना सहित होनेवाली मन और वचन की) क्रिया नहीं है। परन्तु कायकी क्रिया विद्यमान है। यह कायकी क्रिया घटते-घटते जब सूक्ष्म रह जाती है तब यह तीसरा शुक्लध्यान होता है, और इससे इसका सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति (सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति) ऐसा नाम है और आर्यपुरुषों ने चौथे ध्यान का नाम समुच्छिन्नक्रिय अर्थात् व्युपरतक्रियानिवृत्ति ऐसा कहा है। इसमें कायकी क्रिया भी मिट जाती है।[43]

सभी कर्मों का नाश ध्यान द्वारा ही होता है। *आदिपुराण* में स्पष्ट कहा गया है:

> उत्तम ध्यान से ही कर्मों का क्षय होता है। जिस प्रकार मन्त्र की शक्ति से समस्त शरीर में व्याप्त हुआ विष खींच लिया जाता है उसी प्रकार ध्यान की शक्ति से समस्त कर्मरूपी विष दूर हटा दिया जाता है।[44]

समस्त कर्मों के हट जाने से केवली पुरुष को लोक और अलोक का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। उनके ज्ञान की गहराई और गूढ़ता योगीश्वरों के लिए भी अगम्य है। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

> वे ज्ञान और दर्शन दोनों अलब्धपूर्व हैं, अर्थात् पहले कभी प्राप्त नहीं हुए थे। सो उनको पाकर, उसी समय वे केवली भगवान् समस्त लोक अलोक को यथावत् देखते और जानते हैं। उन सर्वज्ञ भगवान् का परम ऐश्वर्य, चारित्र और ज्ञान के विभव का जानना और कहना बड़े बड़े योगियों के भी अगोचर है।[45]

केवली होने के बाद और शरीर त्यागने से पहले के कुछ समय के अन्दर ही केवली पुरुष अन्तिम दो शुक्ल ध्यानों को पूर्ण करते हैं और तब वे मोक्ष धाम को प्राप्त करते हैं।

आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल नामक चारों ध्यानों का फल बताते हुए *णाणसार (ज्ञानसार)* में स्पष्ट कहा गया है:

> आर्त्तध्यान से जीव की तिर्यंच् (निम्न पशु-पक्षी की) गति होती है, रौद्रध्यान से नरकगति, धर्मध्यान से देवगति और शुक्लध्यान से मोक्ष गति की प्राप्ति होती है।[46]

गुरु-मूर्ति-ध्यान और मन्त्र-स्मरण

मनुष्य मन द्वारा संचालित इन्द्रियों के माध्यम से संसार के बाहरी विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है और उसका ज्ञान साधारणतया उन्हीं विषयों तक सीमित रहता है। इन्द्रियाँ केवल बाहर में ही काम करने की क्षमता रखती हैं। इसलिए मन और इन्द्रियों की दौड़ सदा बाहर ही लगी रहती है। केवल इस बाहरी या ऊपरी ज्ञान के आधार पर मनुष्य संसारी, अर्थात् परमार्थ की दृष्टि से अनाड़ी, बना रहता है। वह सदा सांसारिक विषय-भोगों की प्राप्ति के प्रयत्न में लगा रहता है और अपना सारा जीवन अनुचित और अनावश्यक कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों में फँसकर ही गँवा देता है। वह नहीं जानता कि उसके शरीर के अन्दर ही सच्चे ज्ञान और आनन्द का अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इन्द्रियों की बाहरी दौड़ को बन्द करने और मन को अन्तर में एकाग्र करने पर ही वह अन्तर्मुखी बन सकता है और अन्तर्मुखता से ही ध्यान की शुरूआत होती है। ध्यान के विकास द्वारा ही पूर्ण ज्ञान या सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है और पूर्ण ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस ज्ञान को प्राप्त करने का एकमात्र साधन ध्यान ही है।

इस ध्यान द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही ज्ञानीजनों ने आगम या सद्ग्रन्थों की रचना की है। इस ध्यान के सम्बन्ध में सही और समस्त जानकारी केवल वे ही दे सकते हैं जो स्वयं ध्यान का अभ्यास कर पूर्ण ज्ञानी बन चुके हों। दूसरे शब्दों में, केवल अर्हत् देव या सच्चे गुरु से ही ध्यान की पूरी जानकारी प्राप्त हो सकती है। वे ही हमारे मन, वचन और काय की शुद्धि के उपायों तथा ध्यान के सभी भेदों और उनके अभ्यास की पूरी विधि को विस्तारपूर्वक और स्पष्टता के साथ समझा सकते हैं। इसीलिए स्वामी पद्मनन्दि कहते हैं:

> योगतो हि लभते विबंधनम् योगतोपि किल मुच्यते नरः।
> योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा॥
>
> अथार्त् योग (मन, वचन और काय की क्रियाओं) को अशुद्ध रखने से कर्मों से बंध (बन्धन) होता है तथा शुद्ध योग से अवश्य यह मानव कर्मों से छूट जाता है। यद्यपि ध्यान का मार्ग कठिन है तथापि जो मोक्ष को चाहनेवाला है उसको गुरु के वचनों से इस सर्व (समस्त) ध्यान के मार्ग को समझ लेना चाहिए।[47]

णाणसार (ज्ञानसार) में भी बार-बार कहा गया है कि गुरु प्रसाद (गुरु कृपा) से ही ध्यान तथा उसके सभी भेदों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यह बताते हुए कि इस विषय का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाये *ज्ञानसार* में स्पष्ट कहा गया है:

> ज्ञानं जिनैः भणिंत, स्फुटार्थवादिभिः विगतलेपः।
> तदेव निस्संदेहं, ज्ञातव्यं गुरुप्रसादेन॥[48]

अर्थ—जिन, अर्थात् जितेन्द्रिय सन्तरूप गुरु से, जो कर्मों से निर्लिप्त हों तथा सत्य का स्पष्ट रूप से उपदेश करते हों, ज्ञान को सन्देहरहित होकर गुरुप्रसाद (गुरुकृपा) से जानना चाहिए।

ध्यान के भेदों को जानने और उनका अभ्यास करने के प्रसंग में भी गुरुप्रसाद का ही उल्लेख करते हुए इस पुस्तक में कहा गया है:

> ध्यान के इन भेदों को गुरु के प्रसाद से जानना[49] अथवा गुरु के प्रसाद से ध्यान के भेदों का अभ्यास करो[50]

वास्तव में ध्यान के अभ्यास में गुरु का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि इस विषय पर गहराई से विचार करें कि ध्यान किसका करना चाहिए, अर्थात् किसको ध्येय बनाना कल्याणकारी और फलदायक सिद्ध होता है, अथवा अर्हत् या सन्त सद्गुरु किसका ध्यान करने का उपदेश देते हैं तो यह पता चलेगा कि शुरू में अपने गुरु के देहस्वरूप का और उनके द्वारा दिये गये मन्त्र का, फिर उनके ज्योतिर्मय दिव्य स्वरूप का और अन्त में उनके रंग-रूप-आकार-रहित परमात्मस्वरूप का ध्यान करना ही साधक (ध्याता) के लिए सबसे उपयुक्त और लाभकारी कहा गया है।

ऊपर धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेदों के प्रसंग में हमने देखा है कि उनके भेदों का विश्लेषण विशेष रूप से ध्यान करनेवाले (ध्याता), ध्येय और ध्यान की अवस्था की मिली-जुली दृष्टि से किया गया है। यह विश्लेषण या व्याख्या शास्त्रीय और बौद्धिक दृष्टि से बिल्कुल उचित है। पर जब व्यावहारिक दृष्टि से इस विषय पर विचार किया जाता है कि ध्यान करनेवाले को किसका किस रूप में ध्यान करना चाहिए तब ध्यान को नीचे दिये गये चार भागों में विभक्त किया जाता है। पहले बौद्धिक दृष्टि से प्रशस्त (शुभ) ध्यान के बताये गये भेद और अभी व्यावहारिक दृष्टि से किये जानेवाले भेद परस्पर एक-दूसरे के अन्दर आ जाते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से किये गये चार प्रकार के भेदों को, जिन्हें गुरु प्रसाद (गुरुकृपा) से जाना जाता है, *णाणसार (ज्ञानसार)* में इस प्रकार बताया गया है:

पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं गुरुप्रसादेन।[51]

अर्थात् पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ—ध्यान के इन भेदों को गुरु प्रसाद से जानना चाहिए। फिर ध्यान के एक और भेद का उल्लेख करते हुए इसी पुस्तक में कहा गया है:

अन्य ग्रन्थों में रूपातीत ध्यान का भी वर्णन किया गया है।[52]

इन चारों भेदों का उल्लेख *ज्ञानार्णव* में इस प्रकार किया गया है:

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्द्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः॥

अर्थात् जो भव्य (मोक्षार्थी) रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान योगीश्वर हैं उन्होंने ध्यान को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार प्रकारका कहा है।[53]

इन चारों भेदों में से पिण्डस्थ और पदस्थ नामक प्रथम दो भेदों पर पहले विचार करें। 'पिण्ड' का अर्थ है शरीर या देह। इसलिए इस प्रसंग में पिण्डस्थ ध्यान का अर्थ अर्हत् या सन्त सद्गुर के देह स्वरूप (गुरु-मूर्ति) का ध्यान करना है। 'पद' शब्द से यहाँ मन्त्र का बोध होता है। इसलिए पदस्थ ध्यान का अर्थ है गुरु द्वारा दिये गये मन्त्र का स्मरण और ध्यान करना। इसे स्पष्ट करते हुए *जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश* में कहा गया है:

उपरोक्त चार भेदों में पिण्डस्थ ध्यान तो अर्हत भगवान् (या गुरुदेव) की शरीराकृति का विचार करता है और पदस्थ ध्यान पंचपरमेष्ठी के वाचक (बोध करानेवाले) अक्षरों व मन्त्रों का अनेक प्रकार से विचार करना है।[54]

ज्ञानसार में भी कहा गया है :

अरहंत (अर्हत् या सद्गुरु) की मूर्ति (स्वरूप) का चिंतवन करना सो पिण्डस्थ ध्यान है[55] और पंचपरमेष्ठी के नमस्कारात्मक (णमोकार) मन्त्र जो कि पंचपरमेष्ठी के वाचक हैं तिनका ध्यान करना पदस्थ ध्यान है और गुरु उपदेशित ध्यान करै।[56]

ज्ञानार्णव में भी पदस्थ ध्यान को इन शब्दों में समझाया गया है:

जिसको योगीश्वर पवित्र मंत्रों के अक्षर स्वरूप पदोंका अवलंबन करके चिंतवन करते हैं उसको योगीश्वरों ने पदस्थ ध्यान कहा है।[57]

मन के सदा बाहर दौड़ते रहने के कारण चित्तवृत्ति सदा चंचल बनी होती है। इसे एकाग्र करने और आत्मनिष्ठ बनाने के लिए शुरू में किसी अवलम्ब या आधार की ज़रूरत होती है। इसलिए इसे गुरु के स्वरूप के ध्यान और

पंचपरमेष्ठी के पाँच पवित्र नामों के स्मरण (सुमिरन या जप) का आधार देकर इसे अपने अन्तर में एकाग्र कर ध्यान करने का अभ्यास सिखाया जाता है। *जैनधर्मामृत* में इसे इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है:

> आत्म-स्वरूप का चिंतवन या ध्यान बिना किसी आधार या आदर्श के सम्भव नहीं है। अतएव (साधक) पंचपरमेष्ठी को आदर्श मान करके उनके आधार से आत्म-स्वरूप का चिंतवन करता है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचों को वीतरागतारूप परमपद में अवस्थित होने के कारण पंचपरमेष्ठी कहते हैं। वस्तुत: ये पंचपरमेष्ठी क्या हैं ? आत्मा की क्रमसे विकसित अवस्थाओं के नाममात्र हैं। ...इस प्रकार साधकको आत्म-चिन्तन के लिए पंचपरमेष्ठी की उपासना करने का विशेषरूप से विधान किया गया है।
>
> सम्यग्दृष्टि जीव जिन पंचपरमेष्ठियों का सदा स्मरण (सुमिरन) करता है, उनके नाम का जप और ध्यान करता है और जिनके आधार या आश्रयसे आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करना चाहता है, उनके नाम का नमस्कारात्मक मन्त्र अनादि मूलमन्त्र है।[58]

शिष्य जिस गुरु को पहले अपनी बाहरी आँखों (चर्मचक्षुओं) से देखता है, उन्हें ही वह उनके बताये पंचपरमेष्ठियों के नमस्कारात्मक मन्त्र-स्मरण (सुमिरन) के अभ्यास द्वारा आन्तरिक आँख (ज्ञानचक्षु) से देखने में समर्थ हो जाता है। *रत्नाकर शतक* में इस अत्यन्त उपयोगी मन्त्र के स्मरण और ध्यान की विधि को इस प्रकार समझाया गया है:

> जिस प्रकार जौहरी मोती की केवल पाँच लड़ियों को देखकर समूचे मोती-समूह की परीक्षा कर लेता है उसी प्रकार पाँच मन्त्र से संबंध रखनेवाले अक्षर समूह को श्रेष्ठ मुनि ललाटमें ध्यान करके पहले चर्मचक्षुओं से देखकर पुन: ज्ञान-चक्षु से देखते हैं। उस समय उनको अपने स्वरूप का दर्शन होता है।

णमोकार मन्त्र के ध्यान करने की यह विधि सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है। इस विधि से मन स्थिर हो जाता है। व्यवहार में कार्य करनेवाली विधि यही है कि एकान्त स्थान में बैठ कर ललाट के मध्य में—भौहों के बीच इसका चिन्तन करे। इस मन्त्र के ध्यान से सभी प्रकार से सुख मिलते हैं।[59]

इस मन्त्र का जप तीन प्रकार से किया जाता है:

वाचक: इस जप में शब्दों का उच्चारण किया जाता है अर्थात् मन्त्र को मुँह से बोल-बोलकर जप किया जाता है।

उपांशु: इस जप में अन्दर से शब्दों के उच्चारण की क्रिया होती है। गले में मन्त्र के शब्द गूँजते रहते हैं पर मुख से नहीं निकल पाते।

मानस: इस जप में शब्दों का बाहरी और भीतरी उच्चारण का प्रयास रुक जाता है, मन में मन्त्र का जप होता रहता है। यही क्रिया ध्यान का रूप धारण करती है।

जैन धर्म के अनुसार यह मानस जप ही सर्वोत्तम विधि है जो सर्वाधिक प्रभावशाली और फलदायक सिद्ध होती है।

जैसा कि ऊपर *जैनधर्मामृत* से दिये गये उद्धरण में बताया गया है, पंचपरमेष्ठी के पाँच नाम क्रम से विकसित हुई पाँच पारमार्थिक अवस्थाओं को सूचित करनेवाले इष्टों के नाम हैं। आन्तरिक ज्ञान का पूर्ण विकास क्रमश: पाँचों परदों के दूर हो जाने पर ही होता है। पंचपरमेष्ठियों के नाम का जप या सुमिरन आन्तरिक ज्ञान के पाँच परदों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। इस सत्य को *अनुभव प्रकाश* में दीपक पर पड़े हुए परदों के उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया गया है :

जैसे दीपक के ऊपर पाँच परदे पड़े हैं। जब एक परदा दूर होता है तो हल्का सा धुँधला प्रकाश होता है। दूसरा परदा दूर होने पर प्रकाश बढ़ जाता है। तीसरा परदा हटने पर प्रकाश और बढ़ जाता है। चौथा परदा हटने पर प्रकाश उससे भी अधिक तेज हो जाता है और जब पाँचवा

परदा भी हट जाता है तब प्रकाश आवरणरहित (सभी आवरणों या पर्दों से रहित) होकर पूर्णरूप से चमक उठता है। इसी प्रकार ज्ञान को ढकनेवाले पाँच परदे हैं।* [60]

इन पर्दों को हटाने में गुरु-मन्त्र का अभ्यास अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। मन्त्र अनेक हो सकते हैं। पर जैसा कि *णाणसार (ज्ञानसार)* में कहा गया है, शिष्य को "गुरु उपदेशित ध्यान करना चाहिए।"[61]

जो मन्त्र गुरु के मुख से उच्चारित होता है, अर्थात् जिस मन्त्र को गुरु अपने मुख से बोलकर शिष्य को प्रदान करते हैं, उसमें गुरु की अपार शक्ति समायी होती है। वह गुरु के स्वरूप के समान ही प्रभावशाली होता है और गुरु के स्वरूप को प्रकट करता है। इसलिए शिष्य को श्रद्धा और विश्वास के साथ गुरु-मन्त्र का लगातार स्मरण (सुमिरन) करते हुए गुरु के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

गुरु-मन्त्र के स्मरण और ध्यान की अपार महिमा और अद्‌भुत फल का उल्लेख करते हुए *ज्ञानार्णव* में फिर कहा गया है:

पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने रूप है लक्षण जिसका ऐसे महामंत्र को चिंतवन करै, क्योंकि यह नमस्कारात्मक मंत्र जगत् के जीवों को पवित्र करने में समर्थ है।

जो जीव पाप से मलिन हैं वे इसी मन्त्र से विशुद्ध होते हैं और इसी मन्त्र के प्रभाव से मनीषिगण (बुद्धिमान् या विवेकी जन) संसार के क्लेशों से छूटते हैं।

भव्य जीवों को आपदा (विपत्ति) के समय यही मन्त्र इस जगत् में बांधव (मित्र) है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी जीवों पर कृपा करने में तत्पर नहीं है।

भावार्थ—सबका रक्षक यही एक महामन्त्र है।[62]

---

* जैसैं दीपक के पांच पड़दे हैं। एक पड़दा दूरि भये, झीणा बारीक उद्योत भया। दूजा पड़दा दूरि भया, तब चढ़ता प्रकाश भया। तीजा गये चढ़ता भया। चउथा गये अधिक चढ़ता भया। पांचवाँ गया तब निरावरण प्रकाश भया। ऐसैं ज्ञानावरण के पांच पड़दे हैं। (टिप्पीणी 61 का मूल रूप)

रत्नाकर शतक में भी इस मन्त्र का प्रभाव और फल बताते हुए कहा गया है:

> इस मन्त्र के ध्यान से समस्त पाप दूर हो जाते हैं, आत्मा पवित्र हो जाती है और मोक्षरूपी लक्ष्मी के प्राप्त करने में विलम्ब नहीं होता है। इस णमोकार मन्त्र में ऐसी ही विचित्र शक्ति है, संसार का बड़े से बड़ा काम इसके स्मरणमात्र से सिद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति भक्ति-भाव पूर्वक प्रतिदिन इस मन्त्र का जाप करते हैं, उनको ऐहिक सुखों के साथ पारलौकिक सुख भी प्राप्त होते हैं और संसार का परिभ्रमण चक्र इससे समाप्त होता है।[63]

जिस समय गुरु पंचपरमेष्ठियों के नाम का उच्चारण करते हुए शिष्य को णमोकार (नमस्कारात्मक) मन्त्र की दीक्षा देते हैं उस समय मानो शिष्य के सौभाग्य का उदय हो जाता है। परमेष्ठियों के पाँच नामों को लेने, अर्थात् ग्रहण करने के समय ही शिष्य के बहुत से पाप कट जाते हैं और उसके जीवन की प्रवृत्ति परमार्थ की ओर हो जाती है। फिर धीरे-धीरे गुरु-मन्त्र के जाप के अभ्यास से उसके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। *ज्ञानार्णव* में इसका संकेत इन शब्दों में किया गया है:

> जिन भगवान् के नाम लेने से ही भव्य जीवों के अनादि काल से उत्पन्न हुए जन्ममरणजन्य समस्त रोग लघु (हलके) हो जाते हैं।
>
> इस मन्त्रराज महातत्त्व को जिसने हृदय में स्थित किया उसने मोक्ष के लिए पाथेय (संवल) संग्रह किया।
>
> जिस समय यह महातत्त्व मुनि के हृदय में स्थिति करता है उस ही काल संसार के सन्तान (सिलसिले) का अंकुर गल जाता है, अर्थात् टूट जाता है।[64]

गुरु से नाम लेने, अर्थात् गुरु द्वारा दिये गये नाम को ग्रहण करने से जीव के पापों और दुःखों के मिट जाने का उल्लेख स्तुति-पाठ में भी इन शब्दों में किया गया है:

कृपा तिहारी ऐसी होय, जामन मरन मिटावो मोय।
बार-बार मैं विनती करूँ, तुम सेवा भव सागर तरूँ॥
नाम लेत सब दुःख मिट जाय, तुम दर्शन देख्या प्रभु आय।
तुम हो प्रभु देवन के देव, मैं तो करूँ चरण तव सेव॥
मैं आयो पूजन के काज, मेरो जन्म सफल भयो आज।
नाथ तिहारे नाम तैं, अघ छिन माँहि पलाय।
ज्यों दिनकर परकाश तैं, अन्धकार विनशाय॥[65]

अनाहत ध्यान

गुरु-स्वरूप का ध्यान करते हुए उनके द्वारा दिये गये मन्त्र का स्मरण (सुमिरन या जाप) करने के अभ्यास से अनाहत शब्द या नाद प्रकट होता है। जैन धर्म में अनाहत शब्द को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनाहत देव कहा गया है तथा उसकी महिमा और फल बताते हुए उसका ध्यान करने का उपदेश दिया गया है। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

चन्द्रलेखासमं सूक्ष्मं स्फुरन्तं भानुभास्वरम्।
अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत्॥

अर्थ—चन्द्रमा की रेखा के समान सूक्ष्म और सूर्यसरीखा देदीप्यमान, स्फुरायमान (गूँजायमान) होता हुआ तथा दिव्य रूप का धारक ऐसा जो अनाहत नाम का देव है उसका चिंतवन करै।[66]

जो शब्द बिना किसी आघात या टकराव के अपने-आप उत्पन्न होता है उसे अनाहत नाद कहते हैं। संसार के सभी शब्द किसी न किसी दो या दो से अधिक वस्तुओं के परस्पर टकराने अथवा एक वस्तु का दूसरी वस्तु के द्वारा ठोके, पीटे या आहत किये जाने से उत्पन्न होते हैं। इसलिए अनाहत शब्द या ध्वनि सभी सांसारिक शब्दों या आवाज़ों से भिन्न है। 'देव' शब्द से दिव्यता या प्रकाश का बोध होता है। इसलिए 'अनाहत देव' से तात्पर्य उस दिव्यध्वनि या शब्द से है जिसमें दिव्य आवाज़ के साथ दिव्य प्रकाश भी है। इसीलिए *ज्ञानार्णव* के

ऊपर दिये गये श्लोक में अनाहत देव को गूँजायमान और चन्द्र और सूर्य के समान देदीप्यमान (शीतल और दिव्य ज्योति के साथ प्रकाशमान)—दोनों ही कहा गया है।

'देव' शब्द का प्रयोग ज्योतिस्वरुप भगवान् या परमात्मा के लिए किया जाता है। परमात्मा को स्वयंभू, अर्थात् स्वयं अपने से उत्पन्न होनेवाला माना जाता है। संसार के सभी पदार्थ किसी न किसी कारण से उत्पन्न होते हैं, पर भगवान् या परमात्मा का कोई कारण नहीं है। वे एक कारणरहित, अमूर्त या अव्यक्त चेतन सत्ता हैं। यह अव्यक्त या अप्रकट सत्ता अपने को अनाहत शब्द के रूप में प्रकट करती है। जैन ग्रन्थों में इसका संकेत यह कहकर दिया गया है कि अनाहत शब्द या दिव्यध्वनि तीर्थंकर भगवान् के मुखकमल से निकलती है। भगवान् के इसी प्रकट रूप (अनाहत देव या दिव्यध्वनि) के सहारे जीव अमूर्त और अप्रकट भगवान् का दर्शन करता है और संसार-सागर से पार होता है। इसे प्रणव भी कहते हैं जो परमेष्ठी या परमात्मा का सूचक या बोध करानेवाला (वाचक) है, अर्थात् प्रणव को वाचक और परमेष्ठी या परमात्मा को उसका वाच्य (प्रणव द्वारा सूचित या ज्ञात होनेवाला) माना जाता है। इन बातों को समझाते हुए और अनाहत शब्द के ध्यान का उपदेश देते हुए तथा उसका फल बताते हुए *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

> इस अनाहत नामा देवमें किया है स्थिर अभ्यास जिन्होंने ऐसे सत्पुरुष इस दिव्य जहाज के द्वारा संसाररूप घोर समुद्र को तिरकर शान्ति को प्राप्त हो गये हैं।
>
> एकाग्रताको प्राप्त होकर, चित्तको स्थिर (निश्चल) करने के लिए उसी अनाहत को अनुक्रम से (क्रम-क्रम से) सूक्ष्म ध्याता हुआ बालके अग्रभाग समान ध्यावै, अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर शब्द का ध्यान करते *हुए अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म अनाहत शब्द का ध्यान करै।*
>
> *उसके पश्चात् गलित हो गये हैं समस्त विषय जिसमें ऐसे अपने* मनको स्थिर करनेवाला योगी उसी क्षणमें ज्योतिर्मय साक्षात् जगत् को प्रत्यक्ष अवलोकन करता है।

इस अनाहत मंत्र के ध्यानसे ध्यानी के अणिमा आदि सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और दैत्यादिक सेवा करते हैं तथा आज्ञा और ऐश्वर्य होता है इसमें सन्देह नहीं है।

तत्पश्चात् क्रम से लक्ष्यों से (लखने योग्य वस्तुओं से) छुड़ाकर, अलक्ष्य में (अदृश्य में) अपने मन को धारण करते हुए ध्यानी के अन्तरंग में अक्षय (अविनाशी) तथा इंद्रियों के अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है।

इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवनामा (कल्याणकारी कहे जानेवाले) तत्त्व को अवलंबन करके मनीषीगण (ज्ञानीजन) अनन्त क्लेशवाले संसाररूपी वन से पार हो गये।

हे मुने! तू प्रणव नामा अक्षर का स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर, क्योंकि यह प्रणव नामा अक्षर दु:खरूपी अग्नि की ज्वाला को शान्त करने के लिए मेघ के समान है।

इस प्रणव से अतिनिर्मल शब्दरूप ज्योति अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हुआ है और परमेष्ठी का वाच्य वाचक सम्बन्ध भी इसी प्रणव से होता है, अर्थात् परमेष्ठी तो इस प्रणवका वाच्य और यह परमेष्ठी का वाचक है।[67]

वीणा आदि वाद्य-यन्त्रों के तार से उत्पन्न होनेवाले अति मधुर और सुरीले स्वर जैसे इस अनाहत नाद को सुनने का उपदेश देते हुए *ज्ञानार्णव* में फिर कहा गया है:

हे धीर पुरुष! यह ध्यान का तंत्र (तारवाले वाद्य-यन्त्रों जैसी ध्वनि को) सुनने से, यह चित्त को पवित्र करता है। तीव्ररागादिक का अभाव करके चित्तको विशुद्ध करता है तथा आचारण किया हुआ (अभ्यास कर लेने पर) मोक्ष देता है। यह योगीश्वरों का जाना हुआ है, इस कारण इसको तू आस्वाद, धार (धारण कर) वा सुन और ध्यान का आचरण कर[68]

पतञ्जलि ने भी अपने *योगसूत्र* में प्रणव को ईश्वर का वाचक (बोधक) कहा है, अर्थात् उनके अनुसार भी प्रणव, ईश्वर का वाचक है जो अपने वाच्य,

ईश्वर का बोध कराता है। या यों कहें कि प्रणव (अनाहत नाद या दिव्यध्वनि) के अभ्यास द्वारा ईश्वर को जाना जाता है। *योगसूत्र* में स्पष्ट कहा गया है:

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।[69]

अर्थात् यह प्रणव उसका (ईश्वर का) वाचक (बोध करानेवाला), अर्थात् उस अव्यक्त या अप्रकट ईश्वर को प्रकट करनेवाला है। इसका जप और इसके अर्थ का चिन्तन या ध्यान करना चाहिए।

मन की दुविधा को दूर करने और परमार्थ का भेद पाने के लिए सुमिरन और ध्यान को आवश्यक बताकर उसके आनन्द में मग्न होने और अपने जीवन को सफल बनाने की प्रेरणा नीचे दिये गये पदों में बड़े ही सुन्दर ढंग से दी गयी है:

दुविधा कब जैहैं या मन की।
कब निजनाथ निरंजन सुमिरौं तजि सेवा जन-जन की॥
कब रुचि सौं पीवैं दृग चातक, बूँद अखयपद घन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तनकी॥
कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु-वचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की॥

अर्थ—न मालूम, हमारे मन की यह दुविधा कब दूर होगी? वह अवसर कब आयेगा, जब मैं पामर मनुष्यों की गुलामी से छुटकारा पाकर अपने निर्विकार आत्मा-राम की अलख जगाऊँगा। न जाने कब हमारे नेत्र-चातक घनीभूत अक्षय पद के सरस बिन्दुओं का रुचि के साथ पान करेंगे? मैं समता भाव को धारण कर शरीर आदि के मोह को छोड़कर आत्म-सम्बन्धी शुभ ध्यान को कब धारण करूँगा? मेरे मन में—मेरी आत्मा में सद्गुरुओं की वाणी का संचार कब होगा? मैं उस वाणी पर कब दृढ़ रहूँगा? मैं सांसारिक-व्यावहारी धन की धारणा (धन-संग्रह की प्रवृत्ति) को भुलाकर भेद-विज्ञान से उत्पन्न होने वाले परमारथ (सच्चे धन) के सुख को कब प्राप्त करूँगा?[70]

भज चतुर्विंशति नाम।
जे भजे ते उतरि भवदधि लयो शिवसुख-धाम॥
राखि निश्चय जपो 'बुधजन' पुरे सबके काम॥

अर्थ-हे भव्यात्मन्! चौबीसों भगवान् के (बताये) नाम का भजन कर। जिन्होंने भजन किया उन्होंने संसार-समुद्र से पार उतर कर शिवसुख (मोक्षसुख) प्रदान करनेवाले स्थान को प्राप्त किया। हे बुधजन! श्रद्धापूर्वक इनका जप करो। ये नाम सबकी कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं।[71]

रूपस्थ और रूपातीत ध्यान

उपर्युक्त पिण्डस्थ ध्यान और पदस्थ ध्यान के विवेचन से यह स्पष्ट है कि पिण्डस्थ ध्यान में अरहंत (अर्हत्) भगवान् या सन्त सद्गुरु के देह स्वरूप का और पदस्थ ध्यान में उनके द्वारा दिये गये मन्त्र का ध्यान किया जाता है। इन दोनों ध्यानों के फलस्वरूप अन्तर में अनहद या अनाहत नाद सुनाई देने लगता है और अर्हत् भगवान् या सन्त सद्गुरु के ज्योतिर्मय दिव्य स्वरूप का दर्शन होता है। रूपस्थ ध्यान में अर्हत् भगवान् या सन्त सद्गुरु के इसी दिव्य स्वरूप का ध्यान किया जाता है। इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ—इन तीनों ही ध्यानों में अर्हत् भगवान् या सन्त सद्गुरु का ही किसी न किसी रूप में ध्यान किया जाता है। इसीलिए *द्रव्यसंग्रह टीका* में कहा गया है:

पदस्थ, पिण्डस्थ और रूपस्थ इन तीनों ध्यानों के ध्येयभूत श्री अर्हत् सर्वज्ञ हैं।[72]

यह बतलाते हुए कि रूपस्थ ध्यान में अर्हत् भगवान के दिव्य स्वरूप का ध्यान किया जाता है, *तत्त्वभावना* में उनके दिव्य स्वरूप तथा दिव्यलोक में होनेवाली उनकी अलौकिक सभा (समवसरण) के मनोहर दृश्य का वर्णन इन शब्दों में किया गया है:

अरहंत भगवान् के स्वरूप में तन्मय होकर उनका ध्यान करना सो रूपस्थ ध्यान है। जिनका परमौदारिक (दिव्य) शरीर कोटि सूर्यकी

ज्योति को मंद करनेवाला है, जिसमें मांस आदि सात धातुएँ नहीं हैं। परम शुद्ध रत्नवत् चमक रहा है, प्रभु परम शांत, स्वरूप मग्न विराजमान हैं, जिनके सर्व शरीर में वीतरागता झलक रही है। श्री अरहंत भगवानके क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, चिंता, रागद्वेष, जन्म, मरण आदि अठारह दोष नहीं हैं। प्रभुके आठ प्रातिहार्य (ऐश्वर्यसूचक वातावरण और सेवक) शोभायमान हैं—(1) अति मनोहर रत्नमय सिंहासन पर अन्तरिक्ष (आकाश) में विराजमान हैं (2) करोड़ों चन्द्रमा की ज्योति को मंद करनेवाला उनके शरीर की प्रभा का मण्डल उनके चारों तरफ प्रकाशमान हो रहा है (3) तीन चंद्रमा के समान तीन छत्र ऊपर शोभित होते हुए प्रभु तीन लोक के स्वामी हैं, ऐसा झलका रहे हैं। (4) हंस के समान अति श्वेत चमरों को दोनों तरफ देवगण ढार रहे हैं (5) देवोंके द्वारा कल्पवृक्षों के मनोहर पुष्पों की वर्षा हो रही है (6) परम रमणीक अशोक (शोक दूर करनेवाला) वृक्ष शोभायमान है उसके नीचे प्रभु का सिंहासन है (7) दुंदुभि बाजों की परम मिष्ट (मधुर) व गंभीर ध्वनि हो रही है (8) भगवान् की दिव्यध्वनि मेघ गर्जनाके समान हो रही है।[73]

साधकों के लिए अर्हत् भगवान् को ध्यान योग्य बताते हुए तथा उनके दिव्य स्वरूप की प्रभुता को प्रकट करते हुए *आदिपुराण* में भी कहा गया है:

जो तेजोमय परमौदारिक (अत्यन्त सूक्ष्म) शरीर को धारण किये हुए हैं ऐसे केवल ज्ञानी अर्हन्त जिनेन्द्र ध्यान करने योग्य हैं। राग आदि अविद्याओंको जीत लेने से जो जिन कहलाते हैं, घातिया कर्मों के नष्ट होने से जो अर्हन्त (अरिहन्त) कहलाते हैं, शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होने से जो सिद्ध कहलाते हैं और त्रैलोक्यके समस्त पदार्थों को जानने से जो बुद्ध कहलाते हैं, जो तीनों कालों में होनेवाली अनन्त पर्यायों से सहित समस्त पदार्थों को देखते हैं इसलिए विश्वदर्शी (सबको देखनेवाले) कहलाते हैं और जो अपने ज्ञानरूप चैतन्य गुण से संसार के सब पदार्थों को जानते हैं इसलिए विश्वज्ञ (सर्वज्ञ) कहलाते हैं। ...इस प्रकार जो ऊपर कहे हुए लक्षणों से सहित हैं, परमात्मा हैं, परम पुरुष रूप हैं, परमेष्ठी हैं, परम तत्त्वस्वरूप हैं,

परमज्योति (केवलज्ञान) रूप हैं और अविनाशी हैं ऐसे अर्हन्तदेव ध्यान करने योग्य हैं।[74]

उनकी दिव्य अलौकिक सभा में फैले दिव्य प्रकाश और दिव्यध्वनि का वर्णन *आदिपुराण* में इन शब्दों में किया गया है:

देवों के दुन्दुभी मधुर शब्द करते हुए आकाश में बज रहे थे। जिनका शब्द अत्यन्त मधुर और गम्भीर था ऐसे पणव, तुणव, काहल, शंख और नगाड़े आदि बाजे समस्त दिशाओं के मध्य भागको शब्दायमान करते हुए तथा आकाश को आच्छादित करते हुए शब्द कर रहे थे। ...क्या यह मेघोंकी गर्जना है? अथवा जिसमें उठती हुई लहरें शब्द कर रही हैं ऐसा समुद्र ही क्षोभ को प्राप्त हुआ है? इस प्रकार तर्क-वितर्क कर चारों ओर फैलता हुआ भगवानके देवदुन्दुभियों का शब्द सदा जयवन्त रहे। ...उस समय वह जिनेन्द्र भगवान् के शरीर की प्रभा मध्याह्न के सूर्य की प्रभा को तिरोहित करती हुई—अपने प्रकाश में उसका प्रकाश छिपाती हुई, करोड़ों देवों के तेज को दूर हटाती हुई, और लोक में भगवान् का बड़ा भारी ऐश्वर्य प्रकट करती हुई चारों ओर फैल रही थी। ...जिस प्रकार मेघों की गर्जना सुनकर चातक पक्षी परम आनन्द को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उस समय भगवानकी दिव्य ध्वनि सुनकर भव्य जीवों के समूह परम आनन्द को प्राप्त हो रहे थे। सबकी रक्षा करनेवाले और अग्नि के समान देदीप्यमान भगवान् को प्राप्त कर भव्य (मोक्षार्थी) जीवरूपी रत्न दिव्य कान्ति को धारण करनेवाली परम विशुद्धि को प्राप्त हुए थे।[75]

शुभचन्द्राचार्य भी अपने *ज्ञानार्णव* ग्रन्थ में यही उपदेश देते हैं कि रूपस्थ ध्यान में अर्हत् (अरहंत) भगवान् का ध्यान करना चाहिए। उनकी अद्भुत महिमा और अपार गुणों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं:

इस रूपस्थ ध्यान में अरहन्त भगवान् का ध्यान करना चाहिए। ...आपका चरित अचिन्त्य है, आप सुन्दर चरित्रवाले गणधरादि

मुनिगणों से सेवनीय हैं और समस्त जगत् के हितू (हितैषी) हैं। आप इन्द्रियों के समूह को रोकनेवाले, विषय रूप शत्रुओं का निषेध करनेवाले, रागादिक सन्तान (रागादि की चली आयी परम्परा) को नष्ट करनेवाले और संसाररूपी अग्नि को बुझाने के लिए मेघ के समान हैं। आपने दिव्यरूप धारण किया है, आप धीर अर्थात् क्षोभ (आकुलता) रहित और निर्मल ज्ञानरूपी नेत्रवाले हैं। आपका विभव (ऐश्वर्य) देव और योगीश्वरों की कल्पना से परे है।

जिसने पृथ्वीतल को पवित्र किया है तथा उद्धरण किया है तीन जगत् को और मोक्ष मार्ग का निरूपण करनेवाला है, अनन्त है और जिसका शासन पवित्र है, तथा जिसने अपने भामंडल से (प्रकाश मण्डल से) सूर्य को आच्छादित किया है, कोटि चंद्रमा के समान प्रभा का धारक है, जो जीवों का शरणभूत है, सर्वत्र जिसके ज्ञान की गति है, जो शान्त है, दिव्यवाणी में प्रवीण है, तथा इन्द्रियरूपी सर्पों के लिए गरुड़ समान है, समस्त अभ्युदय का मंदिर है, तथा दुःखरूप समुद्र में पड़ते हुए जीवों को हस्तावलंबन देनेवाला है और जो दिव्य पुष्पवृष्टि, आनक अर्थात् दुंदुभि बाजों तथा अशोक वृक्षों सहित विराजमान है, तथा रागरहित (वीतराग) है, प्रातिहार्य महालक्ष्मी से चिह्नित है, और परम ऐश्वर्य सहित (परमेश्वर) है।[76]

इस प्रकार अरहन्त भगवान् के ज्योतिर्मयस्वरूप तथा उनकी अपार महिमा और प्रभुता को दिखलाकर शुभचन्द्राचार्य उनके ध्यान का फल बतलाते हुए कहते हैं:

उपर्युक्त सर्वज्ञ देव का ध्यान करनेवाला जो ध्यानी अन्य शरण से रहित हो, अपने मन को साक्षात् उसमें ही संलीन करता है, वह तन्मयता को पाकर, उसी स्वरूप को प्राप्त होता है। योगी (ध्यानी मुनि या साधक) उस सर्वज्ञ देव परम ज्योति को आलंबन करके उसके गुणग्रामों में (गुण समूहों में) रंजायमान होता हुआ मन में विक्षेप रहित (आवेगरहित) होकर, उसी स्वरूप को प्राप्त होता है।

उस परमात्मा में मन लगावै तब उसके ही गुणों में लीन चित्त होकर उसमें ही चित्त को प्रवेश करके उसी भाव से भावित योगी मुनि उसीकी तन्मयता को प्राप्त होता है। जब अभ्यास के वश से उस मुनि को उस सर्वज्ञ के स्वरूप से तन्मयता उत्पन्न होती है उस समय वह मुनि अपनी असर्वज्ञ आत्मा को सर्वज्ञ स्वरूप देखता है।[77]

इस प्रकार अरहन्त भगवान् या सच्चे सन्त सद्गुरु के ज्योतिर्मय स्वरूप का वर्णन कर तथा उनके ध्यान द्वारा ध्यानी के उनसे एकाकार होने का फल बतलाकर शुभचन्द्राचार्य अपने अन्तिम निष्कर्ष के रूप में फिर कहते हैं:

हे मुने, तू वीतराग देवका ही ध्यान कर। कैसे हैं वीतराग भगवान्? तीनों लोकों के जीवों के आनन्द के कारण हैं, संसाररूप समुद्र के पार होने के लिए जहाज तुल्य हैं तथा पवित्र अर्थात् सभी मल से रहित हैं तथा लोक अलोक के प्रकाश करने के लिए दीपक के समान हैं और प्रकाशमान तथा निर्मल ऐसे हैं कि करोड़ शरद के चंद्रमा की प्रभासे भी अधिक प्रभा के धारक हैं। वे जगत् के अद्वितीय नाथ हैं, शिवस्वरूप (कल्याणरूप) हैं, अजन्मा और पापरहित हैं। ऐसे वीतराग भगवान् का तू ध्यान कर।

सर्वविभवजुत जान, जे ध्यावैं अरहंत कूं।
मन वसि करि सति मान, ते पावैं तिस भावकूं॥[78]

अर्थात् जो अपने मन को वश में कर अरहंत भगवान् को सभी ऐश्वर्यों से युक्त और सच्चा मानकर उनका ध्यान करता है, वह उन्हीं की अवस्था (भाव) को प्राप्त करता है।

इस प्रकार जीवित परम चेतन अर्हत् या सन्त सद्गुरु, जो स्वंय मुक्त होकर मुक्ति की युक्ति बतलाते हैं, के ध्यान से ध्यानी उन्हीं के समान मुक्त बन जाता है।

रूपस्थ ध्यान में अपने को पूरी तरह दृढ़ कर लेने के बाद ध्याता (ध्यान करनेवाला) अपने को रूप-रंग आदि चिह्नों से रहित अमूर्त परमात्मा के ध्यान में लगाता है। इसे ही रूपातीत ध्यान कहते हैं। इस ध्यान के फलस्वरूप ध्याता

धीरे-धीरे परमात्मा के गुणों को ग्रहण करता हुआ यह अनुभव करने लगता है कि मैं परमात्मा हूँ, 'अंह ब्रह्मास्मि'। पर इस ध्यान में आत्मा और परमात्मा का भेद या द्वैतभाव बना रहता है। जब तक यह भेद बना रहता है तब तक इस ध्यान को सविकल्प ध्यान कहते हैं। जब आत्मा और परमात्मा का यह भेद या द्वैतभाव मिट जाता है और ध्याता सर्वविकल्प रहित हो अपने को परमात्मा में लीन कर लेता है तो उस ध्यान को निर्विकल्प ध्यान या निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधि या ध्यान को रूपातीत ध्यान कहते हैं। इस ध्यान द्वारा आत्मा परमात्मा में समाकर परमात्मा बन जाती है। *ज्ञानार्णव* में इस रूपातीत ध्यान को इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है:

रूपस्थ ध्यान में स्थिरीभूत है चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये हैं विभ्रम जिसके ऐसा ध्यानी अमूर्त अजन्मा इन्द्रियों से अगोचर, ऐसे परमात्मा के ध्यान का प्रारम्भ करता है।

जिस ध्यान में ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त, परमाक्षररूप (परमात्मारूप) आत्मा को आत्मा द्वारा स्मरण करै अर्थात् ध्यावै सो रूपातीत ध्यान माना गया है।

परमात्मा के स्वभाव से एकरूप भावित अर्थात् मिला हुआ ध्यानी मुनि उस परमात्मा के गुण समूहों से पूर्ण रूप अपने आत्मा को करके, फिर उसे परमात्मा में योजन करे (जोड़ दे या मिला दे)। ऐसा विधान है।

ध्यानी मुनि उस परमात्मा के स्वरूप में मन लगाकर उसके ही गुणग्रामों से रंजायमान हो (रँगकर) उसमें ही अपनी आत्मा को आप ही से उस स्वरूप की सिद्धि के लिए जोड़ता है अर्थात् तल्लीन होता है।

जैसे निर्मल दर्पण में पुरुष के समस्त अवयव और लक्षण दिखाई पड़ते हैं उसी तरह परमात्मा के समस्त गुण निर्मल आत्मा में प्रतिबिम्बित होते हैं।

पूर्वोक्ति प्रकार से जब परमात्मा का निश्चय हो जाता है और दृढ़ अभ्यास से उसका प्रत्यक्ष होने लगता है उस समय परमात्मा का चिंतवन इस प्रकार करै कि ऐसा परमात्मा मैं ही हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ,

सर्वव्यापक हूँ, सिद्ध हूँ, तथा मैं ही साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य था। संसार से रहित, परमात्मा, परमज्योतिस्वरूप, समस्त विश्व का देखनेवाला मैं ही हूँ। मैं ही निरंजन हूँ, ऐसा परमात्मा का ध्यान करै। उस समय अपना स्वरूप निश्चल अमूर्त अर्थात् शरीररहित निष्कलङ्क, जगत् का गुरु, चैतन्यमात्र और ध्यान तथा ध्याता के भेदरहित ऐसा अतिशय स्फुरायमान (प्रतीत) होता है।

यह मुनि जिस समय पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा का ध्यान करता है उस समय परमात्मा में पृथक् भाव अर्थात् अलगपने का उल्लंघन करके साक्षात् एकता को इस तरह प्राप्त हो जाता है कि, जिससे पृथक्पने का बिल्कुल भान नहीं होता।

भावार्थ—उस समय ध्याता और ध्येय में द्वैतभाव नहीं रहता। हे मुने, इस प्रकार जिसके समस्त विकल्प दूर होगये हैं, जिसके रागादिक सब दोष क्षीण हो चुके हैं, जो जानने योग्य समस्त पदार्थों का जाननेवाला है, जिसने संसार के समस्त प्रपञ्च छोड़ दिये हैं, जो शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप अथवा मोक्ष स्वरूप है, जो अज अर्थात् जिसको आगे जन्म-मरण नहीं करना है, जो अनवद्य अर्थात् पापों से रहित है, तथा जो समस्त लोक का एक अद्वितीय नाथ है ऐसे परम पुरुष परमात्मा को भावों की शुद्धतापूर्वक अतिशय करके भज।

भावार्थ—शुद्ध भावों से ऐसे परम पुरुष परमात्मा का ध्यान कर।

सिद्ध निरंजन कर्मबिन, मूरतिरहित अनन्त।
जो ध्यावै परमातमा, सो पावे शिव संत॥[79]

अर्थात् जो सन्तरूप सज्जन ध्याता परिपूर्ण, कर्मरहित, अमूर्त, अनन्त (अन्तरहित) और निरञ्जन (मायारहित) परमात्मा का ध्यान करता है वह कल्याणमय मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

ध्यान का क्रमिक विकास होता है। हम कह चुके हैं कि जब तक ध्यानी के अन्दर द्वैतभाव बना रहता है या ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान का फल आदि के विकल्प उठते रहते हैं तब तक उस ध्यान को सविकल्प ध्यान कहते हैं।

जब सभी विकल्प मिट जाते हैं और ध्याता ध्येय में स्थिरतापूर्वक लीन हो जाता है तब उस ध्यान को निर्विकल्प ध्यान कहते हैं। ध्येय की दृष्टि से इस निर्विकल्प ध्यान को ही रूपातीत ध्यान अर्थात् रूप-रंगादि रहित परमात्मा का ध्यान कहा जाता है और ध्यान के स्वरूप की दृष्टि से इसे ही शुक्ल ध्यान (जो विशुद्ध होता है) कहा जाता है। इसमें भी क्रमिक विकास होता है। जैसे-जैसे यह निर्विकल्प ध्यान गहरा, सूक्ष्म और स्थिर होता जाता है वैसे-वैसे ध्यान भी उच्चतर कोटि का होता जाता है। ध्यान की गहराई, सूक्ष्मता और स्थिरता एक-दूसरे पर निर्भर है। जैसे-जैसे ध्यान गहरा होता जाता है वैसे-वैसे वह अधिक सूक्ष्म होता जाता है और उस ध्यान में अधिक आनन्द आने से उसमें स्थिरता भी बढ़ती जाती है। अन्त में ध्यान अत्यन्त गहरा, सूक्ष्म और स्थिर होकर परमात्म स्वरूप में निष्कम्प भाव से टिक जाता है। उस अवस्था को जैन धर्म में शून्य ध्यान कहा जाता है।

सविकल्प और निर्विकल्प ध्यान या समाधि का भेद बताते हुए *अनुभव प्रकाश* में कहा गया है:

> निश्चय मोक्ष-मार्ग के दो भेद (स्तर) हैं—सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प में 'अंह ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)—ऐसा भाव आता है। निर्विकल्प को वीतराग अवस्था अर्थात् स्वसंवेदन (आत्मानुभव की एकता या अभेद भाव) कहा जाता है।* [80]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में स्पष्ट कहा गया है कि निर्विकल्प समाधि को ही शुक्ल ध्यान या रूपातीत ध्यान कहते हैं:

> ध्यान करते हुए साधु को बुद्धिपूर्वक राग समाप्त हो जाने पर जो निर्विकल्प समाधि प्रकट होती है, उसे शुक्लध्यान या रूपातीत ध्यान कहते हैं। इसकी भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत चार श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी में

---

* निश्चय मोक्ष-मार्ग दोय प्रकार—सविकल्प, निर्विकल्प। सविकल्प मैं 'अहं ब्रहा अस्मि' मैं ब्रहा हूँ, ऐसा भाव आवै। निर्विकल्प में वीतराग=स्वसंवेदन समाधि कहिये। (टिप्पणी 79 का मूल रूप)

अबुद्धिपूर्वक ही ज्ञान में ज्ञेय पदार्थों की तथा योग प्रवृत्तियों (कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों) की संक्रान्ति (परिवर्तन) होती रहती है, अगली श्रेणियों में यह भी नहीं रहती। ध्यान रत्नदीपक की ज्योति की भाँति निष्कंप होकर ठहरता है।[81]

नियमसार तात्पर्य वृत्ति में इस ध्यान को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है:

ध्यान, ध्येय, ध्याता, ध्यान का फल आदि के विविध विकल्पों से विमुक्त (निर्विकल्प), अन्तर्मुखाकार, समस्त इन्द्रिय समूह के अगोचर, निरंजन, निज परमतत्त्व (परमात्मस्वरूप) में अविचल स्थितरूप ध्यान वह निश्चय शुक्लध्यान है।[82]

जब ध्यान में लीन ध्यानी के सभी विकल्प मिट जाते हैं और वह सभी विषयों को भूलकर तथा मन्त्र-सुमिरन या अन्य ध्येय वस्तु को भी छोड़कर शून्यवत् बना हुआ केवल ज्ञान (सर्वज्ञता) में निष्कम्प भाव से स्थिर हो जाता है तो उसके ध्यान को शून्यध्यान कहा जाता है।

णाणसार (ज्ञानसार) में शून्यध्यान के स्वरूप को इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है:

परमार्थ से सालम्बन ध्यान (धर्म ध्यान) को जानकर उसे छोड़ना चाहिए तथा तत्पश्चात् निरालम्बन ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। प्रथम द्वितीय आदि श्रेणियों को पार करता हुआ वह योगी चरम स्थान में पहुँचकर स्थूलत: शून्य हो जाता है। क्योंकि रागादिसे मुक्त, मोह रहित, स्वभाव परिणत (आत्मभाव में लीन) ज्ञान ही जिनशासन में शून्य कहा जाता है। जिस ध्यान में न तो इन्द्रिय विषय है, न मंत्र-स्मरण (मन्त्र का सुमिरन) है, न कोई ध्यान करने की वस्तु है, न कोई धारणा स्मरण है; केवलज्ञान परिणति (केवल ज्ञान में स्थिति) ही है और जो आकाश न होते हुए भी आकाशवत् निर्मल है, वह शून्य ध्यान कहलाता है।

मैं किसी का नहीं, पुत्रादि कोई भी मेरे नहीं हैं, मैं अकेला हूँ; शून्य ध्यान के ज्ञान में योगी इस प्रकार के परम स्थान को प्राप्त करता है।

मन, वचन, काय, मत्सर, ममत्व, शरीर, धन-धान्य आदि से मैं शून्य हूँ इस प्रकार के शून्य ध्यान से युक्त योगी पुण्य-पाप से लिप्त नहीं होता। मैं शुद्धात्मा हूँ, ज्ञानी हूँ, चेतन गुण स्वरूप हूँ, एक हूँ, इस प्रकार के ध्यान से योगी परमात्म स्थान को प्राप्त करता है। अभ्यन्तर को निश्चित करके तथा बाह्य पदार्थों सम्बन्धी सुखों व शरीर को शून्य करके हंस रूप पुरुष अर्थात् अत्यन्त निर्मल आत्मा केवली हो जाता है।[83]

आचार सार में शून्य ध्यान में लीन ध्यानी की अवस्था की ओर संकेत करते हुए कहा गया है:

सब रस विरस हो जाते हैं, कथा गोष्ठी व कौतुक विघट (हट) जाते हैं, इन्द्रियों के विषय मुरझा जाते हैं, तथा शरीर में प्रीति भी समाप्त हो जाती है। जहाँ न ध्यान है, न ध्येय है, न ध्याता है न कुछ चिंतवन है, न धारणा के विकल्प हैं, ऐसे शून्य को भली प्रकार भाना (रमना) चाहिए। शून्य ध्यान में प्रविष्ट योगी स्व स्वभाव से सम्पन्न, परमानन्द में स्थित तथा प्रकट भरितावस्थावत् (परिपूर्णावस्था जैसा) होता है। ध्यान युक्त योगी को जब तक कुछ भी विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक वह शून्य ध्यान नहीं, वह या तो चिन्ता है या भावना।[84]

ध्याता के आवश्यक गुण

ध्यान के भेदों पर विचार करने और ध्यान के अन्तिम लक्ष्य को समझने के बाद हमें यह भी जानना चाहिए कि ध्यान के इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ध्याता को कैसा होना चाहिए। यदि साधक यह जान ले कि ध्यान के अभ्यास में सफल होने के लिए किन गुणों से युक्त होना आवश्यक है तो वह उन गुणों को ग्रहण करने के लिए भरपूर प्रयास कर सकता है। ध्याता के लिए जो गुण आवश्यक हैं उनका स्पष्ट उल्लेख *ज्ञानार्णव* में इस प्रकार किया गया है:

शास्त्र में ऐसे ध्याता की प्रशंसा की गई है जो मुमुक्षु हो, अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखनेवाला हो। क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो, तो मोक्ष के कारण

ध्यान को क्यों करे? दूसरे संसार से विरक्त (अनासक्त) हो, क्योंकि संसार से विरक्त (अनासक्त) हुए बिना ध्यान में चित्त किस लिए लगावे? तीसरे क्षोभरहित शान्तचित्त हो, क्योंकि व्याकुलचित्त के ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। चौथे वशी कहिये जिसका मन अपने वश में हो, क्योंकि मन के वश हुए विना वह ध्यान में कैसे लगै? पाँचवें स्थिर हो, शरीर के सांगोपांग आसन में दृढ़ हो, क्योंकि काय चलायमान रहने से ध्यान की सिद्धि नहीं होती। छट्ठे जिताक्ष (जितेन्द्रिय) हो, क्योंकि इन्द्रियों के जीते विना वे विषयों में प्रवृत्त करती हैं और ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। सातवें संवृत कहिये संवरयुक्त हो। क्योंकि खानपानादि में विकल हो जावे तो, ध्यान में चित्त कैसे स्थिर हो? आठवें धीर हो। उपसर्ग (विघ्न) आने पर ध्यान से च्युत न होवे। तब ध्यान की सिद्धि होती है। ऐसे आठगुणसहित ध्याता के ध्यान की सिद्धि हो सकती है, अन्य के नहीं होती।[85]

ज्ञानार्णव में फिर कहा गया है:

जिस मुनि (साधक) का चित्त काम भोगों में विरक्त होकर और शरीर में स्पृहाको छोड़ के स्थिरीभूत हुआ है, निश्चय करके उसी को ध्याता कहा है। वही प्रशंसनीय ध्याता है।[86]

मोक्ष की चाह रखनेवाले ध्याता को उपर्युक्त गुणों को अपने अन्दर बसाने का भरपूर प्रयत्न करना चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ध्यान करने का अधिकार केवल साधु या मुनि को ही है या गृहस्थ भी ध्यान कर सकते हैं। कुछ लोगों की यह धारणा है कि ध्यान केवल गृहत्यागी साधु-संन्यासी या मुनि ही कर सकते हैं। गृहस्थ ध्यान की साधना नहीं कर सकते।

यह ठीक है कि गृहस्थ अक्सर अनेक प्रकार के गृहकार्यों में उलझे रहते हैं। इसलिए उन्हें ध्यान के लिए अधिक समय निकालने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई से बचने के लिए प्राचीन काल में कुछ उत्साही मनुष्यों ने

घर-बार को छोड़ जंगल या सुनसान जगहों में जाकर साधना करने का निर्णय लिया। फिर धीरे-धीरे घर-बार त्यागकर साधना करने की एक परम्परा बन गयी। इसी परम्परा के अनुसार महावीर और बुद्ध भी गृहत्याग कर सत्य की खोज में निकले और अपनी साधना में सफलता प्राप्तकर बहुतों को सत्य का मार्ग दिखलाया। *ज्ञानार्णव* में भी इसी परम्परा की ओर संकेत करते हुए कहा गया है:

> गृहस्थगण घर में रहते हुए अपने चपल (चंचल) मन को वश करने में असमर्थ होते हैं, अतएव चित्त की शान्ति के अर्थ सत्पुरुषों ने घर में रहना छोड़ दिया है और वे एकान्त स्थान में रहकर ध्यानस्थ होने को उद्यमी हुए हैं।[87]

इससे यह पता चलता है कि गृहस्थ-जीवन में ध्यान करना कठिन माना गया है। पर गृहस्थ-जीवन को त्यागकर जंगल या सुनसान जगह में रहना भी तो कोई कम कठिन काम नहीं है। शरीर के पालन-पोषण, आवास, चिकित्सा आदि के लिए जंगल का एकान्त जीवन आसान कैसे हो सकता है? फिर अपने मन को पूरे समय चिन्तामुक्त रखकर ध्यान में लगाये रखने का काम भी कोई विरला ही कर सकता है। इस प्रकार साधक चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी—कठिनाइयों का सामना दोनों ही प्रकार के साधकों को करना पड़ता है। कोई भी महान् कार्य कठिनाइयों का सामना किये बिना सम्भव नहीं है। परमार्थ की प्राप्ति करना निश्चय ही बहादुरों का काम है, कायरों का नहीं। इसलिए यह मानना कि केवल मुनिजन या साधु-संन्यासी ही ध्यान कर सकते हैं और गृहस्थ के लिए ध्यान करना असम्भव है (जैसा कि शुभचन्द्राचार्य मानते हैं), 88 युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

यदि एक ओर बुद्ध और महावीर जैसे परमार्थ की प्राप्ति करनेवाले गृहत्यागियों के उदाहरण हैं तो दूसरी ओर बुद्ध के ही प्रसिद्ध गृहस्थ शिष्य विमलकीर्ति (जिनकी महिमा और तेजस्विता से बुद्ध के प्रधान भिक्षु शिष्य सारिपुत्र, आनन्द आदि प्रभावित थे) और राजा जनक के उदाहरण हैं, जिनके विषय में कहा जाता है कि इन्होंने गृहस्थ जीवन में रहते हुए ही अपनी

पारमार्थिक साधना में पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली थी। इसलिए गृहस्थ के लिए निश्चित रूप से ध्यान की साधना और परमार्थ की प्राप्ति को असम्भव घोषित करना उचित नहीं प्रतीत होता।

वास्तव में ध्यान में सफल होने के लिए राग, द्वेष और मोह से ऊपर उठकर अनासक्त या निर्लिप्त जीवन बिताने का प्रयास करना आवश्यक होता है और यह कार्य गृहस्थ और संन्यासी—दोनों के लिए कठिन अवश्य है, पर उचित साहस, पूर्ण विश्वास और दृढ़ अभ्यास द्वारा इस कठिनाई पर विजय पायी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, दृढ़ संकल्प और अडिग अभ्यास द्वारा गृहस्थ और संन्यासी—दोनों ही ध्यान की साधना में सफल हो सकते हैं।

इसी विचार को प्रकट करते हुए सागरमल जैन कहते हैं:

> अनेक सम्यक् दृष्टि गृहस्थ ऐसे होते हैं जो जल में कमलवत् गृहस्थ जीवन में अलिप्त भाव से रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए धर्मध्यान की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[89]

अपने विचार को स्पष्ट करते हुए वे फिर कहते हैं:

> व्यक्ति में मुनिवेश धारण करने मात्र से ध्यान की पात्रता नहीं आती है। प्रश्न यह नहीं है कि ध्यान गृहस्थ को सम्भव होगा या साधु को? वस्तुतः निर्लिप्त जीवन जीने वाला व्यक्ति चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, उसके लिए धर्मध्यान सम्भव हो सकता है। दूसरी ओर आसक्त, दम्भी और साकांक्ष व्यक्ति, चाहे वह मुनि ही क्यों न हो, उसके लिए धर्मध्यान असम्भव होता है। ध्यान की सम्भावना साधु और गृहस्थ होने पर निर्भर नहीं करती। उसकी सम्भावना का आधार ही व्यक्ति के चित्त की निराकुलता या अनासक्ति है। जो चित्त अनासक्त और निराकुल है, फिर वह चित्त गृहस्थ का हो या मुनि का, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। ध्यान के अधिकारी बनने के लिए आवश्यक यह है कि व्यक्ति का मानस निराकांक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न रहे। यह अनुभूत सत्य है कि कोई व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहकर भी निराकांक्ष,

अनाकुल और अनुद्विग्न बना रहता है। दूसरी ओर कुछ साधु, साधु होकर भी सदैव आसक्त, आकुल और उद्विग्न रहते हैं, अतः ध्यान का सम्बन्ध गृही जीवन या मुनि जीवन से न होकर चित्त की विशुद्धि से है। चित्त जितना विशुद्ध होगा ध्यान उतना ही स्थिर होगा।[90]

इससे स्पष्ट है कि गृहस्थ भी अपने चित्त को विशुद्ध कर तथा मोहरहित या अनासक्त होकर मुनि के समान ही मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधु-संन्यासी का वेश धारण करना आवश्यक नहीं है। *जैनधर्मामृत* और *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* में स्पष्ट रूप से मोहरहित गृहस्थ को मोहग्रस्त मुनि से श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है:

मोहरहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्ग पर स्थित है किन्तु मोहवान् मुनि मोक्षमार्ग पर स्थित नहीं है, क्योंकि मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ माना गया है।[91]

इसी प्रकार किसी भी पारमार्थिक साधना के सम्बन्ध में जाति और कुल का विचार करना भी व्यर्थ है। *जैनधर्मामृत* का स्पष्ट कथन है:

नीच कुल में जन्मा हुआ चाण्डाल भी यदि सम्यग्दर्शन से युक्त है, तो श्रेष्ठ है—अतः पूज्य है। किन्तु उच्च कुल में जन्म लेकर भी जो मिथ्यात्व-युक्त हैं, वे श्रेष्ठ और आदरणीय नहीं हैं।[92]

यहाँ यह भी याद रखना आवश्यक है कि अपनी ऊँची जाति, कुल, शारीरिक रंग-रूप, धन-सम्पत्ति, बल-बुद्धि या अन्य किसी भी प्रकार का अभिमान, ध्यान या धार्मिक साधना के लिए बाधक है। दूसरों को नीची निगाह से देखनेवाला और उनका अपमान करनेवाला स्वयं ही नीचे गिरता और अपमानित होता है, जैसा कि *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* में कहा गया है:

ज्ञान, पूजा (आदर, सत्कार), कुल, जाति, बल, धनसम्पत्ति, तपस्या और शरीर—इन आठों को लेकर गर्व करने को निरहंकार आचार्यों ने (आठ प्रकार का) मद कहा है। जो घमंडी व्यक्ति अपने घमंड में

अन्य धर्मात्माओं का अपमान करता है वह वास्तव में अपने ही धर्म का अपमान करता है।[93]

इस प्रकार सच्चा और प्रशंसनीय ध्याता वही है जो राग-द्वेष और मोह से ऊपर उठकर तथा संसार के प्रति अनासक्त भाव अपनाकर दृढ़ संकल्प और पूर्ण निष्ठा के साथ अडिग होकर ध्यान की साधना में जुटा रहता है। ध्यान या किसी भी पारमार्थिक साधना में जाति, कुल और वेश-भूषा का कोई महत्त्व नहीं है।

ध्यान का आसन, स्थान, समय और फल

ध्यान के लिए मन का एकाग्र और स्थिर बने रहना आवश्यक है। मन शरीर द्वारा प्रभावित होता है। इसलिए ध्यान के लिए वही आसन उपयुक्त हो सकता है जो शरीर के लिए कष्टकारक न हो। साथ ही शरीर को सीधा, सजग और स्थिर बनाये रखना भी आवश्यक है। इसलिए ध्यान के लिए न लेट जाना ठीक है और न लगातार खड़ा रहना ही ठीक है। बस शान्तिपूर्वक पलथी लगाकर सरल भाव से (विशेष तनकर नहीं) शरीर को सीधा रखकर सुखपूर्वक आसन लगाकर ध्यान में बैठ जाना चाहिए। *ज्ञानार्णव* में स्पष्ट कहा गया है:

जिस जिस आसनसे सुखरूप उपविष्ट (बैठा हुआ) मुनि अपने मन को निश्चल कर सके वही सुंदर आसन मुनियों को स्वीकार करना चाहिये।[94]

पतञ्जलि के *योगसूत्र* में भी आसन की परिभाषा देते हुए कहा गया है:

स्थिर सुखमासनम्।[95]

अर्थात् स्थिर होकर सुखपूर्वक बैठना ही आसन है।

ध्यान की सिद्धि के लिए बिना हिले-डुले और बिना कष्ट के जमकर अपने आसन में बैठे रहना आवश्यक है। ऐसा करने में सफल होना ही आसन को जीतना है जिसमें तन (शरीर) और मन—दोनों शान्त और स्थिर बने रहते हैं। इस सम्बन्ध में *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

जो योगी या साधक विशेषरूप से जितेन्द्रिय हैं वे आसन का जय करते हैं, अर्थात् आसन को जीतते हैं, क्योंकि जिनका आसन भले प्रकार से स्थिर है वे समाधि में किञ्चिन्मात्र (तनिक भी) कष्ट नहीं प्राप्त करते। भावार्थ—आसन को जीत ले तो समाधि (ध्यान) से चलायमान नहीं होता।

आसन के अभ्यास की विकलता से शरीर की स्थिरता नहीं रहती और समाधि के समय शरीर की विकलता से निश्चय ही कष्ट होता है।

उत्तम साधक या योगी को पर्यङ्कासन करके (पलथी लगाकर) ध्यान करना चाहिए। साधक या मुनि जब ध्यान का आसन जमाकर बैठे तब ऐसा होना चाहिए कि उसका अंग वा मन किसी प्रकार भी चलायमान न हो, तथा उसके वेगों का संकल्प शान्त हो गया हो, उसके समस्त भ्रम नष्ट हो गये हों, ऐसा निश्चल हो कि समीपस्थ प्राज्ञ (बुद्धिमान्) पुरुष भी ऐसा भ्रम करने लग जाये कि यह क्या पाषाण की मूर्ति है या चित्रित मूर्ति है। इस प्रकार आसन जीतने का विधान कहा गया है।[96]

जो साधक संयमी और विषयों के प्रति अनासक्त भाव धारण करनेवाले हैं, वे किसी भी आसन या अवस्था में निश्चल होकर ध्यान कर सकते हैं। इसलिए उनके ध्यान करने के लिए आसन आदि का कोई नियम नहीं है, जैसा कि *ज्ञानार्णव* में कहा गया है:

जो साधक या योगी संवेग वैराग्य युक्त हो (अपने मनोवेगों से उदासीन हो चुका हो), जो संवर रूप हो (काम, क्रोध आदि विकारों के प्रवाह से संवृत या सुरक्षित हो), धीर हो, जिसकी आत्मा स्थिर हो, चित्त निर्मल हो, वह मुनि सर्व अवस्था सर्व क्षेत्र और सर्व काल में ध्यान करने योग्य है।[97]

आदिपुराण में भी पलथी लगाकर सरल भाव से सीधे होकर सुखपूर्वक ध्यान में बैठने का उपदेश देते हुए कहा गया है:

साधक पर्यंक आसन बाँधकर (पलथी लगाकर) पृथ्वीतलपर विराजमान हो, उस समय अपने शरीर को सम सरल और निश्चल रखे। ध्यान के समय जिसका शरीर समरूप से स्थित होता है, अर्थात् ऊँचा-नीचा नहीं होता है, उसके समाधान अर्थात् चित्त की स्थिरता रहती है और जिसका शरीर विषम रूप से स्थित है उसके समाधान का भंग हो जाता है और समाधान के भंग हो जाने से बुद्धि में आकुलता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए मुनियों को ऊपर कहे हुए पर्यंक आसन से बैठकर और चित्त की चञ्चलता छोड़कर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। आकुलता उत्पन्न होने पर कुछ भी ध्यान नहीं किया जा सकता। इसलिए ध्यान के समय सुखासन लगाना ही अच्छा है। पर्यंक आसन अधिक सुखकर माना जाता है।[98]

ध्यान के उचित स्थान के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि ध्यान के लिए एकान्त स्थान में आसन लगाना ठीक है जहाँ विशेष शोरगुल, हलचल और अशान्ति न हो। *रत्नाकर शतक* में कहा गया है:

मन को एकाग्र करने के लिए एकान्त में अभ्यास करना परम आवश्यक है।[99]

यह बताते हुए कि एकान्त में ही ध्यान का अभ्यास करना व्यावहारिक है, रत्नाकर शतक में फिर कहा गया है:

व्यवहार में कार्य करनेवाली विधि यही है कि एकान्त स्थान में बैठकर ललाट के मध्य में—भौहों के बीच इसका (मन्त्र का) चिन्तन (ध्यान) करे।[100]

णाणसार (ज्ञानसार) में भी कहा गया है:

ध्यान के लिए ऐसा स्थान हो जहाँ ध्यान भंग के कारण, अर्थात् बाधा उपद्रव (विघ्न) की सम्भावना न हो।[101]

ध्यान के समय के सम्बन्ध में भी यही बात लागू है कि ध्यान का समय ऐसा हो जब शोर-गुल, अशान्ति या विघ्न-बाधा की सम्भावना न हो। इसी दृष्टि से रात के अन्तिम पहर (तीन बजे से छः बजे तक) को ध्यान का सबसे उपयुक्त समय माना जाता है। प्राचीन काल से ही महात्माओं ने इसे पारमार्थिक अभ्यास के लिए अति सुन्दर समय मानते हुए इसे 'ब्रह्म-वेला' या 'ब्रह्म-मुहूर्त' नाम दे रखा है। रात के अन्तिम पहर से सुबह तक की यह वेला, जो दिन के शोरगुल के शुरू होने के पहले की वेला है और जिससे नये दिन की शुरूआत होती है, ध्यान के लिए अनुकूल और शान्तिमय सिद्ध होता है। इसीलिए गणेशप्रसाद वर्णी कहते हैं:

> प्रातः उठकर भगवद्भक्ति करो। चित्त में शान्ति आना ही भगवद्भक्ति का फल है।[102]

पर संयमी और धीर साधक (ध्याता) के लिए कोई भी समय उपयुक्त है। इसलिए उनके लिए समय या स्थान का कोई भी नियम नहीं है।

जैन *महापुराण* में स्पष्ट कहा गया है:

> उस (ध्याता) के ध्यान करने का कोई नियत काल नहीं होता, क्योंकि सर्वदा शुभ परिणामों का होना सम्भव है। इस विषय में गाथा है—काल भी वही योग्य है जिसमें उत्तम रीति से योग का समाधान प्राप्त होता है। ध्यान करनेवालों के लिए दिन रात्रि और वेला आदि रूप से समय में किसी प्रकार का नियमन नहीं किया जा सकता है।[103]

वास्तव में संयमी और अभ्यस्त ध्याता के लिए समय, स्थान, आसन आदि का कोई खास नियम नहीं है। इसे स्पष्ट करते हुए *आदिपुराण* में भी कहा गया है:

> ध्यान करने के इच्छुक धीर-वीर मुनियों या साधकों के लिए दिन-रात और सन्ध्याकाल आदि काल भी निश्चित नहीं है, अर्थात् उनके लिए समय का कुछ भी नियम नहीं है, क्योंकि वह ध्यानरूपी धन सभी

समय में उपयोग करने योग्य है, अर्थात् ध्यान इच्छानुसार सभी समयों में किया जा सकता है, क्योंकि सभी देश (स्थान), सभी काल (समय) और सभी चेष्टाओं (आसनों) में ध्यान धारण करनेवाले अनेक मुनिराज आज तक सिद्ध हो चुके हैं, अब हो रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। इसलिए ध्यान के लिए देश, काल और आसन वगैरह का कोई खास नियम नहीं है। जो मुनि जिस समय, जिस देशमें और जिस आसन से ध्यानको प्राप्त हो सकता है उस मुनिके ध्यान के लिए वही समय, वही देश और वही आसन उपयुक्त माना गया है।[104]

ध्यानशतक के श्लोक 38-41 की व्याख्या करते हुए कन्हैयालाल लोढ़ा और सुषमा सिंघवी ने भी ध्यान के समय, स्थान और आसन के सम्बन्ध में इसी विचार की पुष्टि की है। वे कहते हैं:

ध्यान करनेवाले के लिए किसी निश्चित दिन, रात्रि और वेला का नियम नहीं बनाया जा सकता। परिपक्व ध्याता किसी भी काल में निर्बाध रूप से (बिना बाधा के) ध्यानस्थ हो सकता है।

ध्यान के लिए पद्मासन, वज्रासन, खड्गासन आदि कोई आसन-विशेष आवश्यक नहीं है। जिस आसन से सुख और स्थिरतापूर्वक बैठा जाय, ध्यान के लिए वही आसन उपयुक्त है।

सभी देश, सर्वकाल और सर्वचेष्टा (आसनों) में विद्यमान (स्थित होकर), उपशान्त दोषवाले (विकाररहित) अनेक मुनियों ने (ध्यान के द्वारा) उत्तम केवलज्ञान आदि की प्राप्ति की है, अतः ध्यान के लिए देश, काल, चेष्टा (आसन) का कोई नियम नहीं है किन्तु जिस प्रकार से मन, वचन और काया के योगों (क्रियाओं) का समाधान (स्थिरता) हो, उसी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए।[105]

ध्यान के लिए शान्त और स्थिर होना अत्यन्त आवश्यक है। इस बात को स्पष्ट करते हुए कन्हैयालाल लोढ़ा अपनी एक अन्य पुस्तक में कहते हैं:

ध्यान का स्थान एकान्त तथा शान्त होना चाहिए। ध्यान-काल में मौन रखना आवश्यक है। ध्यान के लिए किसी प्रकार का विशेष स्थान, विशेष काल व विशेष आसन हो, यह आवश्यक नहीं है। जो काल व स्थान अशान्ति का कारण नहीं हो, वही काल व स्थान ध्यान के लिए उपयुक्त है। जिस आसन से स्थिरता व सुखपूर्वक बैठे रह सकें, उसी आसन से बैठ जायें। रीढ की हड्डी सीधी रखें, आँखें मूँद लें।[106]

अज्ञानवश झूठे विषय-सुख की खोज में बाहर भटकनेवाले मन को ध्यान द्वारा ही अन्दर में मोड़ा जाता है। अज्ञान और दुःख से जीव को मुक्त करने का ध्यान ही एकमात्र कारगर साधन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जैन धर्म में ध्यान को एक व्यापक अर्थ में लिया जाता है जिसमें ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर इसकी पूर्ण परिपक्व अवस्था तक की सभी अवस्थाएँ शामिल हैं। प्रारम्भ में जब तक एकाग्रता और स्थिरता की कमी रहती है तब तक ध्यानी को ध्यान के लाभ का अनुभव नहीं होता। पर जब धीरे-धीरे अन्तर में एकाग्रता आती जाती है तब अन्तर का अँधेरा दूर होने लगता है और आन्तरिक दिव्य प्रकाश और दिव्यध्वनि के अनुभव से ध्यानी को ध्यान का आनन्दमय रस प्राप्त होने लगता है। ध्यान द्वारा कर्मों की कालिमा हटती है, अन्धकार दूर होता है, प्रकाश प्रकट होता है, विषयों की भूख मिटती है, चित्त में शान्ति और साम्यभाव का उदय होता है, सभी पारमार्थिक गुण और शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं, सभी अभिलाषाएँ पूरी हो जाती हैं, आत्मा परमात्मा से अभेद होकर परमात्मा बन जाती है और उसे सदा के लिए मोक्ष के अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार ध्यान द्वारा उन सभी पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है जो मनुष्य के लिए प्राप्त करने योग्य हैं और ध्यानी का मनुष्य-जीवनसार्थक हो जाता है। *ज्ञानार्णव* में ध्यान द्वारा प्राप्त होनेवाले फलों का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है:

अहो देखो, यह आत्मा अनन्तवीर्यवान् (अनन्त शक्ति से युक्त) है तथा समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाली है तथा ध्यान शक्ति के प्रभाव

से तीनों लोकों को भी चलायमान कर सकती है। इस आत्मा की शक्ति योगियों के भी अगोचर है, क्योंकि इससे अनन्त पदार्थों को देखने जानने की शक्ति प्रकट होती है।

ध्यानी जिस समय विशुद्ध ध्यान के बलसे कर्मरूपी इन्धनों को भस्म कर देता है उस समय यह आत्मा ही स्वयं साक्षात् परमात्मा हो जाती है, यह निश्चय है।

इस आत्मा के गुणों का समस्त समूह ध्यान से ही प्रकट होता है तथा ध्यान से ही अनादि काल की संचित की हुई कर्मसन्तति (कर्मों की परम्परा) नष्ट होती है। आत्मा की शक्तियाँ सब स्वाभाविक हैं। सो अनादिकाल से कर्मों के द्वारा ढकी हुई हैं। ध्यानादिक करने से प्रकट होती हैं। सब नई उत्पन्न हुई दीखती हैं। सो ज्ञानरूपी दीपक के प्रकाश होने पर प्रकट होती हैं।

यह आत्मा तीन जगत् का भर्ता (स्वामी) है, समस्त पदार्थों का ज्ञाता है, अनन्तशक्तिवाला है, परन्तु अनादिकाल से अपने स्वरूप से च्युत होकर (गिरकर) अपने-आपको नहीं जानता है। यह आत्मा दर्शन ज्ञान नेत्रवाला है, परन्तु अज्ञानरूपी अन्धकार से व्याप्त हो रहा है। इस कारण जानता हुआ भी नहीं जानता और देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता।

समभाव ध्यान से निश्चल ठहरता है। जिस पुरुष का ध्यान निश्चल है उसका समभाव भी निश्चल है। ध्यान का आधार समभाव है और समभाव का आधार ध्यान है।

समीचीन (उचित) प्रशस्त ध्यान से केवल साम्य ही स्थिर नहीं होता, किन्तु कर्म के समूह से मलिन यह यन्त्रवाहक (कर्मों के कारण यन्त्र की तरह चलनेवाला) जीव भी शुद्ध होता है, अर्थात् ध्यान से कर्मों का क्षय भी होता है।

जिस समय संयमी साक्षात् समभाव को अवलंबन करता है उसी समय उसके कर्मसमूह का घात करनेवाला ध्यान होता है।

भावार्थ—समता भावके विना ध्यान कर्मों का क्षय करने का कारण नहीं होता। अनादि कालके विभ्रम से उत्पन्न हुआ रागादिक अन्धकार

अति निबिड़ (सघन) है, सो ध्यानरूपी सूर्य उदय होकर जीवके उस अन्धकार को तत्काल दूर कर देता है।

संसाररूपी अग्नि से उत्पन्न हुए बड़े आतप (प्रचण्ड गर्मी) की प्रशान्ति के लिए धीरवीर पुरुषों के द्वारा ध्यानरूपी समुद्र में अवगाहन (स्नान) करने की ही प्रशंसा की जाती है।

यह प्रशस्त ध्यान ही मोक्ष का एक प्रधान कारण है, और यह ही पाप के समूहरूपी महाबन को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है।[107]

आदिपुराण में ध्यान से प्राप्त होनेवाले फलों का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है:

मोक्ष के साधनों में ध्यान ही सबसे उत्तम साधन माना गया है। यह कर्मों के क्षय करनेरूप कार्यका मुख्य साधन है। ऋषियों में श्रेष्ठ गणधरादि देव अनन्त सुखको ही ध्यान का फल कहते हैं। जिस प्रकार वायु से टकराये हुए मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से टकराये हुए कर्मरूपी मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवोंको निरन्तर ध्यान का अभ्यास करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। ध्यान करनेवाले योगी के चित्त के सन्तुष्ट होने से जो परम आनन्द होता है वही सबसे अधिक ऐश्वर्य है, फिर योग से होनेवाली अनेक ऋद्धियों का तो कहना ही क्या है? भावार्थ—ध्यान के प्रभाव से हृदय में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वही ध्यान का सबसे उत्कृष्ट फल है और अनेक ऋद्धियों की प्राप्ति होना गौण फल है।[108]

वे मनुष्य सचमुच धन्य हैं जो अर्हत् देव या सच्चे सन्त सद्गुरु की शरण लेकर उनसे दीक्षा ग्रहण करते हैं, उनसे ध्यान के स्वरूप, उसकी विधि और उसके भेदों को भली-भाँति समझकर उसके अभ्यास में दृढ़ता से लग जाते हैं और इस प्रकार अपने जीवन को सफल बना लेते हैं।

10

आत्मा से परमात्मा

आत्मा अपने असली रूप में परम शुद्ध होती है। इसकी शुद्धता में अभाव आने के कारण ही यह संसार के बन्धन में पड़ती है और शुद्धता की प्राप्ति होने पर मुक्त हो जाती है, अर्थात् परमात्मरूप ग्रहण कर लेती है। अशुद्धता और शुद्धता की दृष्टि से जैन धर्म में आत्मा की तीन प्रमुख अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं जिनके अनुसार आत्मा के निम्नलिखित तीन प्रमुख भेद किये जाते हैं: बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इन भेदों को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है। इन्हें समझने की आवश्यकता बतलाते हुए आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज कहते हैं:

> जो पुरुष मोहनीय कर्म की तीव्रता से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन आत्मा के तीनों भेदों को नहीं जानता है वह पुरुष उन्मत्त (मतवाले) पुरुष के समान अत्यन्त निंदनीय कार्यों को किया करता है और संसार में मूर्ख कहलाता है। परन्तु जो पुरुष इन तीनों प्रकार के आत्मा के स्वरूप को जानता है वह पुरुष बहिरात्म-बुद्धि का त्याग कर देता है। अन्तरात्मा में निवास करता है और फिर वह उत्तम पुण्यवान् पुरुष अत्यन्त शुद्ध ऐसे परमात्मा को देखने का प्रयत्न करता है। ...अतएव प्रत्येक भव्य (मोक्षार्थी) जीव का कर्तव्य है कि वह बहिरात्म-बुद्धि का त्याग कर अन्तरात्मा बने तथा अन्तरात्मा बनकर परमात्मा बनने का प्रयत्न करे; क्योंकि परमात्मा ही आत्मा का सर्वोत्कृष्ट कल्याण है।[1]

बहिरात्मा

जैनधर्मामृत में बहिरात्मा का स्वरूप इस प्रकार समझाया गया है:

> आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
> बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥
>
> जिस जीव के शरीरादि पर-पदार्थों में आत्म-बुद्धि है, अर्थात् जो आत्मा के भ्रम से शरीर-इन्द्रिय आदि को ही आत्मा मानता है और जिसकी चेतना-शक्ति मोहरूपी निद्रा से अस्त हो गयी है, उसे बहिरात्मा जानना चाहिए।[2]

स्पष्ट है कि जो जीव मोहवश भ्रम में पड़कर शरीरादि बाहरी वस्तुओं को आत्मा मानता है, उन्हें अपना समझता है और उनके प्रति राग-द्वेष आदि रखकर उनमें आसक्त होता है, उसे जन्म-मरण के चक्र में आना पड़ता है।

शरीर और इन्द्रियों को आत्मा समझने की भूल के कारण वह उनके द्वारा इस संसार में अनेकों प्रकार के कर्म करने में उलझा रहता है और सोचता है कि इन कर्मों द्वारा वह अपना कल्याण कर सकेगा और सुखी बन जायेगा। पर उसे बार-बार इस संसार से निराश होकर ही जाना पड़ता है।

इस प्रकार शरीरादि को आत्मा समझनेवाले जीव के शरीरादि द्वारा किये गये कार्य आत्मा के अनुकूल न होकर इसके प्रतिकूल ही होते हैं, जैसा कि *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> अक्षद्वारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुखैर्भृशम्।
> व्यापृतो बहिरात्माऽयं वपुरात्मेति मन्यते॥
>
> इन्द्रियों के द्वारा बाहरी व्यापारों में उलझा हुआ यह बहिरात्मा शरीर को ही आत्मा मानता है। इसका व्यापार स्वतत्त्व से अर्थात् अपनी आत्मा से सदा सर्वथा विमुख या प्रतिकूल ही रहता है[3]

आत्मा चेतन और अविनाशी है, पर शरीर जड़ और नाशवान् है। इसलिए इन दो बिल्कुल भिन्न पदार्थों को एक मानना सर्वथा भ्रामक और अकल्याणकारी सिद्ध होता है। इस सचाई की ओर ध्यान दिलाते हुए आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज कहते हैं:

शरीर, आत्मा कभी एक नहीं हो सकते। शरीर जड़ है और आत्मा चैतन्यमय वा ज्ञानमय है। इसलिए शरीर और आत्मा को एक ही माननेवाली बुद्धि सर्वथा मिथ्या है। जो जीव इन भेदों को नहीं जानता वह बहिरात्म बुद्धि का त्याग नहीं कर सकता और इसलिए वह आत्मा के कल्याण के कार्यों को तो छोड़ देता है और शरीर को सुख देने के लिए अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न करता रहता है, जिनसेकि वह सदाकाल संसार में परिभ्रमण किया करता है। परन्तु जो पुरुष इस आत्मा के यथार्थ भेदों को जानता है वह त्याग करने योग्य बहिरात्म बुद्धि का त्याग कर देता है और अंतरात्मा बनकर परमात्मा बनने का प्रयत्न करता है।[4]

कानजी स्वामी ने भी शरीर और आत्मा की भिन्नता को बड़ी ही स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है। वे कहते हैं:

जो जड़ है वह तीनों काल जड़ ही रहता है, और जो चेतन है वह तीनों काल चेतन ही रहता है। जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं होते; शरीर और आत्मा सदैव जुदे ही हैं। ऐसे आत्मा को अनुभव में लेने से सम्यग्दर्शन होकर अपूर्व शान्ति होती है। ऐसे आत्मा की धर्मदृष्टि के बिना मिथ्यात्व मिटता नहीं, दु:ख टलता नहीं और शान्ति होती नहीं।[5]

हमारे शरीर की पाँचों इन्द्रियाँ केवल संसार के बाहरी विषयों से सम्पर्क बनाने के लिए बनायी गयी हैं। वे अन्दर जाकर आत्मा से सम्पर्क नहीं बना सकतीं। इन्हें अपना मानकर इनके द्वारा जिन बाहरी विषयों को प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है, वे सभी भ्रामक और अकल्याणकारी सिद्ध होते है। *जैनधर्मामृत* में स्पष्ट कहा गया है:

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मन:।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥

पाँचों इन्द्रियों के विषयों में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो आत्मा का भला करनेवाला हो, तो भी यह अज्ञानी जीव अनादि काल के अज्ञान

भावना से उत्पन्न संस्कार के कारण उन्हीं इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है।[6]

बहिरात्म बुद्धिवाले व्यक्ति का शरीर के साथ इतना गहरा अपनेपन का भाव हो जाता है कि वह शरीर के गुणों को ही अपना गुण मानने लगता है। शरीर के काले-गोरे, दुबले-मोटे, सुरूप-कुरूप, रोगी-नीरोग आदि होने पर वह इन गुणों को अपना ही गुण मानने लगता है और इनके कारण सुखी या दुःखी होता है। शरीर की इन्द्रियों के साथ भी उसका ऐसा ही अपनेपन का भाव होता है और वह अपने को इनसे अभिन्न मानकर इनकी विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार अपने को अन्धा, काना, बहरा, लूला, लँगड़ा आदि मानता है। शरीर के साथ अपनत्व भाव होने के कारण ही उसे इस अमर और अविनाशी आत्मा के जन्म-मरण के चक्र में पड़े होने का अनुभव होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विभिन्न योनियों में शरीर धारण करने पर वह उन्हीं रूपों को अपना स्वरूप मानता है। इस प्रकार इन सब कुछ में उसका 'मैं हूँ' का भाव, अर्थात् अंहभाव दृढ़ होता रहता है।

जिस प्रकार वह अपनी आत्मा को देहरूप में ग्रहण करता है उसी प्रकार वह दूसरी आत्माओं को भी देहरूप ही मानता है। इस प्रकार वह अपने और *पराये के भ्रम में पड़ जाता है। शरीर में आत्म-बुद्धि होने के कारण ही वह राग,* द्वेष और मोह का शिकार बनता है और विभिन्न आत्माओं में उसे माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि का भाव उत्पन्न होता है।

शरीर में आत्म-भाव होने से अहंभाव के साथ ही ममत्व-भाव, अर्थात् मेरेपन का भाव भी उत्पन्न हो जाता है, जैसे 'यह मेरी माता है', 'यह मेरा पुत्र है', 'यह मेरा मित्र है' इत्यादि। ममत्व-भाव केवल दूसरी आत्माओं तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि यह अन्य सांसारिक वस्तुओं पर भी छा जाता है, जैसे, 'यह मेरा घर है', 'ये मेरे कपड़े हैं', 'यह मेरी सम्पत्ति है', इत्यादि।

इस प्रकार के भ्रम से उत्पन्न मोह के कारण राग-द्वेष आदि विकार लगातार बढ़ते जाते हैं और संसार या आवागमन की जड़ अविद्या का संस्कार दृढ़ होता जाता है। जन्म-जन्मान्तर से दृढ़ हुए अविद्या के संस्कार के कारण आत्मा

को शरीर मानने का भाव इतना स्वाभाविक लगने लगता है कि बार-बार साधु-महात्माओं के उपदेशों को सुनने के बाद भी इस भ्रम से छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसीलिए आचार्य अमितगति मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने का उपदेश देते हुए बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहते हैं:

> मोही जीव मोह में फँसकर अपने स्वरूप को भूल जाता है। इसलिए अनन्त सुख को देनेवाली मुक्ति को कभी नहीं पा सकता है। वास्तव में मुक्ति अपने सच्चे आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति है।[7]

मोही जीव को अपने कुटुम्ब के प्रति विशेष आसक्ति होती है। इसलिए कुटुम्ब की असलियत बताते हुए वे फिर कहते हैं:

> एक कुटुम्ब में जीव भिन्न-भिन्न गतियों (योनियों) से आकर जमा हो जाते हैं। वे ही जीव आयु पूरी करके अपनी-अपनी बाँधी गति के अनुसार चले जाते हैं। धर्मशाला के यात्रियों के समान कुटुम्बीजनों का समागम (मिलाप) है। मोही जीव उनसे गाढ़ (गहरा) मोह करके अपने स्वात्मा (अपनी आत्मा) को भूल जाते हैं।[8]

यदि हम किसी भी व्यक्ति की मृत्यु के समय पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति उसकी गहरी आसक्ति थी उन सबको छोड़कर उसे अकेले ही संसार से जाना पड़ता है। अन्त समय में कोई भी सगा-सम्बन्धी, माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्ब-परिवार अथवा कुछ भी *धन-सम्पत्ति या हाट-हवेली साथ नहीं जाती। इसलिए इन सबके प्रति अपनी* आसक्ति को त्यागकर आत्म-स्वरूप की पहचान करनी चाहिए।

किन्तु यह सबकुछ बाहरी तौर पर देखने और सुनने के बाद भी बाहरी विषयों से ध्यान को हटाना और इसे अपने अन्दर लाकर चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन करना अत्यन्त कठिन है। पर यही सच्चा योग है जिसके द्वारा सच्चे आत्मज्ञान और सच्ची मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसी तथ्य को समझाते हुए *एकत्वाशीति* में पद्मनन्दि मुनि कहते हैं:

बहिर्विषयसम्बन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा।
अतस्तद् भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ।[9]

अर्थात् सभी बाहरी विषयों से सम्बन्ध होना सभी जीवों के लिए सदा ही सुलभ है, पर इन बाहरी विषयों से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा का ज्ञान (अनुभव) प्राप्त करना, जो वास्तविक योग है, दुर्लभ है।

बहिरात्म-बुद्धि जीव को इतनी बुरी तरह जकड़ लेती है कि उसका विवेक नष्ट हो जाता है अथवा अत्यन्त मन्द पड़ जाता है। ऐसा मूढ़बुद्धि जीव अपने हित और अहित को नहीं समझ पाता और स्वयं अनन्त आनन्दस्वरूप होते हुए भी अपने निज स्वरूप को भूलकर क्षुद्र इन्द्रिय-सुख के लिए सांसारिक विषयों के पीछे बेतहाशा दौड़ता रहता है। *जैनधर्मामृत* में हीरालाल जैन ने ऐसे जीव की दशा का बड़ा ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। वे कहते हैं:

> बहिरात्मा के अपने आत्मा की भलाई-बुराई का परिज्ञान नहीं होता है, इसलिए वह आत्मा के परम शत्रुस्वरूप इन्द्रिय-विषयों को बड़े चाव से सेवन करता है। ऐसा बहिरात्मा प्राणी सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए निरन्तर छटपटाता रहता है और अनेक निरर्थक आशाओं को करता रहता है। राक्षसी और आसुरी वृत्ति को धारण करता है, प्रमादी, आलसी और अतिनिद्रालु होता है, क्रोध, मान, माया, दम्भ और लोभ से युक्त होता है। काम-सेवन में आसक्त एवं भोगोपभोग के साधन जुटाने में संलग्न रहता है और सोचा करता है कि आज मैंने यह पा लिया है, कल मुझे यह प्राप्त करना है, मेरे पास इतना धन है, और आगे मैं इतना कमाऊँगा। मेरा अमुक शत्रु है, मैंने अमुक शत्रु को मार दिया है और अमुक को अभी मारूँगा। मैं ईश्वर हूँ, स्वामी हूँ, ये सब मेरे सेवक और दास हैं। मेरे समान दूसरा कौन है, मैं कुलीन हूँ, और ये अकुलीन हैं, इस प्रकार के विचारों से यह बहिरात्मा प्राणी सदा घिरा रहता है।[10]

इससे स्पष्ट है कि संसार से मुक्ति और सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए बहिरात्म-भाव का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

अब हमें यह समझना है कि जैन धर्म के अनुसार अन्तरात्मा किसे कहते हैं और अन्तरात्मा बनने का क्या उपाय है।

अन्तरात्मा

हम देख चुके हैं कि आत्मा चेतन स्वरूप है। इसके विपरीत शरीर, इन्द्रिय और संसार की सभी अन्य बाहरी वस्तुएँ जड़ या अचेतन हैं। इसलिए बाहरी वस्तुओं को आत्मा मानने की भूल को मिथ्या दृष्टि या बहिरात्मा कहा गया है और इसे त्यागने का उपदेश दिया गया है। जिस चेतन स्वरूप आत्मा को हम जानना चाहते हैं, वह कहीं बाहर नहीं है। वह हमारे अन्दर ही है और अपने अन्दर ही हम उसे जान सकते हैं। अपने अन्दर में अनुभव की जानेवाली इस चेतन सत्ता या आत्मा को ही जैन धर्म में अन्तरात्मा कहा जाता है। जब तक हमारा ध्यान आत्मा से भिन्न बाहरी पदार्थों में अटका रहता है और हम बाहरी वस्तुओं में आसक्त रहते हैं तब तक हमें अन्तरात्मा का ज्ञान या अनुभव नहीं हो सकता। अन्तरात्मा का अनुभव प्राप्त करने के लिए हमें अपनी इन्द्रियों को बाहर जाने से रोककर अपने ध्यान को अन्दर में एकाग्र करना आवश्यक है। तभी हमें अपने अन्तर में अपनी आत्मा का प्रकाश दिखाई पड़ सकता है। अन्य किसी भी उपाय से अन्तरात्मा का ज्ञान सम्भव नहीं है।

यह समझाते हुए कि अन्तरात्मा किसे कहते हैं, पंडित हीरालाल जैन कहते हैं:

> जिसकी दृष्टि बाहरी पदार्थों से हटकर अपने आत्मा की ओर रहती है, जिसे स्व-पर का (अपने और अपने से भिन्न दूसरों का) विवेक हो जाता है, जो लौकिक कार्यों में अनासक्त और आत्मिक कार्यों में सावधान रहता है, उसे अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि कहते हैं।[11]

अन्तरात्मा का ज्ञान किसी बाहरी इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ केवल बाहरी विषयों का ही ज्ञान दे सकती हैं। उनकी पहुँच कभी अन्तर में नहीं हो सकती। इसलिए अन्तरात्मा का ज्ञान केवल अपने अन्तर में ही हो सकता है। यों प्रत्येक जीव को 'मैं हूँ' का अनुभव होता है।

इसप्रकार प्रत्येक जीव को अपनी आत्मा के अस्तित्व का आभास होता है। पर उसे अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव नहीं होता कि वह वास्तव में अविनाशी, अनन्त ज्ञानमय और आनन्दमय है। इसका अनुभव प्राप्त करने के लिए अपने ध्यान को बाहरी विषयों से हटाकर एकाग्रता के साथ अन्दर में लगाना आवश्यक है। इसे *जैनधर्मामृत* में इस प्रकार समझाया गया है:

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्॥

इन्द्रिय-समुदाय का नियमन कर और चित्त को एकाग्र कर आत्मा अपने ही द्वारा अपने में अवस्थित होकर अपने स्वरूप का ध्यान करे।

भावार्थ—आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए बाह्य किसी भी वस्तु के ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, अपितु उनके त्याग की ही आवश्यकता है। जब यह आत्मा चारों ओर से अपनी प्रवृत्ति हटाकर, इन्द्रियों के विषय और मन की चंचलता को भी रोककर अपने-आपमें स्थिर होने का प्रयत्न करती है, तभी उसे आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है।[12]

आत्मा का स्वरूप अनन्त ज्ञानमय और परम प्रकाशमय है। इसलिए जब साधक बाहरी विषयों की ओर दौड़नेवाली अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित कर एकाग्र भाव से अपने ध्यान को अपने अन्दर ले जाता है, तब उसे अन्तरात्मा के प्रकाश या आन्तरिक ज्योति का दर्शन होता है। इसका उल्लेख *जैनधर्मामृत* में इस प्रकार किया गया है:

इस जड़ पार्थिव देह में आत्म-बुद्धि का होना ही संसार के दुःख का मूल कारण है, अतएव इस मिथ्या बुद्धि को छोड़कर और बाह्य विषयों में दौड़ती हुई इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर अन्तरंग में प्रवेश करे। अर्थात् ज्ञान-दर्शनात्मक अन्तर्ज्योति में आत्म-बुद्धि करे, उसे अपनी आत्मा माने।

जो यह इन्द्रियों का विषयात्मक रूप है, वह मेरे आत्मस्वरूप से विलक्षण है—भिन्न है। मेरा रूप तो आनन्द से भरा हुआ अन्तर्ज्योतिमय है।

अतः इस शरीर को, इन्द्रियों को और उनके विषयों को आत्मस्वरूप से सर्वथा भिन्न जाने।[13]

शरीरादि को आत्मा समझने के कारण जीव जिस अज्ञान के घोर अन्धकार में पड़ा इस संसार में भटक रहा है उस अन्धकार का विनाश केवल इस आन्तरिक ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। यह ज्ञान का प्रकाश तीसरे नेत्र के खुलने पर ही प्राप्त होता है। *जैनधर्मामृत* में इसे इन उपमाओं द्वारा समझाया गया है:

जो मिथ्याज्ञानरूप उत्कट (घोर) अन्धकार चन्द्र के अगम्य है (अर्थात् जहाँ चन्द्रमा का प्रकाश पहुँच नहीं सकता) और सूर्य से भी दुर्भेद्य है, (अर्थात् जहाँ सूर्य की किरणें भी प्रवेश नहीं कर सकतीं) वह सम्यग्ज्ञान से ही नष्ट किया जाता है।

इस संसाररूपी उग्र (कठिन) मरुस्थल में दुःखरूपी अग्नि से संतप्त जीवों को यह सत्यार्थ ज्ञान (आत्मारूपी सत्य पदार्थ का ज्ञान) ही अमृतरूपी जल से तृप्त करने के लिए समर्थ है, अर्थात् संसार के दुःखों को मिटानेवाला सम्यग्ज्ञान ही है।

जबतक ज्ञानरूपी सूर्य का सातिशय (पूर्ण प्रकाश के साथ) उदय नहीं होता है, तभीतक यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित रहता है, किन्तु ज्ञान के प्रकट होते ही अज्ञान का विनाश हो जाता है।

इन्द्रिय रूप मृगों को बाँधने के लिए ज्ञान ही एक दृढ़ पाश (फंदा) है, क्योंकि ज्ञान के बिना इन्द्रियाँ वश में नहीं होतीं। तथा चित्तरूपी सर्प का निग्रह (नियन्त्रण) करने के लिए ज्ञान ही एकमात्र गारुडमहामन्त्र है, क्योंकि ज्ञान से ही मन वशीभूत होता है।

ज्ञान ही तो संसाररूपी शत्रु के नष्ट करने के लिए तीक्ष्ण खड्ग (तलवार) है और ज्ञान ही समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए तीसरा नेत्र है।[14]

अपने अन्तर में ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर जीव का संसार के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है, क्योंकि तब जीव सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता और मिथ्यात्व को यथार्थ रूप में समझने लगता है। इस प्रकार जीव अपने

स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही अन्य पदार्थों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसलिए आत्मा को स्वपरभासी, अर्थात् अपने और साथ ही अपने से भिन्न पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली कहा जाता है। इस तथ्य को आचार्य कुन्थुसागरजी ने एक उपमा के सहारे इस प्रकार समझाया है:

> जिस प्रकार दीपक अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है और अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है, जलते हुए दीपक को देखने के लिए किसी अन्य दीपक को देखने की आश्यकता नहीं होती, वही जलता हुआ दीपक अपने स्वरूप को भी प्रकाशित कर देता है, इसी प्रकार यह ज्ञानमय आत्मा अपने ज्ञान से अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करती है और स्वानुभूति के द्वारा अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करती है।[15]

यहाँ दीपक की उपमा केवल आत्मा के स्वपरभासी होने का संकेत देने के लिए दी गयी है। वास्तव में आत्मा अलौकिक है, जिसकी उपमा संसार की किसी भी वस्तु से दी ही नहीं जा सकती। इसे केवल निजी अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। कानजी स्वामी ने स्पष्ट रूप से कहा है:

> अलौकिक चीज आत्मा है, उसके स्वभाव को अन्य कोई बाह्य पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती, अपने स्वभाव से ही वह जाना जाता है। ऐसे आत्मा को जब स्वानुभव से जाने तभी सम्यग्दर्शन होता है।[16]

आत्मा के आनन्द स्वरूप का उल्लेख करते हुए भी वे आत्मा की बाह्य पदार्थों से भिन्नता दिखलाते हैं। वे कहते हैं:

> आत्मा स्वयं सुखधाम है फिर विषयों का क्या काम है? जिसको आत्मा में से ही सुख का अनुभव हो रहा है उसे बाह्य विषयों का क्या काम है? जहाँ आत्मा के सहज सुख में लीनता है वहाँ बाह्य पदार्थ की इच्छा ही नहीं रहती। सुख तो आत्मा में से उत्पन्न होता है, किसी बाह्य वस्तु में से नहीं आता। बाह्य पदार्थों का उपभोग करना कौन चाहेगा?—कि जो इच्छा से दुःखी होगा, वह। जो स्वयं अपने आप सुखी होगा वह अन्य पदार्थ की इच्छा क्यों करेगा? जो नीरोग हो वह दवाई की क्यों इच्छा करे?[17]

जैन धर्म में भेद-विज्ञान द्वारा भी आत्मा को अन्य वस्तुओं से भिन्न बतलाया गया है और उसके स्वरूप का अनुभव प्राप्त करने पर ज़ोर दिया गया है, जैसा कि हुकमचन्द भारिल्ल के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है:

> पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान 'स्व' और 'पर' के बीच किया जाता है, अत: इसे स्वपर-भेद विज्ञान भी कहा जाता है। वस्तुत: यह आत्म-विज्ञान ही है, क्योंकि इसमें पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही मूल प्रयोजन है।
>
> भेद विज्ञान में मूल बात दोनों को मात्र जानना या एकसा जानना नहीं, भिन्न-भिन्न जानना है। भिन्न-भिन्न जानना भी नहीं, पर से भिन्न स्व को जानना है। पर को छोड़ने के लिए जानना है और स्व को पकड़ने के लिए। पर को मात्र जानना है और स्व को जानकर उसमें जमना है, रमना है।[18]

जबतक जीव को अन्तरात्मा का अनुभव नहीं होता तबतक पारमार्थिक दृष्टि से वह सोया रहता है; अन्तरात्मा के अनुभव द्वारा ही वह जागृत होता है। इस आत्मा का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता और न वचन द्वारा इसका वर्णन किया जा सकता है। अन्तरात्मा का ज्ञान केवल आन्तरिक अनुभव द्वारा ही होता है और इस ज्ञान के होने पर ही अन्य पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से अन्तरात्मा के ज्ञान के बिना अन्य सभी ज्ञान को निरर्थक कहा गया है। अनेक जैन ग्रन्थों में इन बातों की ओर हमारा ध्यान दिलाया गया है। उदाहरण के लिए, *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> जिस शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति न होने से मैं अबतक मोह-निद्रा में सोता रहा और जिस शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति होने पर मैं जागृत हुआ हूँ, अर्थात् यथावत् वस्तुस्वरूप को जानने लगा हूँ, वह शुद्धात्म-स्वरूप अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है और अनिर्देश्य है अर्थात् वचनादि के भी अगोचर है। वह तो केवल अपने-द्वारा आप ही अनुभव करने योग्य है, उसी रूप मैं हूँ।[19]

आत्मज्ञान के बिना अन्य पदार्थों के ज्ञान को मिथ्या ज्ञान या अज्ञान बतलाते हुए *श्रावक प्रतिक्रमणसार* में कहा गया है:

> जो अपने आत्मा के स्वरूप को जानता हुआ अन्य पदार्थों के स्वरूप को जानता है वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जो ज्ञान अपने आत्मा के स्वरूप को नहीं जानता वह अन्य पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ रीति से नहीं जान सकता। यही कारण है कि आत्मज्ञान के बिना जितना ज्ञान है वह सब मिथ्या-ज्ञान वा अज्ञान कहलाता है।[20]

सभी धार्मिक प्रयत्नों का लक्ष्य भी आत्मज्ञान की प्राप्ति ही है। इसलिए जो धार्मिक कार्य आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक न हो, उसे निरर्थक ही समझना चाहिए। यह बतलाते हुए कि अपनी आत्मा की अनुभूति (अनुभव) के बिना सभी धार्मिक प्रयत्न निरर्थक हैं, हुकमचन्द भारिल्ल अपनी पुस्तक, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* में कहते हैं:

> सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अनिवार्य शर्त है आत्मानुभूति का प्राप्त होना। आत्मानुभूति के बिना समस्त प्रयत्न निरर्थक है। ...अन्तिम रूप से इतना कहना है कि एकमात्र परमार्थ स्वरूप आत्मा का अनुभव करो, ...एकमात्र निज शुद्धात्मा का अनुभव करना ही सार है।[21]

आत्मा के आन्तरिक अनुभव द्वारा जब अभ्यासी को आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है तब वह आत्मा को नित्य अमर और अविनाशी तथा सभी बाहरी पदार्थों से भिन्न समझकर उनसे वीतराग या अनासक्त हो जाता है। *जैनधर्मामृत* के अनुसार उसकी विचारधारा इस प्रकार की हो जाती है:

> ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न मेरी यह आत्मा सदा एक अखण्ड, ध्रुव, अविनाशी और अमर है। इसके अतिरिक्त जितने बाहरी पदार्थ हैं, वे सब मेरे से भिन्न हैं और नदी-नाव-संयोग के समान कर्म-संयोग से प्राप्त हुए हैं। इसलिए मुझे पर पदार्थों में राग-द्वेष को छोड़कर एकमात्र अपनी आत्मा में ही अनुराग करना चाहिए।

मैं सदाकाल एक हूँ (पर के संयोग से रहित हूँ), निर्मम हूँ (ममत्व भाव से रहित हूँ), शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ (स्व पर के भेद-विज्ञानरूप विवेक-ज्योति से प्रकाशमान हूँ) और योगीन्द्रगोचर हूँ (केवल-श्रुतकेवली आदि महान् योगियों के ज्ञान का विषय हूँ)। कर्म-संयोग से प्राप्त बाहरी सभी पदार्थ मेरे से सर्वथा भिन्न हैं, वे त्रिकाल में भी मेरे नहीं हो सकते।[22]

सांसारिक विषयों के प्रति राग या आसक्ति होने के कारण ही जीव बन्धन में पड़ता है और उनसे वीतराग या अनासक्त हो जाने पर मुक्त हो जाता है। यही जैन धर्म का मूल उपदेश है, जैसा कि *जैनधर्मामृत* में स्पष्ट किया गया है:

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥

स्त्री-पुत्र-धनादि में ममता रखनेवाला जीव कर्मों से बँधता है और उनमें ममता भाव नहीं रखनेवाला जीव कर्मों से छूटता है। इसलिए ज्ञानी जनों को चाहिए कि वे सर्व प्रकार के प्रयत्न के द्वारा निर्ममत्वभाव का चिन्तन करें; अर्थात् पर पदार्थों में ममता का त्याग करें।

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुञ्चति।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद् बन्धमोक्षयोः॥
रागी जीव कर्मों को बाँधता है और वीतरागी कर्मों से विमुक्त होता है।
संक्षेप में जिनदेव ने बन्ध और मोक्ष का इतना ही उपदेश दिया है।[23]

वीतरागता या अनासक्ति का भाव दृढ़ करने के लिए अभ्यासी को सांसारिक व्यक्तियों और पदार्थों के प्रति अपने ममत्व का पूरी तरह त्याग कर देना बिल्कुल आवश्यक है। इस ममत्व से छुटकारा पाने के लिए *जैनधर्मामृत* में अभ्यासी को निम्नलिखित विचारधारा को अपनाने का उपदेश दिया गया है:

कुटुम्ब, धन और शरीरादि के संयोग से ही देहियों को (शरीरधारी संसारी प्राणियों को) इस संसार में सहस्रों दुःख भोगने पड़ते हैं।

इसलिए मैं मन-वचन-काय से इन सर्व परपदार्थों को छोड़ता हूँ अर्थात् उनमें ममत्वभाव का परित्याग करता हूँ।

शरीर की बाल-वृद्धादि दशाओं के होने पर तथा व्याधि और मृत्यु के आने पर ज्ञानी जीव कैसा विचार करता है—जब मैं अजर-अमर हूँ, तब मेरी मृत्यु नहीं हो सकती, फिर उसका भय क्यों हो? जब मुझ चैतन्यमूर्ति के कोई व्याधि नहीं हो सकती, तब उसकी व्यथा मुझे क्यों हो? वास्तव में मैं न बाल हूँ, न वृद्ध हूँ और न युवा हूँ। ये सब अवस्थाएँ तो पुद्गल (जड़ परमाणुओं) में होती है। फिर इन अवस्थाओं के परिवर्तन से मुझे रंचमात्र भी दुःखी नहीं होना चाहिए।

शारीरिक विषय-भोगों की ओर दौड़नेवाली मनोवृत्ति या विषयाभिलाषा को दूर करने के या रोकने के लिए ज्ञानी जीव विचारता है—मोहवश मैंने पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत रूप-रस-गन्ध-स्पर्शात्मक सभी पुद्गल जब बार-बार भोग-भोगकर छोड़े हैं, तब आज उच्छिष्ट (जूठे) भोजन के तुल्य उन्हीं पुद्गलों में मुझ ज्ञानी की अभिलाषा कैसी?[24]

जब साधक अपने अन्तर में उठनेवाली राग-द्वेषादि लहरों को शान्त करने में सफल होता है तभी वह अन्तरात्मा का अनुभव कर पाता है। तब उसे समत्व-भाव की प्राप्ति हो जाती है और वह सबको समदृष्टि से देखने लगता है। इस अवस्था को *जैनधर्मामृत* में इसप्रकार व्यक्त किया गया है:

जिसका मनरूपी जल राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया लोभादिक तंरगों से चचंल नहीं होता वही पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है अर्थात् अनुभव करता है। उस आत्मतत्त्व को इतर (दूसरा) जन अर्थात् राग-द्वेषादि कल्लोलों (लहरों) से आकुलित चित्तवाला मनुष्य नहीं देख सकता।

जिसे आत्म-दर्शन हो जाता है, वह अन्तरात्मा शत्रु और मित्र पर सम-भावी हो जाता है, उसके लिए मान और अपमान समान बन जाते हैं,

वह सांसारिक वस्तुओं के लाभ या अलाभ में समान रहने लगता है और लोष्ठ-कांचन (मिट्टी के ढेले और सोने) को सम-दृष्टि से देखने लगता है।[25]

अपनी अन्तरात्मा का ज्ञान होने पर ही परमात्मा का ज्ञान होता है। इसलिए परमात्मा का ज्ञान करने के पहले अपनी अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इसे स्पष्ट करते हुए शुभचन्द्राचार्य अपने *ज्ञानार्णव ग्रन्थ* में कहते हैं:

अज्ञातस्वस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते।
आत्मैव प्राग्विनिश्चेयो विज्ञातुं पुरुषं परम्॥

अर्थ—जिसने अपने आत्मा का स्वरूप नहीं जाना वह परम पुरुष परमात्मा को नहीं जान सकता। इस कारण परम पुरुष—परमात्मा को जानने की इच्छा रखनेवाला पहिले अपने आत्मा का ही निश्चय करै।[26]

इसलिए अन्तरात्मा पर विचार करने के बाद अब हम परमात्मा के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

परमात्मा

सभी जीव परमात्मा बनना चाहते हैं, सबकी आन्तरिक प्रवृत्ति परमात्मा बनने की है; क्योंकि सभी परमात्मा के ही अव्यक्त या अप्रकट रूप हैं, या यों कहें कि सबमें परमात्मा अव्यक्त रूप से वर्तमान है।[27]

जीव का परमात्मरूप प्राप्त कर लेना ही मोक्ष कहा जाता है। अपने स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण अज्ञानी जीव अपने से भिन्न बाहरी वस्तुओं या व्यक्तियों (धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार आदि) को अपना समझकर उनमें सुख ढूँढ़ने की कोशिश करता है। पर ये सभी मिथ्या और नश्वर हैं। उनसे सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता। सच्चा सुख परमात्म पद, मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति करने से ही मिलता है। *जैनधर्मामृत* में इस परम कल्याणरूप सुख का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है।

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्॥

वह निर्वाण, जन्म-जरा-मरण, रोग-शोक, दुःख और भय से परिमुक्त है, वहाँ आत्मा का शुद्ध सुख है और वह नित्य परम कल्याणरूप कहा गया है।[28]

जब जीव सभी कर्मों से मुक्त होकर और स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरों से छुटकारा पाकर पूरी तरह शुद्ध हो जाता है, तब यह परमात्मा बन जाता है। उसे ही जैन धर्म में जिन, ईश्वर, परमात्मा आदि नामों से पुकारा जाता है, जैसा कि *जैनधर्मामृत* में स्पष्ट किया गया है:

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥

जो निर्मल है (कर्ममल से रहित है), केवल है (शरीरादि के सम्बन्ध से विमुक्त है), शुद्ध है, विविक्त है [शरीर रूप नो कर्म (जो कर्मनिर्मित है) से वियुक्त है] अक्षय है (अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप अनन्तचतुष्टय को धारण करने से क्षय-रहित है), परमेष्ठी है (इन्द्रादि-पूजित परम पद में विद्यमान है), परमात्मा है (सर्व संसारी जीवों से उत्कृष्ट है), ईश्वर है (अन्य जीवों में नहीं पाये जानेवाले ऐसे अनन्त ज्ञानादिरूप ऐश्वर्य से युक्त है) और जिन है (सर्व कर्मों का उन्मूलन करनेवाला विजेता है) उसे परमात्मा कहते हैं।[29]

जो जीव पहले बहिरात्मा था, वही जब विषय-विकारों से अपने ध्यान को हटाकर और उसे अपने अन्दर लाकर उसे आन्तरिक प्रकाश से जोड़ता है, तब वह अन्तरात्मा बन जाता है। फिर वही जीव जब आन्तरिक ध्यान या समाधि की सबसे ऊँची अवस्था में पहुँचता है, तब वह परमात्मा बन जाता है। इसे *जैनधर्मामृत* में इस प्रकार कहा गया है:

जो इस उत्तम अन्तरात्मा की सर्वोच्च दशा में पहुँचकर अपने सर्व आन्तरिक विकारों का अभाव कर परम कैवल्य को प्राप्त कर लेता है,

उसे परमात्मा, केवली, जिन, अरहन्त, स्वयम्भू, ...आदि नामों से पुकारते हैं।[30]

परमात्मा के गुणों का न यथार्थ रूप से वर्णन किया जा सकता है और न किसी संसारी पदार्थ से उसकी उपमा ही दी जा सकती है। फिर भी जीवों की बौद्धिक क्षमता के अनुसार उन्हें समझाने के लिए शुभचन्द्राचार्य ने अपने *ज्ञानार्णव ग्रन्थ* में परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में इसप्रकार कहा है:

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः॥

जो निर्लेप है, अर्थात् जिसमें कर्मों का लेप नहीं है, जो निष्कल (शरीर रहित) है, शुद्ध है, अर्थात् जिसमें राग, द्वेष आदि विकार नहीं है, जो निष्पन्न है, अर्थात् पूर्णरूप है (जिसे कुछ करना शेष नहीं है), जो अत्यन्त निर्वृत है, अर्थात् सबसे सर्वथा मुक्त सुखरूप है और जो निर्विकल्प है, अर्थात् जिसमें भेद नहीं है, ऐसे शुद्धात्मा को परमात्मा कहा गया है।[31]

वे फिर कहते हैं:

सिद्ध (पूर्ण) भगवान् शरीररहित, इन्द्रियरहित, मन के विकल्पों से रहित निरंजन हैं (जिन्हें मैल नहीं लगती)। वे अनन्त वीर्य (शक्ति) और अखण्ड आनन्द से युक्त आनन्दरूप हैं।

वे परमेष्ठी (परमपद में विराजमान), परम प्रकाशमय, परिपूर्ण और सनातन (सदा बने रहनेवाले) हैं।

पूर्णतः तृप्त (तृष्णा से बिल्कुल रहित) परमात्मा तीन लोक के शिखर पर सदा विराजमान हैं। इस संसार में कोई भी ऐसा सुखदायक पदार्थ नहीं है जिसके सुख से परमात्मा के सुख की उपमा दी जाये। उनका सुख अनुपम है।

परमात्मा की महिमा और उनके अनन्त ज्ञान का वैभव वचनों से कहने योग्य नहीं है। उनके गुणों का समूह केवल सर्वज्ञ पुरुष के ज्ञान (अनुभव) का विषय है।[32]

आदिपुराण में सर्वज्ञता या केवलज्ञान के आधार पर परमात्मा के अनेक उत्तम गुणों तथा परमात्मा से प्रकट होनेवाली दिव्यध्वनि की प्रशंसा करते हुए उनकी स्तुति इन शब्दों में की गयी है:

> हे भगवन्, इस देदीप्यमान केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय होने पर यह स्पष्ट प्रकट हो गया है कि आप ही धाता अर्थात् मोक्षमार्ग की सृष्टि करनेवाले हैं और आप ही तीनों लोक के स्वामी हैं। इसके सिवाय आप जन्मजरारूपी रोगों का अन्त करनेवाले हैं, गुणों के खजाने हैं और लोक में सबसे श्रेष्ठ हैं। इसलिए हे देव, आपको हम लोग बार-बार नमस्कार करते हैं। हे नाथ, इस संसार में आप ही मित्र हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही स्वामी हैं, आप ही स्रष्टा हैं और आप ही जगत् के पितामह हैं। आपका ध्यान करनेवाला जीव अवश्य ही मृत्युरहित सुख अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त होता है।
>
> आपकी यह दिव्यध्वनि, ज्ञानीजनों को शीघ्र ही तत्त्वों का ज्ञान करा देती है। हे भगवन्, आपकी वाणीरूपी यह पवित्र पुण्य जल हम लोगों के मन के समस्त मल को धो रहा है, वास्तव में यही तीर्थ है और यही आपके द्वारा कहा हुआ धर्मरूपी तीर्थ भव्यजनों को संसाररूपी समुद्र से पार होने का मार्ग है। हे भगवन्, मुनि लोग आपको ही पुराण पुरुष अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं, आपको ही ऋषियों के ईश्वर और अक्षय ऋद्धि को धारण करनेवाले अच्युत अर्थात् अविनाशी कहते हैं तथा आपको ही अचिन्त्य योग को धारण करनेवाले, और समस्त जगत् के उपासना करने योग्य योगीश्वर अर्थात् मुनियों के अधिपति कहते हैं।
>
> हे भगवन्, आप तीनों लोकों के एक पितामह हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप परम निवृति अर्थात् मोक्ष अथवा सुख के कारण हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप गुरुओं के भी गुरु हैं तथा गुणों के समूह से भी गुरु अर्थात् श्रेष्ठ हैं इसलिए भी आपको नमस्कार हो, इसके सिवाय आपने समस्त तीनों लोकों को जान लिया है इसलिए भी आपको नमस्कार हो। हे जिनेन्द्र, आपकी स्तुति कर हम लोग आपका बार-बार स्मरण करते हैं, और हाथ जोड़कर आपको नमस्कार करते हैं।[33]

आदिपुराण के उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा का ध्यान करनेवाला साधक (अभ्यासी) ही मोक्षसुख की प्राप्ति करता है। यह अभ्यासी परमात्मा की दिव्यध्वनि के सहारे ही ध्यानमग्न होकर परमात्मा का ज्ञान (अनुभव) प्राप्त करता है। इसलिए हमें एकमात्र इस परमात्मा का ही चिन्तन और ध्यान करना चाहिए। इस परमात्मा को ही सभी गुरुओं का गुरु कहा गया है, क्योंकि संसार में आनेवाले सभी सच्चे गुरु वास्तव में उस निराकार परमात्मा के ही साकार रूप होते हैं।

शुभचन्द्राचार्य ने भी *ज्ञानार्णव* में इन तथ्यों की पुष्टि बड़ी ही स्पष्टता के साथ की है। परमात्मा का स्वरूप उनके ध्यान की महत्ता और उससे प्राप्त परमात्मा के ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता बतलाते हुए वे कहते हैं:

> जिसके ध्यानमात्र से जीवों के संसार में जन्म लेने से उत्पन्न (राग-द्वेष आदि) रोग नष्ट हो जाते हैं, अन्य किसी प्रकार से नष्ट नहीं होते, वही त्रिभुवननाथ अविनाशी परमात्मा है।
>
> इसमें सन्देह नहीं कि जिसे जाने बिना अन्य सभी पदार्थों को जानना भी निरर्थक है और जिसका स्वरूप जानने से समस्त विश्व जाना जाता है, वही परमात्मा है।
>
> जिस परमात्मा के ज्ञान के बिना यह प्राणी निश्चित रूप से संसाररूपी गहन वन में भटकता रहता है, तथा जिस परमात्मा को जानने से जीव तत्काल इन्द्र से भी अधिक महत्ता को प्राप्त हो जाता है, उसे ही साक्षात् परमात्मा जानना। वही समस्त लोक को आनन्द देनेवाला निवास-स्थान है, वही परम ज्योति (परम प्रकाशमय ज्ञानरूप) है, और वही त्राता (रक्षक) है, परम पुरुष है, अचिन्त्यचरित है, अर्थात् जिसका चरित किसी के चिंतवन में नहीं आता।
>
> जिस परमात्मा के स्वरूप को जाने बिना आत्मतत्त्व में स्थिति नहीं होती है, और जिसे जानकर मुनियों ने उसके ही ऐश्वर्य का साक्षात् अनुभव प्राप्त किया है, वही परमात्मा मुक्ति की इच्छा करनेवाले मुनिजनों द्वारा नियम-पूर्वक ध्यान करने योग्य है। इसलिए अन्य सबकी शरण

छोड़कर उसमें ही अपने अन्तरात्मा को लगाकर उसे जानना चाहिए। जो वचन के द्वारा कहा नहीं जा सकता, इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता, जो अव्यक्त, अनन्त, वचन से परे, अजन्मा और आवागमन से रहित है, उस परमात्मा का निर्विकल्प (अविचलित) होकर ध्यान करना चाहिए। जिस परमात्मा के ज्ञान के अनन्तवें भाग में द्रव्य पर्यायों से भरा हुआ यह अलोकसहित लोक स्थित है, वही परमात्मा तीन लोक का गुरु है।[34]

जैन धर्म के ही समान *योगदर्शन* में भी परमात्मा या ईश्वर को सभी गुरुओं का गुरु कहा गया है। पतञ्जलि रचित *योगसूत्र* में स्पष्ट कहा गया है:

स: पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदत्वात्।[35]

अर्थात् वह (ईश्वर) पूर्वकाल में आये सभी गुरुओं का गुरु है, क्योंकि वह काल (समय) द्वारा सीमित नहीं है। भाव यह है कि इस संसार में आनेवाले सभी सच्चे गुरु, चाहे वे भूतकाल में, वर्तमान काल में या भविष्य काल में आयें, वे सभी तत्त्वत: परमात्मा से अभिन्न होते हैं, क्योंकि वे सभी उस अव्यक्त या निराकार परमात्मा के ही व्यक्त या साकार रूप होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि कोई भी गुरु किसी निश्चित समय के लिए ही संसार में आता है, जबकि अनादि और अनन्त परमात्मा सदा क़ायम रहनेवाला है; वह समय की सीमा से परे है।

अब यह बतलाते हुए कि स्मरण (सुमिरन) और ध्यान या समाधि के नियमित अभ्यास द्वारा साधक की आत्मा परमात्मा से एकाकार हो जाती है, शुभचन्द्राचार्य कहते हैं:

इस प्रकार निरन्तर स्मरण करता हुआ योगी उस परमात्मा के स्वरूप के अवलंबन से युक्त होकर उसके तन्मयत्व (उसमें लीन होने की अवस्था) को प्राप्त होता है।[36]

आत्मा किस प्रकार परमात्मा में लीन होकर परमात्मा से पूर्णत: एकाकार हो जाती है, या यों कहें कि परमात्मा ही बन जाती है—इसे शुभचन्द्राचार्य ने इन शब्दों में व्यक्त किया है:

वह ध्यान करनेवाला साधक अन्य सबका शरण छोड़कर उस परमात्मस्वरूप में ऐसा लीन होता है कि—ध्याता और ध्यान—इन दोनों के भेद का अभाव होकर ध्येय (परमात्मा) स्वरूप से एकता को प्राप्त हो जाता है। इस लीनता की अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय का भेद मिट जाता है।

जिस भाव में आत्मा अभिन्नता से परमात्मा में लीन होती है, वह समरसीभाव आत्मा और परमात्मा का समानतास्वरूप भाव है, सो उस परमात्मा और आत्मा को एक करनेवाला स्वरूप कहा गया है। (भावार्थ—आत्मा और परमात्मा के इस एकत्व भाव में द्वैत भाव दूर हो जाता है; आत्मा परमात्मा बन जाती है।)

जब आत्मा परमात्मा के ध्यान में लीन होती है तब वह एकीकरण की अवस्था कही जाती है। यह एकीकरण अनन्यशरण है, परमात्मा के सिवाय अन्य आश्रय नहीं है। तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में होती है और तत्स्वरूपतासे वह परमात्मा ही होती है। इस प्रकार परमात्मा के ध्यान से आत्मा परमात्मा हो जाती है।[37]

जैन धर्म के अनुसार बहिरात्मा को परमात्मा बनाना ही परमार्थी साधना का लक्ष्य है। जो आत्मा पहले शरीरादि बाह्य पदार्थों में अपनत्व-भाव रखने के कारण बहिरात्मा बनी रहती है, उसे बाह्य विषयों से हटाकर आत्मिक ध्यान में लगाया जाता है। इस अन्तर्मुखी साधना से वह अन्तरात्मा बन जाती है। फिर अन्तरात्मा परमात्मा के ध्यान में लीन होने के अभ्यास द्वारा परमात्मा बन जाती है। इसीलिए जैन ग्रन्थों में बार-बार बहिरात्म-भाव को छोड़कर अन्तरात्म-भाव में दृढ़ता से स्थित होने और फिर अन्तरात्मा को परमात्मा के ध्यान में लीनकर उसे परमात्मा बनाने का उपदेश दिया गया है। उदाहरण के लिए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत् परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम्॥

इस प्रकार आत्मा के तीनों भेदों को जानकर बहिरात्मापन को छोड़ना चाहिए और अपने अन्तरात्मा में अवस्थित होकर सर्वसंकल्प-विकल्पों से रहित परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।[38]

छहढाला में भी इसी बात की पुष्टि इन शब्दों में की गयी है:

बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै;
परमातम को ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजै॥[39]

अर्थात् बहिरात्मपने को छोड़ने योग्य (हेय) समझ उसे छोड़कर अन्तरात्मा हो जाना चाहिए और सदा परमात्मा का ध्यान करना चाहिए जिसके द्वारा नित्य (अविनाशी) आनन्द की प्राप्ति होती है।

यहाँ यह समस्या उठ खड़ी होती है कि जिस परमात्मा को हमने कभी देखा नहीं, जो इन्द्रिय, बुद्धि और वचन से परे है, उसका ध्यान हम कैसे कर सकते हैं। ध्यान करने के लिए साधक को शुरू-शुरू में किसी न किसी मूर्तिमान् या साकार स्वरूप का आधार लेना आवश्यक होता है।

इस समस्या के समाधान के लिए हमें जैन धर्म में बताये गये परमात्मा के दो भेदों पर ध्यान देना चाहिए। जैन धर्म के अनुसार परमात्मा के दो भेद इस प्रकार हैं: (1) सकल (शरीर सहित) या साकार और (2) निष्कल (शरीर रहित) या निराकार। स्वयं जीवन्मुक्त होकर जो महात्मा अन्य संसारी मनुष्यों को अपने उपदेश द्वारा कल्याण का मार्ग दिखलाते हैं उन्हें सकल या साकार परमात्मा कहा जाता है और जो शरीर से मुक्त हो अविनाशी परमधाम के स्वामी बन चुके हैं, उन्हें निष्कल या निराकार परमात्मा कहते हैं। इन दोनों में तत्त्वत: कोई भेद नहीं है। दोनों ही एक समान सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा होते हैं। इसलिए साधक अपने उपदेशदाता परमेष्ठी या सच्चे जीवन्मुक्त महात्मा का ध्यान करता हुआ इसी ध्यान के सहारे निराकार परमात्मा के ध्यान में लीन हो जाता है। इसप्रकार जैन धर्म में उक्त समस्या का आसानी से समाधान हो जाता है।

सकल (साकार) और निष्कल (निराकार) नामक परमात्मा के दोनों भेदों को बतलाते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> जिनागम (जैन धर्मग्रन्थों) में परमात्मा के दो भेद कहे गये हैं—एक सकल परमात्मा और दूसरा निष्कल परमात्मा।
>
> स-शरीर होते हुए भी जो जीवन्मुक्त हैं और कैवल्य-अवस्था को प्राप्त कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये हैं, ऐसे अरहन्त परमेष्ठी को

सकल परमात्मा कहते हैं। तथा जिन्होंने सर्व-कर्म बन्धनों से छूटकर अविनाशी परमधाम प्राप्त कर लिया है, ऐसे अनन्त गुणों के स्वामी सिद्धपरमेष्ठी को निष्कल परमात्मा कहते हैं। सकल परमात्मा को साकार या सगुण परमात्मा और निष्कल परमात्मा को निराकार या निर्गुण परमात्मा के नाम से सम्बोधित किया जाता है।[40]

ज्ञानार्णव में भी इन्हीं दोनों भेदों का उल्लेख करते हुए कहा गया है:

साकारं निर्गताकारं
अर्थ—परमात्मा कैसा है, उसका स्वरूप कहते हैं: प्रथम तौ साकार है (आकार सहित है अर्थात् शरीराकार मूर्तीक है) तथा निर्गताकार कहिये निराकार भी है।[41]

इन्हीं दोनों भेदों को बतलाते हुए *छहढाला* में कहा गया है कि परमात्मा अपने दोनों ही अवस्थाओं में एक समान सबको जानने और देखनेवाला है:

परमात्मा के दो प्रकार हैं—सकल और निकल। (1) श्री अरिहन्तपरमात्मा वे सकल (शरीरसहित) परमात्मा हैं, (2) सिद्ध परमात्मा निकल परमात्मा हैं। वे दोनों सर्वज्ञ होने से लोक और अलोक सहित सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में युगपत् (एकसाथ) जानने-देखनेवाले, सबके ज्ञाता-द्रष्टा हैं।[42]

इसप्रकार साकार परमात्मा के ध्यान के सहारे साधक निराकार परमात्मा के ध्यान में लीन होकर परमात्मा बन जाता है।

परमात्मा की प्राप्ति अथवा अविनाशी मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है: (1) गुरु से दीक्षा प्राप्त करना (2) उसके अनुसार नियमित रूप से अभ्यास करना और (3) इनके फलस्वरूप बाह्य पदार्थों से भिन्न आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त करना।

पहले कहा जा चुका है कि गुरु को जीवन्मुक्त होना चाहिए। जो स्वयं मुक्त नहीं है, वह दूसरों को मुक्ति का उपदेश कैसे दे सकता है? जो स्वयं

मुक्ति के मार्ग से परिचित नहीं है, वह दूसरों को मुक्ति का मार्ग कैसे दिखला सकता है?

अभ्यास करने के लिए अभ्यासी को एकान्त स्थान में बैठकर, अपनी इन्द्रियों को बाहरी विषयों से हटाकर, चित्त को एकाग्र कर तथा आलस, निद्रा और असावधानी (लापरवाही) को दूर कर अपने अन्तर में ध्यान लगाना चाहिए।

जन्म-जमान्तर से जो ध्यान बाहरी विषयों में लगा रहा है उसे धीरे-धीरे ही अन्तर में लगाया जा सकता है। इसलिए इसमें जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। जैसे-जैसे ध्यान अन्तर में लगने लगता है, वैसे-वैसे आन्तरिक आनन्द मिलने लगता है और सांसारिक विषयों का सुख फीका लगने लगता है। तब आत्मनुभव या आत्मसाक्षात्कार ही अभ्यासी के जीवन का लक्ष्य बन् जाता है। वह संसार के लुभावने विषयों से आकृष्ट या प्रभावित नहीं होता। वह इस संसार में अनासक्त भाव से व्यवहार करता है और एकमात्र परमात्मभाव की प्राप्ति की ही अभिलाषा रखता है। इन बातों को *जैनधर्मामृत* में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है:

> जो पुरुष गुरु के उपदेश से, अभ्यास से और संवित्ति अर्थात् स्वानुभव से स्व और पर के अन्तर-भेद को जानता है वही पुरुष निरन्तर मोक्षसुख का अनुभव करता है।[43]

जैन धर्म के अनुसार सच्चे गुरु "जिन, शुद्ध, बुद्ध, निरामय (राग-द्वेष आदि रोगों से मुक्त) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और केवलज्ञान के धारक अरहन्त परमेष्ठी कहलाते हैं।

उस अंरहन्त अवस्था में रहते हुए वे सर्व देशों में विहार कर और भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर अन्त में ...सर्व कर्म से रहित होकर वे अरहन्त परमेष्ठी निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं।"[44]

अभ्यास और आत्मानुभव को *जैनधर्मामृत* में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है:

> चित्त-विक्षेप से रहित होकर और एकान्त स्थान में बैठकर आत्मा के वीतराग शुद्ध स्वरूप की भावना करने को अभ्यास कहते हैं।

जिसके चित्त में राग-द्वेषादिरूप किसी प्रकार का विक्षेप न हो, जो जन-सम्पर्क से रहित एकान्त शान्त स्थान पर अवस्थित हो और हेय-उपादेयरूप (छोड़ने और ग्रहण करने योग्य) तत्त्व विषय में जिसकी निश्चल बुद्धि हो, ऐसा योगी संयमी जितेन्द्रिय पुरुष अभियोग से अर्थात् आलस्य, निद्रा और प्रमाद आदि को दूर कर अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप की भावना (ध्यान) करे।

जिसने आत्मभावना का अभ्यास करना अभी आरम्भ किया है, उस योगी को अपने पुराने संस्कारों के कारण बाह्य-विषयों में सुख मालूम होता है और आत्मस्वरूप की भावना में दुःख प्रतीत होता है। किन्तु यथावत् आत्मस्वरूप को जानकर उसकी (दृढ़) भावनावाले योगी को बाह्य विषयों में दुःख की प्रतीति होने लगती है और अपने आत्मा के स्वरूप चिन्तन में ही सुख की अनुभूति होती है।

संवित्ति अर्थात् अत्मानुभूति या स्वानुभव में जैसे-जैसे उत्तम तत्त्व अर्थात् आत्मा का शुद्ध स्वरूप सम्मुख आता जाता है, वैसे-वैसे ही सहज सुलभ भी इन्द्रियों के विषय अरुचिकर लगने लगते हैं। और जैसे-जैसे सहज सुलभ भी इन्द्रिय-विषय अरुचिकर लगने लगते है, वैसे-वैसे ही स्वानुभव में आत्मा का शुद्ध स्वरूप सामने आता जाता है।

जिसे स्वात्म-संवित्ति (अपनी आत्मा का निजी अनुभव या अनुभूति) हो जाती है, उसे यह समस्त जगत् इन्द्रजाल (मायाजाल) के समान दिखाई देने लगता है, वह केवल स्वात्म-स्वरूप के लाभ की ही अभिलाषा करता है; और किसी वस्तु के पाने की इच्छा उसे नहीं रहती। यदि कदाचित् किसी पदार्थ में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है, तो उसे अत्यन्त पश्चात्ताप होता है। मनुष्यों के साथ बैठकर मनोरंजन करने में उसे कोई आनन्द नहीं आता, अतएव वह एकान्त वास की इच्छा करता है।[45]

मनुष्य बहुत ही संवेदनशील प्राणी है। जिन अच्छे या बुरे व्यक्तियों, पदार्थों और गुणों का वह स्मरण, चिन्तन और ध्यान करता है, उन्हीं के समान वह बन जाता है। यही कारण है कि जैन धर्म में स्मरण और ध्यान को विशेष महत्त्व दिया गया है और साधकों को आत्मतत्त्व या परमात्मतत्त्व का चिन्तन और ध्यान करने का उपदेश दिया गया है। सतगुरु या अरहन्त देव परम पवित्र और सद्गुणों के

भण्डार होते हैं। इसलिए उनके प्रति की गयी भक्ति अपने-आप भक्तों के हृदय की मैल को धोकर उन्हें पवित्र कर देती है। इसप्रकार जो भक्त साकार परमात्मरूप सच्चे महात्मा या अरहन्त देव के प्रति भक्ति-भाव रखकर दृढ़ता के साथ अभ्यास में लगता है वह अपनी भक्ति-पूर्ण साधना द्वारा परमात्मा बन जाता है।

नाथूराम डोंगरीय जैन ने इस विषय को बड़ी ही स्पष्टता के साथ समझाया है। यह समझाते हुए कि किसी के गुण-दोषों से मनुष्य किस प्रकार प्रभावित होता है और किस प्रकार परमार्थ की राह दिखलानेवाले सतगुरु या अरहन्त देव के प्रति उसकी भक्ति उमड़ पड़ती है, वे कहते हैं:

> गुणों के चिंतवन करने से गुणों और दोषों के विचार करने से दोषों की वृद्धि होना स्वाभाविक नियम है। फिर परमात्मा के गुणों का, जो कि मोहादि आत्म शत्रुओं पर वीरतापूर्वक विजय प्राप्त कर आदर्श बन चुका है, चिंतवन करके हम लोग भी, जो कि राग, द्वेष, मोहादिक के कारण अपनी वास्तविकता को भूले हुए हैं और दुर्भावनाओं एवं वासनाओं की जंजीर में जकड़े हुए हैं, यदि आत्म शत्रुओं पर वीरता पूर्ण विजय प्राप्त करने की अलौकिक कला को सीख लें एवं आत्मबोध और जागृति को प्राप्त कर दु:ख सागर के भँवर के चक्कर से निकलने का उपाय जान लें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?
>
> श्रद्धा का भक्ति के साथ अटूट सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति में गुण होते हैं, मानवीय विवेक श्रद्धापूर्वक उसका स्वभाव से भक्त बन जाता है। फिर जिसे हम पवित्र समझते और अपना सन्मार्ग प्रदर्शक के रूप में महान् उपकारी भी मानते हों, एवं उसी जैसा सुखी, पूर्ण व निर्दोष बनने की उत्कण्ठा भी हमारे अन्त:करण में घर किये हो, तथा जो विश्व के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ जनों में भी आदर्श और सर्व श्रेष्ठ व्यक्ति हो, उसके प्रति हृदय में श्रद्धा हो जाने पर भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ना तो और भी स्वाभाविक है। उस भक्ति-स्रोत के उमड़ पड़ने पर ...उसका गुणगान नमस्कार और प्रार्थना आदि कर उसके प्रेम के दिव्य प्रवाह में प्रवाहित हो जाना कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं। ...उसके पवित्र गुणों की स्मृति हमारे मलीन हृदय को दोषों और पापों से रहित कर पवित्र कर देती है। जिस प्रकार सूर्य के दूर और वीतराग रहते हुए भी हज़ारों मील दूर रहनेवाले कमल उसकी

> प्रभा मात्र से प्रफुल्लित हो जाते हैं एवं रात्रि का भयानक अन्धकार देखते-देखते विलीन हो जाता है, उसी प्रकार भव्य पुरुषों के भक्तिभाव से पूर्ण हृदय कमल भगवान् के दर्शन तो दूर, नाम मात्र से प्रफुल्लित हो जाते हैं। इससे उन्हें इस समय जो अनुपम आनन्द, अपूर्व शान्ति एवं संतोष प्राप्त होता है वह कथन नहीं, अनुभव करने की चीज़ है।[46]

इसप्रकार सच्ची भक्ति द्वारा भक्त भगवान् बन जाता है, आत्मा परमात्मा बन जाती है। इसे *जैनधर्मामृत* में एक उपमा द्वारा इस प्रकार समझाया गया है:

> यह आत्मा अपने से भिन्न अर्हन्त, सिद्धरूप परमात्मा की उपासना (भक्ति) करके उन्हीं के समान परमात्मा हो जाती है। जैसे दीपक से भिन्न भी बत्ती दीपक की उपासना कर दीपकरूप हो जाती है।[47]

यहाँ इस बात को अच्छी तरह याद रखना आवश्यक है कि भक्त की भक्ति सच्ची और गहरी होनी चाहिए , केवल ऊपरी और दिखावटी नहीं। इसे स्पष्ट करते हुए नाथूराम डोंगरीय जैन कहते हैं:

> जिस प्रकार समुद्र के अतल तल (गर्भ) में भरे हुए बहुमूल्य रत्न ऊपर डुबकियाँ लगाने या उतरानेवाले व्यक्तियों के हाथ नहीं लगते उसी प्रकार भावपूर्वक तन्मय होकर भगवद्भक्ति में मग्न हुए बिना और वीतरागता का अध्ययन किये बिना उस चीज़ (परमात्म तत्त्व) की प्राप्ति नहीं हो सकती[48]

यहाँ यह भली-भाँति याद रखना चाहिए कि आत्मा के परमात्मा बनने का अर्थ आत्मा का अपने से कोई भिन्न पदार्थ बन जाना नहीं है, बल्कि उसके अपने ही वास्तविक स्वरूप की पहचान कर लेनी है। जबतक आत्मा कर्मों से उत्पन्न स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से ढकी रहती है तब तक उसका वास्तविक स्वरूप छिपा रहता है। पर जब ध्यान के बल से कर्म नष्ट हो जाते हैं और तीनों शरीर के परदे हट जाते हैं तब परम प्रकाशमय आत्मा का वास्तविक स्वरूप अपने-आप प्रकट हो जाता है और वह परमात्मा बन जाती है। इस तथ्य को *ज्ञानार्णव* में इस प्रकार समझाया गया है:

यह आत्मा स्वयं साक्षात् गुणरूपी रत्नों का भरा हुआ समुद्र है तथा यही आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सबका हितरूप है, समस्त पदार्थों में व्याप्त है, परमेष्ठी (परमपद में स्थित) है और निरंजन है, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की कालिमा नहीं है।

यह आत्मा स्वयं तो ज्योतिर्मय (प्रकाशमय) है, पर यह तीन प्रकार के शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर) से ढकी हुई है। जब तक इसे अपने-आपका ज्ञान नहीं हो जाता तब तक भला यह बन्धन से कैसे छूट सकती है?

जब यह आत्मा विशुद्ध ध्यान के बल से कर्मरूपी ईंधनों को भस्म कर देती है तब यह स्वयं ही साक्षात्परमात्मा हो जाती है, यह निश्चय है।

इस आत्मा के गुणों का समस्त समूह ध्यान से ही प्रकट होता है तथा ध्यान से ही अनादि काल की संचित (इकट्ठी) की हुई कर्म-सन्तति (कर्मों की परम्परा) नष्ट होती है।

मोहरूपी कीचड़ के नष्ट होने पर तथा भ्रम में डालनेवाले राग आदि दोषों के पूरी तरह शान्त हो जाने पर योगीजन (अभ्यासी) अपने में ही परमात्मा के स्वरूप को देखते हैं, अर्थात् अनुभव करते हैं।

अज्ञान से भ्रष्ट चित्तवाला जीव अपने वास्तविक स्वरूप से दूर हो जाता है, पर सम्यग्ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) से सुवासित होने पर वही अपने अन्तर में प्रभु परमात्मा को देखता है।[49]

आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। इस एकता के ज्ञान से द्वैतभाव बिल्कुल मिट जाता है; आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

इसे स्पष्ट करते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

य: परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तत:।

जो परमात्मा है, वही मैं हूँ, तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है।[50]

इसी प्रकार *ज्ञानार्णव* में भी कहा गया है:

य: सिद्धात्मा पर: सोऽहं योऽहं स परमेश्वर: ॥[51]

जो सिद्धात्मा (पूर्णता प्राप्त आत्मा) का स्वरूप है वही परमात्मरूप मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है।

आत्मा और परमात्मा के अभेद या एकरूप होने का यह ज्ञान बुद्धि और वचन का विषय नहीं, बल्कि साक्षात् स्वानुभव (अपने निजी अनुभव) का विषय है। इसे बतलाते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> आत्मस्वरूप को दूसरों से सुनते हुए तथा दूसरों को अपने मुख से बोलकर समझाते हुए भी जब तक जीव को शरीर से आत्मा के भिन्न होने का अनुभव नहीं होता, तब तक वह मोक्ष का पात्र नहीं बनता।[52]

इस अनुभव की प्राप्ति के लिए घर छोड़कर वन जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो एक आन्तरिक अनुभव है जो कहीं बाहर से नहीं, बल्कि अपने अन्तर से ही प्राप्त होता है। इसे सपष्ट करते हुए *जैनधर्मामृत* में कहा गया है:

> आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से रहित अज्ञानी जीवों को 'यह ग्राम' है, 'यह अरण्य (वन)' है, इन दो प्रकार के निवासों की कल्पना होती है। किन्तु आत्मा का साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानीजनों का तो रागादि-रहित निश्चल आत्मा ही निवास स्थान है।[53]

इसप्रकार सच्चे साधकों की समस्त साधना अन्तर्मुखी होती है। वे किसी सच्चे मार्गदर्शक गुरु के उपदेशानुसार सम्यक् दर्शन (श्रद्धा), सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को ग्रहण कर स्मरण, चिन्तन और ध्यान के अन्तर्मुखी अभ्यास के सहारे अपने समस्त कर्मों को नष्ट कर देते हैं। इसके फलस्वरूप वे आत्मा से परमात्मा बन जाते हैं, जो मनुष्य-जीवन का वास्तविक लक्ष्य है।

सन्दर्भ सूची

प्रस्तावना

1. रणजीत सिंह कूमट, *ध्यान से स्वबोध,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. XIX
2. हुकमचन्द भारिल्ल-सम्पादक, *बृहज्जिनवाणी संग्रह,* दसम् संस्करण, अखिल भारतीय जैन युवा फ़ैडरेशन, जयपुर, 2006, पृ. 644
3. श्री आत्माराम जी महाराज, *श्री जैनतत्त्व कलिका विकास,* तृतीय संस्करण, आत्मज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना, 2004, पृ. 9
4. वही, पृ. 10

अध्याय-1

1. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर, 1989, पृ. 10
2. *तिलोयपण्णत्ती* 1/1476-78
3. *स्कन्द पुराण,* अध्याय 37
4. संगवे, विलास ए. *आसपेक्ट्स ऑफ़ जैन रिलिजन,* दूसरा संस्करण, नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 1999, पृ. 23
5. *एपिग्राफ़िका इंडिका* 1.386, अभिलेख VIII
6. वही I.383, अभिलेख III
7. वही I.396, अभिलेख VIII
8. *ऋगवेद* X.136.1-3; IV.6.8; V.1.22 और VIII.8.24
9. *ऋग्वेद,* मण्डल 2, सूक्त 33, वर्ग 17
10. संगवे, विलास ए., *आसपेक्ट्स ऑफ़ जैन रिलिजन,* दूसरा संस्करण, नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 1999, पृ. 21
11. *उत्तराध्ययन सूत्र* XXII.3-4
12. *एपिग्राफ़िका इंडिका* I.389 और II.208-210
13. *कल्पसूत्र* 150 में इनका नाम अश्वसेन दिया हुआ है।
14. *कल्पसूत्र* 168

15. *उत्तराध्ययन सूत्र* XXIII.23
16. *उत्तराध्ययन सूत्र* XXIII.29
17. *उत्तराध्ययन सूत्र* XXIII.24 और 30
18. *उत्तराध्ययन सूत्र* XXIII.25-32
19. *कल्प सूत्र* में कहा गया है कि वलभी का सम्मेलन महावीर के परिनिर्वाण (ईसा पूर्व 527) के 980 या 993 वर्ष बाद हुआ था जिसके अनुसार यह सम्मेलन या तो लगभग 454 ईस्वी में या उसके 13 वर्ष बाद लगभग 467 ईस्वी में हुआ होगा।
20. *जैन सूत्राज,* भाग 1, *सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट,* अंक XXII, सम्पादक, एफ. मैक्समूलर, अनुवादक, हरमन जाकोबी, पुनर्मुद्रण, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1964, प्रस्तावना, पृ. 31vi

अध्याय 2

1. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* जैन धर्म प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 16-17
2. नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग 'पञ्चम संस्करण, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 369-377
3. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर 1941, पृ. 26
4. *परमात्म प्रकाश, मूल* 2/68 राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण, विक्रमी संवत 2017
5. *महापुराण* 47/302, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, 1951
6. *चारित्रसार* 3/1, महाबीर जी प्रकाशन, वीर निर्वाण सम्वत्, 2488
7. *प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति,* 7/9/9
8. *सर्वार्थसिद्धि* 9/2/409/11 (इष्ट स्थाने धत्ते इति धर्म:), भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, 1955
9. *राजवार्तिक* 9/2/3/591/32, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, वि. सम्वत 2008
10. *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* 2 (संसार दु:खत: सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे)
11. *महापुराण* 2/37
12. *पंचाध्यायी* उत्तरार्ध 715, पंडित देवकीनन्दन, 1932
13. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/10/4, पन्नालाल बाकलीवाल (हिन्दी अनुवादक), श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, पृ. 50
14. *बोध पाहुड़,* मूल 25, माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, विक्रमी सम्वत् 1977
15. *कुरल काव्य* 25/2, पं. गोविन्दराज जैन शास्त्री, वीर निर्वाण सम्वत् 2480

16. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/10/1, पन्नालाल बाकलीवाल (हिन्दी अनुवादक), श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, पृ. 49
17. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म*, 'जैन धर्म' प्रकाशन कार्यालय द्वितीय संस्करण, बिजनौर 1941, पृ. 26-27
18. *राजवार्तिक* 6/13/5/524/6, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, विक्रमी सम्वत् 2008
19. *द्रव्यसंग्रह* टीका 35/145/3, दिल्ली प्रकाशन, 1953
20. *सर्वार्थसिद्धि* 9/7/419/2, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस 1955
21. *कार्तिकेयानुप्रेक्षा* 478, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, 1960
22. *दर्शन पाहुड़ टीका* 9/8/5, माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई विक्रमी सम्वत् 1977
23. नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), *वर्णी-वाणी*, प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ माला, वाराणसी, 1968, पृ. 74 # 13
24. वही, पृ. 162-163 # 1 और 3
25. *राजवार्तिक* 8/9/5/574/32
26. *धवला* 12/4, 2, 8, 8/283/8, अमरावती प्रकाशन
27. नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), *वर्णी-वाणी*, प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, श्री गणेश प्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 75 # 20
28. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र*, 9/6, जे. एल. जैनी (सम्पादक), दि सेन्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, आरा
29. *चारित्रसार* 58/1, महावीर जी प्रकाशन, वीर निर्वाण सम्वत् 2488
30. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/10/20, पन्नालाल बाकलीवाल (हिन्दी अनुवादक), श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927
31. *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* 3; *कार्तिकेयानुप्रेक्षा मूल* 478; *तत्त्वानुसासन* 51; और *द्रव्यसंग्रह* टीका 145/3 भी देखिए।
32. *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* 220
33. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म* 'जैनधर्म' प्रकाशन कार्यलय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर 1941 पृ. 31
34. नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), *वर्णी-वाणी*, प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, श्री गणेश प्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी 1968, पृ. 31 # 36
35. *भाव पाहुड़, मूल* 85, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, विक्रमी सम्वत् 1977
36. *भाव पाहुड़*, मूल 83; *परमात्म प्रकाश, मूल* 2/68 और *तत्त्वानुशासन* 52

37. नाथूराम डोंगीरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 31
38. कानजी स्वामी, *मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें,* कहान जैन शास्त्रमाला, पुष्प 44, स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, वीर संवत् 2476, पृ. 18
39. वही, पृ. 191
40. नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी 1968, पृ. 73 # 2
41. वही, पृ. 73 # 4
42. हीरालाल जैन, *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी 1965, पृ. 31
43. *योगसार योगेन्दु देव,* गाथा 65
44. *परमात्म प्रकाश टीका* 2/68/190/8, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण, विक्रमी संवत 2017
45. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/10/21, पन्नालाल बाकलीवाल (हिन्दी अनुवादक) श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927
46. वही, 2/10/6,11,13 और 15
47. नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी,1968, पृ. 75 # 2
48. *कुरल काव्य* 4/6, पंडित गोविन्दराज जैन शास्त्री, वीर निवार्ण संवत् 2480
49. नाथूराम डोंगीरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 3
50. वही, पृ. 34
51. नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी,1968, पृ. 101 # 4
52. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 15
53. वही, पृ. 20
54. वही, पृ. 21-22
55. वही, पृ. 24
56. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* सम्पादक-हुकमचन्द भारिल्ल, सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर ,1989, प्रस्तावना, पृ. 25

57. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* चतुर्थ संस्करण, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा,1975, पृ. 132
58. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 32
59. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, सम्पादक, नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ माला, वाराणसी, 1968, पृ. 74 # 15
60. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 23-24
61. वही, पृ. 23 और 25
62. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 22/14, पन्नालाल बाकलीवाल (हिन्दी अनुवादक), श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927 पृ. 234
63. वही 22/19, पृ. 235
64. *भाव पाहुड़,* मूल 3/5/89, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, विक्रमी संवत् 1977
65. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग,पञ्चम संस्करण, नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 15 # 4, पृ. 16 # 7 और, 8, पृ. 17 # 13, पृ. 19 # 33 और पृ. 20 # 42
66. वही, पृ. 30 # 22
67. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 27
68. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, सम्पादक, नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ माला, वाराणसी, 1968, पृ. 74 स13
69. वही, पृ. 15 # 2
70. कानजी स्वामी, *मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें,* कहान जैन शास्त्रमाला, पुष्प 44, जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, वीर संवत् 2476, पृ. 191
71. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* सत्साहित्य प्रकाशन एंव प्रचार विभाग,जयपुर, 1989, पृ. प्रस्तावना 32
72. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी,1965, पृ. 96
73. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 39

74. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, सम्पादक, नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ माला, वाराणसी, 1968, पृ. 29 # 21
75. *भगवती आराधना,* मूल, गाथा 3/ 1347, सखाराम दोशी, सोलापुर, 1935
76. आचार्य कुन्थुसागर, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1940, पृ. 63
77. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1965, पृ.64
78. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, सम्पादक, नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ माला, वाराणसी, 1968, पृ. 182 # 1, पृ. 183 # 13, पृ. 183 # 14, पृ. 344, पृ. 20 # 39, पृ. 106 # 7, पृ. 20 # 41 और पृ. 178 # 16
79. *अष्टपाहुड़ (भाव पाहुड़),* गाथा 67, 68 और 73; हुकमचन्द भारिल्ल (हिन्दी अनुबाद), तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, द्वितीय संस्करण, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1975, पृ. 133
80. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥
जैनधर्मामृत, हीरालाल जैन (संपादक), पृ. 96-97, देखिए समन्तभद्र कृत *रत्नकरण्ड श्रावकाचार,* श्लोक 33
81. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* दशम संस्करण, हुकमचन्द भारिल्ल (सम्पादक), सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर 1989, पृ. 15-17
82. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, सम्पादक, नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ माला, वाराणसी, 1968, पृ. 17 # 15
83. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/4/60 वही. पृ. 82
84. *भाव पाहुड़,* मूल 84 और *समयसार,* मूल 154
85. *नयचक्र बृहद् गाथा* 291 और 376, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई विक्रमी संवत् 1977
86. *समयसार,* प्रवचनकार-गणेशप्रसाद वर्णी, सम्पादक—पण्डित पन्ना लाल, श्री गणेशाप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1969, पृ. प्रस्तावना 26
87. *रयणसार,* गाथा 70
88. *अमृताशीति* 59

अध्याय 3

1. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैन धर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 34-35 और 37

2. षड्दर्शन-समुच्चय 47 पर गुणरत्न की टीका
3. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* II:22
4. वही II:23
5. सिद्धसेन दिवाकर का *न्यायावतार,* श्लोक 31 और नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती का *द्रव्यसंग्रह,* श्लोक 2
6. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1965, पृ. 231-232
7. वही, पृ. 229-230
8. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* VIII:2
9. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* चतुर्थ संस्करण, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1975, पृ. 113-114
10. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* IX:1
11. वही IX:2
12. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी 1965, XII:1, पृ. 252
13. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* IX:3
14. *धवला पुस्तक* 13, खण्ड 5, भाग 4, सूत्र 26; पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर, 1984, पृ. 230 में उद्धृत
15. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1965, पृ. 251
16. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* I.1
17. *रत्नकरण्ड श्रावकाचार,* श्लोक 4
18. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी 1965, II:3, पृ. 51
19. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* I:2
20. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, दशम संस्करण, जयपुर, 1989, पृ. 323
21. *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,* श्लोक 216
22. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1965 II:5, पृ. 52

23. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म*, 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, द्वितीय संस्करण, बिजनौर, 1941, पृ. 37-38
24. नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), *वर्णी-वाणी*, प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 345 और 347
25. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1965, II:105-106 और 115 का भावार्थ, पृ. 96 और 99
26. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ*, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, आगरा, 1975, पृ. 107
27. *द्रव्यसंग्रह*, टीका सहित, श्लोक 43 और 44
28. *प्रमाण-मीमांसा* पर टीका I:1.26
29. षट्खण्डागम पर वीरसेन की *धवला* टीका I:1.4; एस: गोपालन, जैन दर्शन की रूपरेखा, वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नयी दिल्ली, 1973, पृ. 50 में उद्धृत।
30. नथमल टाटिया, *स्टडीज़ इन जैन फ़िलॉसफ़ी*, जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस, 1951, पृ. 73
31. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ*, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, आगरा 1975, पृ. 147
32. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 7/8-9, अनुवादक—पन्ना लाल बाकलीवाल, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, 1927, पृ. 105
33. हीरा लाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1965 III:13, 14 और 16, पृ. 109
34. *द्रव्यसंग्रह*, श्लोक 46
35. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, वाराणसी, 1965 IV:3, पृ. 113
36. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक*, सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर, 1989, पृ. 230
37. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ*, चतुर्थ संस्करण, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1975, पृ. 185
38. आचार्य जिनसेन, *आदि पुराण*, प्रथम भाग (सम्पादक: पन्नालाल जैन), सातवाँ संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1944, पर्व 24, श्लोक 122, पृ. 585-586
39. कानजी स्वामी, *मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें*, दूसरा भाग, द्वितीय संस्करण, अनुवादक: मगनलाल जैन, श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, वीर सम्वत् 2486, पृ. 262-263

40. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* X.2
41. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1965, XIII.6, पृ. 266
42. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* X.6
43. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1965, XIII.7, विशेषार्थ, पृ. 268

अध्याय 4

1. अमृतचन्द्रसूरि, *पुरुषार्थसिद्धियुपाय,* भाषाटीकासहित, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1915 श्लोक 44, पृ. 31
2. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनाधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960, iv. 9-10, पृ. 109
3. अमृतचन्द्रसूरि, *पुरुषार्थसिद्धियुपाय,* भाषाटीकासहित, श्लोक 45, पृ. 32
4. हीरालाल जैन, (सम्पादक), *जैनाधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960, iv.ii, 9-10 पृ. 109-110
5. अमृतचन्द्रसूरि, *पुरुषार्थसिद्धियुपाय,* भाषाटीका सहित, श्लोक 51, पृ. 35
6. *राजवार्तिक,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1952, 7/13/12/541/5; देखिए, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग 1, पृ. 227 भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी 1944
7. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव,* हिन्दी भाषानुवाद सहित, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, viii.9, पृ. 110
8. हीरालाल जैन, (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, वाराणसी, 1944, श्लोक 420-421, पृ. 107 और 109
9. *आचारांग सूत्र,* अध्याय 5, उद्देश्य 5, गाथा 98
10. रणजीत सिंह कूमट, *ध्यान से स्वबोध,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 71-72
11. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960,I1. 25, पृ. 116
12. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवादकर्ता), *जिन-वाणी,* भारतीय, ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, वाराणसी, 1944, श्लोक 409 और 425, पृ. 105 और 109
13. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव,* पन्नालाल बाकलीवालकृत हिन्दीभाषानुवाद, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडल, 1972, बम्बई VIII.II 25, 30, 31 और 52, पृ. 111, 114, 115 और 119
14. वही VIII 7, पृ. 110
15. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960, iv 6, पृ. 107

16. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* द्वितीय संस्करण जैन धर्म प्रकाशक कार्यालय, बिजनौर, 1941, पृ. 63-64
17. वही, पृ. 68
18. अमृतचन्द्रसूरि, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,* भाषाटीका सहित, श्लोक 77. पृ. 43
19. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960, iv. 20, पृ. 114
20. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* जैन धर्म प्रकाशक कार्यालय, बिजनौर, 1941, पृ. 59
21. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* तृतीय श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1975, पृ. 193
22. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* जैन धर्म प्रकाशक कार्यालय, बिजनौर, 1941, पृ. 57
23. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव,* हिन्दी भाषानुवाद सहित श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, viii. 41 और 47, पृ. 117 और 118
24. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवादकर्ता), *जिन-वाणी,* भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, नयी दिल्ली वाराणसी, 1944, श्लोक 413 और 415, पृ. 107
25. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव,* हिन्दी भाषानुवाद सहित, viii.32, 33, 42 और 49, पृ. 115, 117 और 118
26. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960, iv 29, 31 और 32, पृ. 117
27. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव,* हिन्दीभाषानुवाद सहित, viii 35 और 57, पृ. 116 और 120
28. वही, viii 55, पृ. 119
29. वही, viii 48, पृ. 118
30. वही, viii 38, और 44 पृ. 116 और 117
31. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* द्वितीय संस्करण, जैन धर्म प्रकाशक कार्यालय, बिजनौर, 1941, पृ. 52-53
32. पतञ्जलि, *योगसूत्र* II.35
33. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960, iv. 27-28, पृ. 116
34. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव,* पन्नालाल बाकलीवालकृत हिन्दीभाषानुवाद, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, viii 13-14 और 58, पृ. 112 और 120
35. वही, viii 12,15 और 51 पृ. 111, 112 और 119
36. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवादकर्ता), *जिन-वाणी,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, वाराणसी, 1944, श्लोक 417, पृ. 107

37. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव,* पन्नालाल बाकलीवालकृत हिन्दीभाषानुवाद, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, viii. 16, पृ. 112
38. वही, viii 17, पृ. 112
39. वही, viii 18, 21, 22 और 24, पृ. 113–114
40. वही, viii 23 और 29, पृ. 114–115
41. हुकमचन्द भारिल्ल, *शाकाहार, जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में,* पन्द्रहवाँ संस्करण, 1994, राजेशकुमार जैन एवं शान्तिनाथ पाटील द्वारा सम्पादित सूक्तिसुधा में उद्धृत, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर 2000, पृ. 90
42. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960, iv 38, पृ. 119
43. अमृतचन्द्रसूरि, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,* भाषाटीका सहित, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1915, श्लोक 66, पृ. 39–40
44. हीरा लाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत* iv. 41, पृ. 119–120
45. अमृतचन्दसूरि, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, भाषाटीका सहित, श्री परम श्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 115, श्लोक 82, पृ. 45
46. *सूत्रकृतांग* 2.6.37–38, जैन सूत्र, सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट सीरिज़, अंक 45, पृ. 416
47. *आचारांग सूत्र* 1.1.6.5, जैनसूत्र, सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट सीरिज़, अंक 22, पृ. 12
48. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, बिजनौर, 1941, पृ. 85–86
49. अमृतचन्दसूरि, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, भाषाटीकासहित, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1915, श्लोक 62, पृ. 38–39
50. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, 1952, iv.36, पृ. 125
51. वही, iv.37, पृ. 125
52. हुकमचन्द भारिल्ल, *चिन्तन की गहराइयाँ,* द्वितीय संस्करण, 1999, राजेशकुमार जैन एवं शान्तिनाथ पाटील द्वारा सम्पादित सूक्तिसुधा में उद्धृत, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 2000, पृ. 95

अध्याय 5

1. हीरालाल जैन, *जिन-वाणी,* भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1975, पृ. 173 # 723 और 724
2. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* द्वितीय संस्करण, 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, बिजनौर, 1941, पृ. 81–82

3. *कार्तिकेयानुप्रेक्षा,* मूल 299, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, 1960
4. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पंचम संस्करण, सम्पादक, नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 71 # 22
5. वही, पृ. 75 # 17
6. वही, पृ. 71 # 21
7. दौलतराम कृत *छहढाला,* सटीक, दूसरी आवृत्ति, अनुवादक-मगनलाल जी जैन, श्री सेठी दि. जैन ग्रन्थमाला, वीर संवत् 2489, पृ. 11
8. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 3/1-2, अनुवादक-पन्नालाल बाकलीवाल, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, पृ. 61
9. चम्पक सागरजी महाराज, *आत्म-मन्थन,* श्री जैन सदाचार साहित्य समिति, जूनागढ़, 1965, पृ. 86
10. आचार्य पद्मनन्दि, *अनित्य-भावना* (अनित्यपञ्चाशत्), सम्पादक और अनुवादक, जुगल किशोर मुख्तार, वीर-सेवा-मन्दिर, सहारनपुर, 1946, श्लोक 28, पृ. 21
11. वही, श्लोक 4, पृ. 4
12. चम्पक सागरजी महाराज, *आत्म-मन्थन,* श्री जैन सदाचार साहित्य समिति, जूनागढ़, 1965, पृ. 71-72
13. आचार्य पद्मनन्दि, *अनित्य-भावना* (अनित्यपञ्चाशत्), सम्पादक और अनुवादक, जुगल किशोर मुख्तार, वीर-सेवा-मन्दिर, सहारनपुर, 1946, श्लोक 26, पृ. 19-20
14. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 1/49, अनुवादक-पन्नालाल बाकलीवाल, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, पृ. 15
15. आचार्य पद्मनन्दि, *अनित्य-भावना* (अनित्यपञ्चाशत्), सम्पादक और अनुवादक, जुगल किशोर मुख्तार, वीर-सेवा-मन्दिर, सहारनपुर, 1946, श्लोक 47, पृ. 34-35
16. चम्पक सागरजी महाराज, *आत्म-मन्थन,* श्री जैन सदाचार साहित्य समिति, जूनागढ़, 1965, पृ. 79
17. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1965, पृ. 276
18. आचार्य पद्मनन्दि, *अनित्य-भावना* (अनित्यपञ्चाशत्), सम्पादक और अनुवादक, जुगल किशोर मुख्तार, वीर-सेवा-मन्दिर, सहारनपुर, 1946, श्लोक 19, पृ. 14-15
19. वही, श्लोक 7-8, पृ. 6-7
20. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1965 पृ. 271
21. *बृहज्जिनवाणी संग्रह* (सम्पादक हुकमचन्द भारिल्ल) में संकलित भूधरदास कृत *बारह भावना,* दशम संस्करण, अखिल भारतीय जैन युवा फ़ैडरेशन, जयपुर 2006, पृ. 657

22. चम्पक सागरजी महाराज, *आत्म-मन्थन,* श्री जैन सदाचार साहित्य समिति, जूनागढ़, 1965, पृ. 86
23. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पंचम संस्करण, सम्पादक-नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 377 # 75
24. हुकमचन्द भारिल्ल, *वीतराग-विज्ञान पाठमाला,* भाग 2, नवा संस्करण, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, पृ. 6
25. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पंचम संस्करण, सम्पादक- नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 235 # 94
26. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1965, पृ. 271 # 1
27. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 1/46-47, अनुवादक-पन्नालाल बाकलीवाल, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई 1927, पृ. 14
28. आचार्य पद्मनन्दि, *अनित्य-भावना,* श्लोक 20, पृ. 15
29. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* पृ. 323
30. कुंथुसागरजी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1940 पृ. 94-95
31. वही, पृ. 81
32. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* तृतीय संस्करण, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1975, पृ. 91
33. अमितगति आचार्य, *तत्त्वभावना,* टीकाकार-ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1930, पृ. 15-16
34. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पंचम संस्करण, सम्पादक-नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 29 # 15
35. वही, पृ. 228 # 41 और पृ. 230 # 55
36. वही, पृ. 234 # 86
37. वही, पृ. 69 # 1-6
38. वही, पृ. 22 # 1-3 #
39. वही, पृ. 227 # 31 और पृ. 230 # 52 और 60
40. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 24/1 और 5, अनुवादक-पन्नालाल बाकलीवाल, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, पृ. 246

41. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पंचम संस्करण, सम्पादक-नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 6 # 41-43 और पृ. 28 # 13
42. आचार्य पद्मनन्दि, *अनित्य भावना,* श्लोक 17, पृ. 13-14
43. हीरालाल जैन (संपादक), *जिन-वाणी,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1975, पृ. 199
44. दौलतरामकृत *छहढाला,* सटीक, दूसरी आवृत्ति, अनुवादक-मगनलाल-जी जैन, श्री सेठी दि. जैन ग्रन्थमाला, 1955, पृ. 150-152
45. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पंचम संस्करण, सम्पादक-नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी,1968, पृ. 370-371 # 17 और पृ. 377 # 76
46. चम्पक सागरजी महाराज, *आत्म-मन्थन,* श्री जैन सदाचार साहित्य समिति, जूनागढ़, 1965, पृ. 87
47. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग,पंचम संस्करण, सम्पादक-नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 238-239 # 107 और # 112
48. कुंथुसागरजी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1940, पृ. 80-81
49. कुंथुसागरजी महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमणसार,* तृतीय संस्करण, शिखरचन्द्र कपूर चन्द जैन, जबलपुर, 1957, पृ. 2-3
50. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* पृ. 272
51. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* द्वितीय संस्करण, 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, बिजनौर, 1941, पृ. 54-55
52. चम्पक सागरजी महाराज, *आत्म-मन्थन,* श्री जैन सदाचार साहित्य समिति, जूनागढ़, 1965, पृ. 89
53. वही, पृ. 102
54. वही, पृ. 76-77
55. कुन्थुसागरजी महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमणसार,* तृतीय संस्करण, शिखरचन्द्र कपूर चन्द जैन जबलपुर, 1957, पृ. 7
56. कुंथुसागरजी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* पृ. 81
57. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 4/57-58, पृ. 81-82
58. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, पंचम संस्करण, सम्पादक-नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 71 # 20
59. वही, पृ. 373 # 38 और 39

अध्याय 6

1. कुन्थुसागर जी महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमणसार,* संशोधित तृतीय संस्करण, शिखरचन्द्र कपूरचन्द जैन, जबलपुर, 1957 पृ. 21
2. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* सम्पादक-हुकमचन्द भारिल्ल, दशम संस्करण, सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर, 1989, पहला अधिकार पृ. 5
3. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* चतुर्थ संस्करण, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1975, पृ. 120-121
4. वही, पृ. 133
5. वही, पृ. 127
6. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, सम्पादक-नरेन्द्र विद्यार्थी, पंचम संस्करण, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 91 # 1
7. अमितगति आचार्य, *तत्त्वभावना,* टीकाकार-ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1930, पृ. 268
8. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* पृ. 149
9. वही, पृ. 130
10. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* सम्पादक-हुकमचन्द भारिल्ल, दशम संस्ककरण, सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर, 1989,पहला अधिकार, पृ. 10
11. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* पृ. 129-130
12. आचार्य श्री कुन्थुसागर जी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* श्री आचार्य कुन्थुसागर ग्रंथमाला, सोलापुर 1940, पृ. 49
13. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव,* हिन्दी अनुवादक-पन्नालाल बाकलीवाल, श्रीपरम श्रुतप्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, 42. 33-34, पृ. 437
14. हरिलाल जैन, *वीतराग विज्ञान,* भाग 2, दौलतरामजी रचित *छहढाला* की द्वितीय ढाल पर कानजी स्वामी के प्रवचन, श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1971, पृ. 90.
15. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2.1.22, पृ. 20
16. आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमणसार,* तृतीय संस्करण, शिखरचन्द्र कपूरचन्द जैन, जबलपुर, 1957, श्लोक 80, पृ. 90-91.
17. आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* श्री आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1940, श्लोक 68-69 पृ. 50
18. पन्नालाल जैन-सम्पादक, *राम कथा,* पद्यानुवाद लेखक-पण्डित श्री गुणभद्र जी जैन, जैन साहित्य प्रकाशन,नयी दिल्ली, 1970, पृ. 306

19. ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई, *देव गुरु शास्त्र का स्वरूप*,-जैन दर्शन विद्यालय, जयपुर, 1961 पृ. 57

20. *जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला*, पाँचवा भाग, दूसरा संस्करण, वीतराग विज्ञान साहित्य प्रकाशन समिति, देहरादून, आगरा, 1974, पृ. 230

21. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 5.1.6,14 और 18 पृ. 84-87

22. हरिलाल जैन, *वीतराग विज्ञान*, भाग 2 दौलतराम जी रचित *छहढाला* की द्वितीय ढाल पर कानजी स्वामी के प्रवचन, श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़,1971, पृ. 149

23. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक*, पहला अधिकार, पृ. 20

24. हुकमचन्द भारिल्ल-सम्पादक, *बृहजिनवाणी संग्रह* में संग्रहीत-भूधरदास कृत *बारह भावना*, दसम् संस्करण, अखिल भारतीय जैन युवा फ़ैडरेशन, जयपुर, 2006, पृ. 657

25. अमृतचन्द्रसूरि, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*, हिन्दी भाषा टीका सहित, सम्पादक-नाथूराम प्रेमी, श्री परमश्रुतप्रभावक मंडल, बम्बई, 1915, पृ. 2

26. पं. टोडरमल कृत *मोक्षमार्ग प्रकाशक* पर कानजी स्वामी के प्रवचन, *मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें*, अनुवादक-मगनलाल जैन , श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़,1950, पृ. 196

27. आचार्य श्री शिवमुनि जी महाराज द्वारा श्री आत्माराम जी महाराज की *श्री जैनतत्त्व कलिका विकास* का सम्पादकीय, आत्मज्ञान-श्रमण-शिव अगम प्रकाशन समिति, लुधियाना, 2004, पृ. 6

28. आचार्य शिवमुनि, *भारतीय धर्मों में मुक्ति-विचार*, द्वितीय संस्करण, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2001, पृ. 123

29. आचार्य समन्तभद्र, *रत्नकरण्ड श्रावकाचार*, श्लोक 5, 7 और 8 हिन्दी अनुवादक—जयकुमार जलज, हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय, मुम्बई, 2006, पृ. 8

30. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 42.30-32, पृ. 436-437

31. हीरालाल जैन संपादक, *जैनधर्मामृत*, द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1965, प्रथम अध्याय, श्लोक 48, 50 और 51, पृ.47-48

32. हरिलाल जैन, *वीतराग विज्ञान*, भाग 2, दौलतराम जी रचित *छहढाला* की द्वितीय ढाल पर कानजी स्वामी के प्रवचन, श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1971, पृ. 112-113

33. हुकमचन्द भारिल्ल, *वीतराग-विज्ञान पाठमाला*, भाग 2, नवा संस्करण, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,जयपुर 1989, पृ. 13

34. दीपचंदजी शाह काशलीवाल, सम्पादक-पंडित परमानन्दजी जैन शास्त्री, *अनुभव प्रकाश,* श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, 1963, पृ. 50
35. ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई, *देव गुरु शास्त्र का स्वरूप,* श्री दिगम्बर जैन मंदिर, आगरा, 1961, पृ. 33-34
36. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* पहला अधिकार, पृ. 16-17
37. वही, पृ. 15
38. *नाटक समयसार,* उत्थानिका, छन्द 6; हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ* पृ. 141 में उद्धृत
39. दौलतराम जी, *छहढाला,* अनुवादक-मगनलालजी जैन, दूसरी आवृत्ति, श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ , 1963, छठवीं ढाल, छन्द 6 और 11, पृ. 137 और 146
40. भक्ति-पाठ-संग्रह, पृ. 25; हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* पृ. 134-135 में उद्धृत
41. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार),* भाषा टीकाकार-त्रिलोकचन्द जैन, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1944, श्लोक 32, पृ. 26
42. हुकमचन्द भारिल्ल, *वीतराग-विज्ञान पाठमाला,* भाग 2 नवा संस्करण, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर 1989, पृ. 48
43. आचार्य पद्मनन्दि, *अनित्य-भावना* (अनित्यपञ्चाशत्), अनुवादक-जुगलकिशोर मुख्तार, तृतीय संस्करण, वीर-सेवा-मंदिर, सहारनपुर, 1946, श्लोक 17 (भावार्थ), पृ. 13-14
44. आचार्य अमितगति, *तत्त्वभावना,* टीकाकार-ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जी, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1930, पृ. 181
45. दीपचंद जी शाह काशलीवाल, *अनुभव प्रकाश,* श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1963, पृ. 23
46. वही, पृ. 31-32
47. हीरालाल जैन-संपादक, *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी,1965, तृतीय अध्याय, श्लोक 13,14 और 16 और प्रथम अध्याय, श्लोक 36, पृ. 109 और 45
48. दीपचंद जी शाह काशलीवाल, *अनुभव प्रकाश,* पृ. 24-25
49. पं. टोडरमल कृत *मोक्षमार्ग प्रकाशक* पर कानजी स्वामी के प्रवचन, *मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें,* अनुवादक-मगनलाल जैन, श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1950, पृ. 205-206

50. हीरा लाल जैन-सम्पादक, *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1965, चतुर्दश (चौदहवाँ) अध्याय, श्लोक 33 और 63, पृ. 285 और 298
51. आचार्य देशभूषण महाराज-अनुवादक और सम्पादक, *रत्नाकर शतक,* श्री स्याद्वाद प्रकाशन मंदिर, आरा, 1950, पृ. 13
52. वही, पृ. 227-228
53. दीपचन्द जी शाह काशलीवाल, *अनुभव प्रकाश,* पृ. 56
54. वही, पृ. 30-31
55. वही, पृ. 11-12
56. चम्पक सागर जी महाराज, *आत्म-मन्थन,* श्री जैन सदाचार साहित्य समिति, जूनागढ़, 1965, पृ. 81-83
57. दीपचन्द जी शाह काशलीवाल, *अनुभव प्रकाश,* पृ. 36
58. नरेन्द्र विद्यार्थी-सम्पादक, *वर्णी-वाणी,* पञ्चम संस्करण, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 160.7 और पृ. 161.9
59. वही, पृ. 92-93 .8
60. दीपचन्द जी शाह काशलीवाल, *अनुभव प्रकाश,* पृ. 25
61. ज्ञानदर्पण, पद 43, दीपचन्द जी शाह काशलीवाल रचित *अनुभव प्रकाश,* पृ. 25 में उद्धृत
62. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* पहला अधिकार, पृ. 17
63. कुन्थुसागर जी महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमणसार,* संशोधित तृतीय संस्करण, शिखरचन्द्र कपूरचन्द जैन, जबलपुर, 1957, पृ. 25-29
64. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* चतुर्थ संस्कारण, वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1975, पृ. 123
65. मूलशंकर देशाई, *देव गुरु शास्त्र का स्वरूप,* श्री दिगम्बर जैन मंदिर, आगरा, 1961, पृ. 59
66. चम्पक सागरजी महाराज, *आत्म-मन्थन,* श्री जैन सदाचार साहित्य समिति, जूनागढ़, 1965, पृ. 87
67. कुन्थुसागर जी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर, 1940, पृ. 51
68. हीरालाल जैन-संकलन-अनुवादकर्ता, *जिन-वाणी,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, वाराणसी 1944, पृ. 17-21
69. दीपचन्द जी शाह काशलीवाल, *अनुभव प्रकाश,* पृ. 35

70. हीरालाल जैन, *वीतराग विज्ञान,* भाग 2, दौलतराम जी रचित *छहढाला* की द्वितीय ढाल पर कान जी स्वामी के प्रवचन, श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1971, पृ. 52-55 और 57

71. आचार्य अमितगति, *तत्त्वभावना,* टीकाकार-सीतल प्रसाद जी, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1930, पृ. 59-60 में उद्धृत

72. आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमणसार,* तृतीय संस्करण, शिखरचन्द्र कपूरचन्द जैन, जबलपुर, 1957, श्लोक 18, पृ. 20

73. *जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला,* पाँचवा भाग, दूसरा संस्करण, वीतराग विज्ञान साहित्य प्रकाशन समिति, देहरादून, आगरा, 1974, पृ. 1

74. हुकमचन्द भारिल्ल-सम्पादक, *बृहज्जिनवाणी संग्रह,* दसम् संस्करण, अखिल भारतीय जैन युवा फ़ैडरेशन, जयपुर, 2006, पृ. 644

75. हुकमचन्द भारिल्ल, *वीतराग-विज्ञान पाठमाला,* भाग 2, नवा संस्करण, 1989, पृ. 48

76. मूलशंकर देशाई, *देव गुरु शास्त्र का स्वरूप,* श्री दिगम्बर जैन मंदिर, आगरा, 1961, पृ. 58-59

77. नेमीचन्द जैन, *भक्ति के अंगूर* और *संगीत-समयसार,* मुनि श्री विद्यानन्द चातुमसि समारोह समिति, इन्दौर 1972 में उद्धृत, पृ. 31

78. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* चतुर्थ संस्करण, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1975, पृ. 132

79. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म,* द्वितीय संस्करण, 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, बिजनौर 1941, पृ. 32-33

80. आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमणसार* (सटीक), तृतीय संस्करण, शिखरचन्द्र कपूरचन्द जैन, जबलपुर, 1957, पृ. 29-31

81. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* सम्पादक-हुकमचन्द भारिल्ल, दशम संस्करण, सत्साहित्य प्रकाशन एंव प्रचार विभाग, जयपुर, 1989, छठवाँ अधिकार, पृ. 175-177 और 180

82. हरिलाल जैन, *वीतराग विज्ञान,* भाग 2, दौलतराम जी रचित *छहढाला* की द्वितीय ढाल पर कानजी स्वामी के प्रवचन, श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1971, पृ. 109, 115 और 116

83. आचार्य समन्तभद्र, *रत्नकरण्ड श्रावकाचार,* श्लोक 30, हिन्दी अनुवादक—जयकुमार जलज, हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय, मुम्बई, 2006, पृ. 13

84. आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमणसार,* संशोधित तृतीय संस्करण, शिखरचन्द्र कपूरचन्द जैन, जबलपुर, 1957, पृ. 75

85. ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई, *देव गुरु शास्त्र का स्वरूप,* श्री दिगम्बर जैन मंदिर, आगरा, 1961, पृ. 33

अध्याय-7

1. प्रकाशचन्द जैन एवं जयसेन जैन द्वारा सम्पादित *श्रुत पंचमी महा पर्व* में प्रकाशित देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच का "श्रुत क्या है ?" शीर्षक निबन्ध, इन्दौर: श्री दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम, 1980, पृ. 45 और 48

2. दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानु कृतिर्निरगच्छत्।
भव्यमनोगतमोघ्नन् अद्युतदेष यथैव तमोरि: ॥— *महापुराण* 23.69

3. वही 24/83

4. *नादबिन्दूपनिषद्* III.2.1

5. *कसायपाहुड*-1/97/129/14, सम्पादक-फूलचन्द्र, महेन्द्र कुमार एवं कैलाशचन्द्र, मथुरा:भारतीय दिगम्बर जैन संघ 1944, पृ. 129, पंक्ति 14

6. *तिलोयपण्णती* 1/62; 4/902 शोलापुर: जैन संस्कृति संरक्षक संघ, 1943, पृ. 8 और 263; देखिए *हरिवंश पुराण* II.113

7. *महापुराण* I.186 और *नियमसार तात्पर्यवृत्ति* 174

8. *स्वयम्भू स्तोत्र* 74, सरसावा: वीर सेवा मन्दिर,1951

9. *समाधिशतक मूल 2,* दिल्ली: वीर सेवा मन्दिर, 1964

10. *अमृतनादोपनिषद्* 24

11. *कसायपाहुड* 1/1,1/57/75/5, मथुरा: भारतीय दिगम्बर जैन संघ,1944; पृ. 75-76 पंक्ति 5-1, देखिए, *तिलोयपण्णती* 1/68-69

12. *जयधवला* 9/4,1, 44/120/10

13. *कसायपाहुड* 1/1-1,1/76/3, सम्पादक-फूलचन्द्र,महेन्द्र कुमार एंव कैलाशचन्द्र, मथुरा: भारतीय दिगम्बर जैन संघ 1944 (पृ. 76, पंक्ति 3); देखिए उसकी वीरसेन विरचित *जयधवला* टीका, वही, पृ. 76, पंक्ति 10-13.

14. पण्डित टोडरमल, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* जयपुर: सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, दशम संस्करण 1989, पृ. 18

15. कुन्दकुन्दाचार्य, *समयसार,* सम्पादक-पण्डित पन्नालाल, वाराणसी: श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, 1969, प्रस्तावना, पृ. 13

16. *छान्दोग्पयोपनिषद्* IV.9.3
17. *मुण्डकोपनिषद्* 1.2.12
18. *जयधवला* 1/1,1,122/368/3, (अमरावती प्रकाशन)
19. एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः, *आदिपुराण* 23/70, नयी दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 1944
20. *आदिपुराण* 23/70-23/72
21. *हरिवंश पुराण* 58/15; देखिए *महापुराण* 1/187
22. *स्वयम्भू स्तोत्र* 97
23. *कसायपाहुड* 1/1,1/126/1, मथुरा: भारतीय दिगम्बर जैनसंघ, 1944, (पृ. 126 पंक्ति 1)
24. *गोम्मटसार,* जीवकाण्ड 227/488/15 कलकत्ता: जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था
25. *कार्तिकेयानुप्रेक्षा, तात्पर्यवृत्ति* 1/6/15
26. *हरिवंशपुराण* 58/3, नयी दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ
27. *आदिपुराण* 1/188-189, नयी दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 1944
28. रणजीत सिंह कूमट, *ध्यान से स्वबोध,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 9
29. षट्खण्डागम, *धवला टीका-समन्वित,* प्रथम जिल्द, पृ. 61
30. *अलंकार-चिन्तामणि* 1/102, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण
31. *आदिपुराण* 23/154, नयी दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 1944
32. वही 23/155
33. *मूल में भूल,* भैया भगवतीदास जी और श्री बनारसीदास जी कृत दोहा पर श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, सोनगढ़: श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, 1947, पृ. 29
34. *नादबिन्दूपनिषद्* III.1.2.5
35. वही III.2.4-5
36. जिनभाषाऽधरस्पंदमंतरेण विजृंभिता।
तिर्यग्देवमनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत्॥—*हरिवंश पुराण* 2/113
37. पतञ्जलि रचित *योगसूत्र* II. 35
38. अमितगति आचार्य, *तत्त्वभावना,* टीकाकार-सीतल प्रसादजी, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1930, पृ. 320
39. *बृहज्जिनवाणी संग्रह,* जृ. 425
40. आचार्य पार्श्वदेव, *भक्ति के अंगूर और संगीत-समयसार,* सम्पादक-नेमीचन्द जैन, मुनि श्री विद्यानन्द चातुर्मास समारोह-समिति, इन्दौर, 1972, श्लोक 2, पृ. 4
41. वही, पृ. 3

42. वही, पृ. 27 (महाचन्द जैन भजनावली, 20)
43. *मूल में भूल,* भैया भगवती दास जी और श्री बनारसीदास जी कृत दोहा पर श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, सोनगढ़: श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, 1947, पृ. 32

अध्याय 8

1. *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र* IX.7
2. पद्मसिंह मुनिराजकृत *णाणसार (ज्ञानसार)*, श्लोक 60, भाषाटीकाकार—त्रिलोकचन्दजी जैन, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1944, पृ. 44
3. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता) *जिन-वाणी,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, वाराणसी, 1975, पृ. 165 # 684-686
4. कुंथुसागरजी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1940, पृ. 60
5. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/1/श्लोक 8, 17, 26, 45 और 46, अनुवादक-पन्नालाल बाकलीवाल, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, पृ. 17, 19, 21, 24 और 25
6. आचार्य पद्मनन्दि, *अनित्य-भावना,* सम्पादक और अनुवादक-जुगल किशोर मुख्तार, तृतीय संस्करण, वीर-सेवा-मन्दिर, सहारनपुर, 1946, श्लोक 37, 38, 40, 42 और 43 पृ. 27, 28, 29, 30 और 31
7. वही, श्लोक 5, 13, और 50, पृ. 10-11 और 36-37
8. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/1/15, 23, 37-39, पृ. 18, 20 और 23
9. अमृतचन्द्राचार्य, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,* परमश्रुत प्रभावक मंडल, मुंबई, 1915, पृ. 98
10. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी,* पृ. 67 # 693
11. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/2/8, 12, 16 और 19, पृ. 27-30
12. वही, 2/3/2, 8, 15, 16 और 17, पृ. 31-34
13. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी,* पृ. 167 # 694 और # 696
14. अमृतचन्द्राचार्य, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,* हिन्दी भाषाटीकाकार और सम्पादक-नाथूराम प्रेमी, परमश्रुतप्रभावक मंडल, बम्बई, 1915, पृ. 99
15. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी,* पृ. 169 # 697-699
16. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/4/5, 6 और 10, पृ. 35-36
17. कुन्थुसागरजी महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमणसार* (सटीक), शिखरचन्द्र कपूरचन्द जैन, जबलपुर, 1957, पृ. 83
18. अमृतचन्द्राचार्य, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,* हिन्दी भाषाटीकाकार और सम्पादक-नाथूराम प्रेमी, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1915, पृ. 100.

19. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी*, पृ. 169 # 701-702
20. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/5/6, 7 और 12, पृ. 38-39
21. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी*, पृ. 169 # 703
22. अमृतचन्द्राचार्य, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*, पृ. 100
23. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/6/3, 5, 7, 9 और 11, पृ. 40-41
24. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी*, पृ. 169 # 707
25. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/7/2, पृ. 43
26. *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र* IX.1
27. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/8/ श्लोक 1, 4, 5, 6, 7, 9, 10 और 11, पृ. 45-47
28. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी*, पृ. 171 # 714
29. अमृतचन्द्राचार्य, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* (हिन्दी भाषा टीका सहित), पृ. 101
30. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/9/ श्लोक 2 और 8, पृ. 47-48
31. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी*, पृ. 173 # 718
32. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/11/श्लोक 1, 6 और 7, पृ. 54-55
33. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/12/श्लोक 12 पृ. 58
34. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी*, पृ. 173 # 725
35. अमृतचन्द्राचार्य, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*, हिन्दी भाषाटीकाकार और सम्पादक-नाथूराम प्रेमी, परमश्रुतप्रभावक मंडल, बम्बई, 1915, पृ. 102
36. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 2/10/ श्लोक 6, 7, 15 और 16, पृ. 50-52
37. वही, 2/10/ श्लोक 20, पृ. 52
38. वही, 2/12/ उपसंहार-श्लोक 2, पृ. 59
39. *भगवती आराधना* / मूल टीका सहित, सखाराम दोशी, सोलापुर, 1935, पृ. 1679
40. हीरालाल जैन (संकलन-अनुवाद कर्ता), *जिन-वाणी*, पृ. 165 # 683
41. *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र* VII.11
42. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 27/श्लोक 4, पृ. 272
43. वही, 27 श्लोक 7, पृ. 272
44. हीरालाल जैन (संकलन-संपादन-अनुवाद कर्ता), *जैनधर्मामृत*, द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1965, पृ. 40, श्लोक 20-21
45. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 27/श्लोक 11-12, पृ. 273
46. वही 27 श्लोक 8-10, पृ. 272-273

47. वही 27 श्लोक 13-14, पृ. 273.
48. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म*, द्वितीय संस्करण, 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, बिजनौर, 1941, पृ. 84.
49. पतञ्जलि, *योगसूत्र*, I.33

अध्याय 9

1. हरिलाल जैन, *वीतराग विज्ञान*, भाग 2, दौलतराम जी रचित *छहढाला* की द्वितीय ढाल पर कानजी स्वामी के प्रवचन, श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1971, पृ. 112
2. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव*, सम्पादक—पन्नालाल जी बाकलीवाल, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1927, 3.20, पृ. 65
3. वही, 41.1, पृ. 424
4. वही, 22.6, 7, 11, 14 और 19, पृ. 233-235
5. वही, 22.21-23,25, 26, 34, 35 और दोहा 22, पृ. 235-238
6. वही, 23.2, 4, 6, 7, 11, 16, 17, 27, 29, 30 और 33, पृ. 239-244
7. आचार्य देशभूषण महाराज-अनुवादक और सम्पादक, *रत्नाकर शतक*, द्वितीय भाग, श्री स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर, आरा, 1950, पृ. 8
8. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार)*, भाषाटीकाकार-त्रिलोकचन्द जैन, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1944, पृ. 6-7
9. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी*, प्रथम भाग, पञ्चम संस्करण, सम्पादक-नरेन्द्र विद्यार्थी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968, पृ. 230, 232, 235 और 240
10. *ऋषिभासित*, अध्याय 22, गाथा 14
11. कन्हैयालाल लोढ़ा, *जैन-धर्म में ध्यान*, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 64
12. कन्हैयालाल लोढ़ा, *जैन धर्म में ध्यान*, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 247
13. वही, पृ. 10
14. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 3. 12, 13 और 16, पृ. 63-64
15. अमितगति आचार्य, *तत्त्वभावना* या *बृहत् सामयिक पाठ*, टीकाकार-सीतल प्रसाद जी, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1930, पृ. 109 और 292
16. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार)*, भाषा टीकाकार त्रिलोकचन्दजी जैन, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1944, श्लोक 36, पृ. 28
17. आचार्य जिनसेन, *आदि पुराण*, प्रथम भाग, सम्पादक तथा अनुवादक-पन्नालाल जैन, सातवाँ संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1944, 21.8, पृ. 474

18. वही, 21.9, पृ. 474
19. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 25.15 और 16, पृ. 255-256
20. *द्रव्यसंग्रह* 59, देखिए कन्हैयालाल लोढ़ा, *जैन धर्म में ध्यान*, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 247
21. कन्हैयालाल लोढ़ा, *जैन धर्म में ध्यान*, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 11
22. सागरमल जैन, कन्हैयालाल लोढ़ा की *जैन धर्म में ध्यान* की भूमिका, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 21
23. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 40.17, पृ. 420
24. *पंचास्तिकाय, मूल* 146, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1916, देखिए, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृ. 494
25. *अनगारधर्मामृत* 1.114.117, खूबचन्द, शोलापुर, 1927, देखिए, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृ. 494
26. आचार्य जिनसेन-सम्पादक, *आदिपुराण*, प्रथम भाग, 21.12, पृ. 475
27. वही, 21.132, पृ. 488
28. *राजवार्तिक* 9/27/24/627/10, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1952, देखिए, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृ. 481-482
29. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 25.19, पृ. 256
30. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार)*, श्लोक 11, पृ. 9
31. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 26.2 और 3, पृ. 262
32. *आदिपुराण*, प्रथम भाग 21.42-43, पृ. 478-479
33. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 40.7, पृ. 418
34. *आदिपुराण* 21.133, पृ. 489
35. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार)*, श्लोक 17; जैनेन्द सिद्धान्त कोश भाग 2, पृ. 477
36. *आदिपुराण*, प्रथम भाग 21.134,135,139 और 141, पृ. 489
37. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 33.22 और अन्तिम दोहा, पृ. 341
38. *आदिपुराण*, प्रथम भाग 21.141-142, पृ. 489-490
39. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 34.1, 9 और अन्तिम दोहा, पृ. 341, 343 और 345
40. *आदिपुराण* 21.143 और 147, पृ. 490
41. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 36. 3, 14 ,20, 21, 57 और 185, पृ. 352, 354, 355, 361 और 380

42. वही, 42.6, पृ. 431
43. वही, 42.9-11, पृ. 432
44. *आदिपुराण* 21.213-214, पृ. 497
45. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 42.31 और 39 पृ. 436 और 438
46. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार)*, भाषा टीकाकार-त्रिलोकचन्द जैन, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1944, श्लोक 13, पृ. 12
47. स्वामी पद्मनन्दि, *सद्बोध चंद्रोदय*, श्लोक 26, अमितगति आचार्य की *तत्त्वभावना* में उद्धृत, टीकाकार-सीतलप्रसाद जी, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, जैन पुस्तकालय, सूरत, 1930, पृ. 216
48. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार)*, भाषाटीकाकार-त्रिलोकचन्द, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत,1944, श्लोक 3, पृ. 4
49. वही, श्लोक 18, पृ. 15
50. वही, श्लोक 48, पृ. 34-35
51. वही, श्लोक 18, पृ. 15
52. वही, श्लोक 28, पृ. 21
53. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 37.1, पृ. 381
54. *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश*, भाग 2, पृ. 480
55. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार)*, पृ. 15
56. वही, पृ. 17-18
57. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 38.1, पृ. 387
58. हीरालाल जैन-सम्पादक, *जैनधर्मामृत*, द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी,1965, पृ. 86-87
59. आचार्य देशभूषण महाराज-अनुवादक और सम्पादक, *रत्नाकर शतक*, द्वितीय भाग, श्री स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर, आरा, 1950, पृ. 235-237 और 240
60. दीपचंदजी शाह काशलीवाल, *अनुभव प्रकाश*, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़, 1963, पृ. 13
61. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार)*, पृ. 18
62. वही, 38. 38 और 43-44, पृ. 394-395
63. आचार्य देशभूषण महाराज, *रत्नाकर शतक*, द्वितीय भाग, श्री स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर, आरा, 1950, पृ. 237

64. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 42.37, पृ. 437 और 38.14-15, पृ. 390
65. हुकमचन्द भारिल्ल-सम्पादक, *बृहज्जिनवाणी संग्रह,* दसम् संस्करण, अखिल भारतीय जैन युवा फ़ैडरेशन,जयपुर, 2006, पृ. 177
66. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 38.23, पृ. 392
67. वही, 38.24-26, 28, और 38.30-32, पृ. 392-393
68. वही, 3.25, पृ. 66
69. पतञ्जलि, *योगसूत्र* 1.27-28
70. आचार्य पार्श्वदेव, *भक्ति के अंगूर और संगीत-समयसार,* सम्पादक-नेमीचन्द जैन, मुनि श्री विद्यानन्द चातुर्मास समारोह- समिति, इन्दौर, 1972, श्लोक 2, पृ. 34
71. वही, पृ. 25 (जैनपद संग्रह, 106)
72. *द्रव्यसंग्रह* टीका 50, पातनिका 209/8, देहली प्रकाशन, 1953 देखिए, *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,* भाग 2, पृ 500
73. अमितगति आचार्य, *तत्त्वभावना,* टीकाकार-सीतल प्रसादजी, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1930, पृ. 319-320
74. *आदिपुराण* प्रथम भाग 21.120-130, पृ. 487-488
75. वही 23.61-62, 64, 66; 24.168 और 170, पृ. 547-548 और 591
76. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 39.1, 4-6, 18-20 और 23, पृ. 409-410 और 412
77. वही, 39. 32, 37 और 41-42, पृ. 413-415
78. वही, 39.46 और अन्तिम सोरठा, पृ. 416
79. वही, 40.15,16,19;31.35;40.28-31 और अन्तिम दोहा, पृ. 419-420, 314 और 422-423
80. दीपचंदजी शाह काशलीवाल, *अनुभव प्रकाश,* श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1933, पृ. 29
81. *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,* भाग 4, पृ. 31
82. *नियमसार तात्पर्यवृत्ति* 12 3; देखिए *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,* भाग 4, पृ. 32
83. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार),* भाषा टीकाकार-त्रिलोकचन्द जी जैन, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, 1944 श्लोक 37, 38, 41-45 और 47, पृ. 29-34; देखिए जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृ. 33
84. *आचारसार* 77-79 और 81; देखिए *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,* भाग 4, पृ. 33
85. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 4.6, पृ. 69-70

86. वही, 5.3, पृ. 85
87. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 4.10, पृ. 71
88. वही 4.17, पृ. 72 में शुभचन्द्राचार्य कहते हैं: "आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश व काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में संभव नहीं है।"
89. सागरमल जैन, कन्हैयालाल लोढ़ा की *जैन धर्म में ध्यान की भूमिका,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 37
90. वही, पृ. 37-38
91. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1965, पृ. 96-97 और समन्तभद्र कृत *रत्नकरण्ड श्रावकाचार,* हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय, मुम्बई, 2006, श्लोक 33, पृ. 13
92. हीरालाल जैन (संपादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1965, पृ. 96
93. समन्तभद्रकृत *रत्नकरण्ड श्रावाकाचार,* हिन्दी अनुवादक—जयकुमार जलज, हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय मुम्बई, 2006, श्लोक 25 और 26, पृ. 12
94. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 18.11, पृ. 278
95. पतञ्जलि, *योगसूत्र* 2.46
96. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 18.30-31,33 और 39-40, पृ. 282-284
97. वही, 18.21, पृ. 280
98. *आदिपुराण,* प्रथम भाग 21.60, 21.67-68 और 21.70-72, पृ. 480-482
99. आचार्य देशभूषण महाराज-अनुवादक और सम्पादक, *रत्नाकर शतक,* द्वितीय भाग, श्री स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर, आरा, 1950. पृ. 8
100. वही, पृ. 240
101. पद्मसिंह मुनिराज, *णाणसार (ज्ञानसार),* श्लोक 9, पृ. 8
102. गणेशप्रसाद वर्णी, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग पञ्चम संस्करण, सम्पादक-नरेन्द्र विद्यार्थी, वाराणसी, 1968, पृ. 94 # 13
103. *महापुराण* 21.8, देखिए *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,* भाग 2, पृ. 497
104. *आदि पुराण,* प्रथम भाग 21.81-83 पृ. 483
105. जिनभद्रक्षमाश्रमण, *ध्यानशतक,* सम्पादक एवं व्याख्याता—कन्हैयालाल लोढ़ा एवं सुषमा सिंघवी, प्राकृत भारती अकादमी, मुम्बई, 2007, पृ. 83-84

106. कन्हैयालाल लोढ़ा, *जैन धर्म में ध्यान,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 142
107. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 21.5-8, 20, 21, 23 और 25.2, 3, 5, 6 और 7, पृ. 221, 230 और 253-254
108. *आदि पुराण,* प्रथम भाग 21.5, 7, 212, 213, 215 और 237, पृ. 474, 497 और 499-500

अध्याय 10

1. कुन्थुसागरजी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1940, पृ. 108-109
2. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी 1965, पृ. 32
3. वही पृ. 33
4. कुन्थुसागरजी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* वही पृ. 108-109
5. कानजी स्वामी, *वीतराग विज्ञान,* भाग 2 (*छहढाला* के दूसरे अध्याय पर कानजी स्वामी के प्रवचन), कहान जैन शास्त्रमाला, सोनगढ़ 1971, पृ. 54
6. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* वही पृ. 307
7. अमितगति आचार्य, *तत्त्वभावना,* टीकाकार-ब्रह्मचारी सीतल प्रसाद, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, 1938, पृ. 34-35
8. वही, पृ. 35
9. वही, पृ. 126 में उद्धृत
10. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत,* पृ. 35
11. वही, पृ. 29
12. वही, पृ. 281-282
13. वही, पृ. 35-36
14. वही, पृ. 108-109
15. कुन्थुसागरजी महाराज, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1940, पृ. 103
16. कानजी स्वामी, *वीतराग विज्ञान,* भाग 2, *छहढाला* के दूसरे अध्याय पर कानजी स्वामी के प्रवचन, कहान जैनशास्त्रमाला, सोनगढ़, 1971, पृ. 35
17. वही, पृ. 93
18. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* चतुर्थ संस्करण, श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1975, पृ. 136

19. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, पृ. 295
20. कुन्थुसागरजी, महाराज, *श्रावक प्रतिक्रमण सार*, तृतीय संस्करण, शिखरचन्द्र कपूरचन्द, जबलपुर, 1957, पृ. 23
21. हुकमचन्द भारिल्ल, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ*, पृ. 141–142
22. हीरलाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, पृ. 36 और 283
23. वही, पृ. 282–283
24. वही, पृ. 284–285
25. वही, पृ. 298–299 और 37
26. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 32/1, पृ. 316
27. इस तथ्य को *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश* में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है: "कारण परमात्मा देश कालावच्छिन्न (स्थान और समय में सीमित न रहनेवाला) शुद्ध चेतन सामान्य तत्त्व है, जो मुक्त व संसारी तथा चींटी व मनुष्य सब में अन्वय रूप से (बिना कभी अनुपस्थित हुए) पाया जाता है।"—*जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश*, भाग 3, वीर सेवा मन्दिर, देहली, संवत् 2021, पृ. 19
28. हीरलाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, पृ. 268
29. वही, पृ. 42
30. वही, पृ. 29
31. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 32/8, पृ. 317
32. वही 42/ 73–75 और 81 पृ. 443– 445 (लेखक द्वारा अनूदित)
33. *आदिपुराण* 23/ 142–143/154–155,158,160 और 162 पृ. 560–561 और 563–564
34. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 31/ 29–30,41, 31–34 पृ. 313–316 (लेखक द्वारा अनूदित)
35. पतञ्जलि कृत *योगसूत्र* I.26
36. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 31/ 36, पृ. 314
37. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 31/37–39 पृ. 315
38. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, पृ. 43
39. दौलतराम जी, *छहढाला*, सटीक, द्वितीय आवृत्ति, श्री सेठी दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वीर संवत् 2489, पृ. 51
40. हीरलाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, पृ. 42–43
41. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 31/ 22, पृ. 312

42. दौलतराम जी, *छहढाला*, सटीक, पृ. 50
43. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, पृ. 285
44. वही, पृ. 266
45. वही, पृ. 287-288 और 306
46. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म*, द्वितीय संस्करण, जैन धर्म प्रकाशन कार्यालय, बिजनौर 1941, पृ. 94-96
47. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, पृ. 321
48. नाथूराम डोंगरीय जैन, *जैन-धर्म*, पृ. 96
49. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 21/1 पृ. 220; 32/ 74 पृ. 329; 21/ 7 और 8, पृ. 221; 23/11 पृ. 240 और 32/51 पृ. 325
50. हीरलाल जैन (सम्पदाक), *जैनधर्मामृत*, पृ. 297
51. शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव* 32/ 45, पृ. 324
52. हीरालाल जैन (सम्पादक), *जैनधर्मामृत*, पृ. 316
53. वही, पृ. 313

मुख्य ग्रन्थकार: संक्षिप्त परिचय

अमितगति आचार्य : श्री अमितगति एक परम तत्त्वज्ञानी, परम योगी आचार्य हैं। आपने बहुत-से ग्रन्थ रचे हैं। उनमें *धर्मपरीक्षा, सुभाषितरत्नसंदोह, योगसार, तत्त्वभावना* व *श्रावकाचार* मुद्रित हो चुके हैं। आपके गुरु श्री देवसेन जी थे। आचार्य जी के वचन बिल्कुल निष्पक्ष व जिनवाणी के सार को लिये हुए हैं।

कानजी स्वामी : श्री कानजी स्वामी भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के परम भक्त थे। उन्होंने कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित शास्त्र *समयसार* के अर्थ-गंभीर सूक्ष्म सिद्धांतों को अति स्पष्ट और सरल बनाया है। *समयसार* में भरे हुए अनमोल तत्त्व रत्नों का मूल्य ज्ञानियों के हृदय में छिप रहा था। उन्होंने वह जगत् को दर्शाया है। श्री कानजी स्वामी ने बहुत-सी प्रसिद्ध रचनाओं पर प्रवचन किये हैं जिनमें *मूल में भूल, वीतराग विज्ञान* और *छहढाला पर प्रवचन* विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। *मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें* उनकी जानी-मानी रचना है।

काशलीवाल, दीपचन्द जी शाह : पण्डित दीपचन्द जी शाह अठारहवीं शताब्दी के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान और कवि थे। आप आध्यात्मिक ग्रन्थों के मर्मज्ञ और सांसारिक देह भोगों से उदास रहते थे। आपकी सभी रचनाएँ जैसे *अनुभव प्रकाश, आत्मावलोकन स्तोत्र, चिद्विलास, परमात्म पुराण, उपदेश रत्नमाला* और *ज्ञान दर्पण* आध्यात्मिक रस से ओत-प्रोत हैं। इन रचनाओं में *ज्ञान दर्पण* को छोड़कर शेष सभी रचनाएँ हिन्दी गद्य में हैं जो ढूंढारी भाषा में हैं।

कुन्थुसागर जी महाराज, आचार्य : आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज, परम-पूज्य गुरु श्री आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के प्रमुख गण्य शिष्य थे। मुनि अवस्था में ही आपने मुनिराज श्री सुधर्मसागर जी से संस्कृत भाषा का अभ्यास किया था।

उसके चार वर्ष बाद आचार्य महाराज ने उनके चरित्र की निर्मलता को देखकर उन्हें 'ऐलक' पद से दीक्षित किया जो कि श्रावकपद में उत्तम स्थान है। बाद में उन्हें मुनि कुन्थुसागर के नाम से अलंकृत किया। स्व. पूज्य कुन्थुसागर जी महाराज के उपदेश से गुजरात, काठियावाड़, महाराष्ट्र आदि प्रांतों के अनेक राजा बहुत प्रभावित हुए और वे महाराज के अच्छे भक्त बन गये थे। आपका मुनि अवस्था का नाम श्री 108 गणेशकीर्ति महाराज था और आपकी प्रमुख रचनाएँ *श्रावक प्रतिक्रमणसार* और *सुधर्मोपदेशामृतसार* हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य: भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव का दिगम्बर जैन परम्परा में सर्वोत्कृष्ट स्थान है। दिगम्बर जैन के धर्मानुयायी शास्त्र-पठन से पूर्व जिस पवित्र श्लोक को मंगलाचरण के रूप में बोलते हैं उससे सिद्ध होता है कि भगवान् श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतम स्वामी के तुरन्त पश्चात्, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान आता है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के रचे हुए अनेक शास्त्र हैं जिनमें *पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, समयसार* और *नियमसार* बहुत प्रसिद्ध हैं।

कूमट, रणजीत सिंह: श्री रणजीत सिंह कूमट जी *ध्यान से स्वबोध* के रचयिता हैं। इस पुस्तक में कूमट जी ने जैन आगम, बुद्ध त्रिपिटिक, पातंजल योग से लेकर आधुनिक चिन्तक जे. कृष्णमूर्ति, निसर्गदत्त जी महाराज आदि के विचारों और स्वयं के वर्षों के अनुभव का मिश्रण समाहित कर इसे एक उपयोगी पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया है।

गुणभद्राचार्य: गुणभद्राचार्य अपने समय के बड़े विद्वान हुए हैं। आप उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त, तपस्वी और भावलिंगी मुनिराज थे। आपने *उत्तरपुराण* नामक ग्रन्थ की रचना की। आपके गुरु जिनसेन ने अपने अंतिम समय में अपने सबसे योग्य शिष्य गुणभद्राचार्य को बुलाकर अधूरे लिखे *महापुराण* ग्रन्थ को पूरा करने की आज्ञा दी।

जिनसेन, आचार्य: आचार्य जिनसेन एक सिद्धांतज्ञ के साथ-साथ उच्च कोटि के कवि थे। उन्होंने *पार्श्वाभ्युदय काव्य* की रचना की जो संस्कृत साहित्य की एक अनुपम और उत्कृष्ट रचनाओं में गिनी जाती है। आचार्य जिनसेन, वीरसेन स्वामी के शिष्य थे। उनकी अन्य रचनाओं में *आदिपुराण, वर्धमानपुराण* और *जयधवला टीका* प्रमुख हैं।

जैन, नाथूराम डोंगरीय: पण्डित श्री नाथूराम जी इंदौर नगरी के प्रख्यात विद्वान हैं। इन्होंने *जैन-धर्म* नामक ग्रन्थ की रचना की। उनके पूर्वज मध्यप्रदेश के डोंगरा ग्राम के रहनेवाले थे जिससे आप डोंगरीय उपनाम से समाज में प्रसिद्ध हैं। आपने भगवान कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा, दो हज़ार वर्ष पूर्व रचित एक अपूर्व आध्यात्मिक कृति *समयसार* जोकि प्राकृत भाषा में थी, को आधुनिक राष्ट्रीय भाषा हिन्दी के पद्यों में निर्माण कर *समयसार वैभव* के नाम से प्रस्तुत किया है।

जैन, हीरालाल: डॉ. हीरालाल जैन, जैन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान, अध्येता और अध्यापक थे। उन्होंने भगवान महावीर के बचनों पर आधारित अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक गाथाओं का संकलन किया जिसे *जिनवाणी* के नाम से जाना जाता है। डॉ. हीरालाल जी भारतीय ज्ञानपीठ के संचालक मंडल में थे और मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला के सम्पादक भी रहे।

टोडरमल, पण्डित: पण्डित श्री टोडरमल जी जैन विद्वानों में महान् प्रतिभाशाली माने जाते हैं। वे एक गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। स्वाभाविक कोमलता, सदाचारिता, जन्मजात विद्वत्ता के कारण गृहस्थ होकर भी 'आचार्यकल्प' कहलाने का सौभाग्य आपको ही प्राप्त है। पण्डित जी ने प्राचीन जैन ग्रन्थों की विस्तृत, गहन परन्तु सुबोध भाषा-टीकाएँ लिखीं। पण्डित टोडरमल जी की रचनाओं में सात तो टीका ग्रन्थ हैं और पाँच मौलिक रचनाएँ हैं। *मोक्षमार्ग प्रकाशक* पण्डित टोडरमल जी का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जैन साहित्य है।

देशभूषण जी महाराज, आचार्य: श्री आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज की प्राचीन ग्रन्थों को सरल और आधुनिक भाषा में प्रकाशित कराने में तीव्र रुचि रहती है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, मराठी, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं के समर्थ विद्वान हैं। उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में *रत्नाकर शतक* और *परमात्म प्रकाश* प्रमुख हैं जो हिन्दी भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं।

देशाई, ब्रह्मचारी मूलशंकर: ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई *श्रीतत्त्वसार, देव गुरु शास्त्र का स्वरूप* और *पंचलब्धि* नामक पुस्तकों के रचयिता हैं।

दौलतराम: पण्डित श्री दौलतराम जी का जन्म हाथरस में हुआ। वे एक कवि थे। उन्होंने *छहढाला* काव्य की रचना की। संसार के जीवों को दु:ख से छूटने का व सुख की प्राप्ति का पथ दिखानेवाली यह छहढाला सब जैनों के लिये उपयोगी है। यह बहुत जगह पाठशालाओं में पढ़ाई जाती है।

पद्मनन्दि, आचार्य: जैन साहित्य में इस नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। आचार्य पद्मनन्दि द्वारा रचित अनेक कृतियों में *अनित्य भावना* ग्रन्थ प्रमुख है। वे अध्यात्म के विशेष प्रेमी थे।

भारिल्ल, हुकुमचन्द: डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल एक प्रख्यात विचारक थे। उन्होंने जैन साहित्य पर बहुत-सी पुस्तकें लिखीं जिनमें *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, बृहज्जिनवाणी संग्रह, वीतराग-विज्ञान पाठमाला, निमित्त-उपादान, नयचक्र* आदि प्रमुख हैं। श्री कानजी स्वामी उनके गुरु थे। उन्हें कई पुरस्कारों से नवाज़ा गया जैसे कि 'वीर निर्वाण भारती अवॉर्ड।' वे अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद् के अध्यक्ष भी रह चुके हैं।

लोढ़ा, कन्हैया लाल: श्री कन्हैया लाल लोढ़ा विपश्यना व पातञ्जल दोनों परम्पराओं के उच्च स्तरीय साधक हैं। वे जैन दर्शन व ध्यान प्रणाली के भी प्रमुख विद्वान हैं। अपनी पुस्तक *जैन धर्म में ध्यान* में उन्होंने सभी प्रचलित साधना पद्धतियों व उनके अंतर्निहित सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में जैन धर्म में प्रतिपादित ध्यान प्रणाली को प्रस्तुत किया है।

वर्णी, गणेश प्रसाद: श्री गणेश प्रसाद वर्णी जी का जैन समाज में विशेष स्थान है। बुन्देलखण्ड के जैन समाज में जैन संस्कृति, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जी के अथक प्रयासों से ही जीवित रह सकी है। उन्होंने अनेक पाठशालाओं, विद्यालयों, शिक्षा-मन्दिरों और गुरुकुलों की स्थापना की। वे पहले वर्णी, फिर क्षुल्लक और अन्तिम समय में दिगम्बर मुनि के पद के धारक हुए। देश भर में आपने धर्म प्रचार के लिये यात्राएँ कीं। आचार्य विनोबा भावे, बंगाल की प्रसिद्ध संत आनन्दमयी माँ, यहाँ तक कि भारत के पहले राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद भी उनके प्रति श्रद्धा और मान रखते थे। नरेन्द्र विद्यार्थी के सम्पादन में *वर्णी-वाणी* इनकी सबसे जानी-मानी रचना है।

शुभचन्द्राचार्य: आचार्य शुभचन्द्राचार्य जी ईसा पू. ग्यारहवीं सदी में हुए हैं। वे होयसला विष्णुवर्धन के शासनकाल के समय जैन मठाधीश थे। ऐसा कहा जाता है कि जब उन्होंने राजा का कष्ट दूर किया तो राजा ने ख़ुश होकर उन्हें 'चारूकीर्ति' की पदवी से नवाज़ा। आचार्य शुभचन्द्राचार्य जी *ज्ञानार्णव* के रचयिता हैं। इस प्रसिद्ध रचना का दूसरा नाम योगार्णव है। इसमें योगीश्वरों के आचरण करने योग्य, जानने योग्य सम्पूर्ण जैनसिद्धान्त का रहस्य भरा हुआ है। जैनियों का यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके पठन-मनन से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह वचन अगोचर है। यह मानना ही होगा कि ऐसी स्वाभाविक, शीघ्रबोधक, सौम्य, सुन्दर और हृदयग्राही संस्कृत कविता बहुत थोड़ी देखी जाती है।

समन्तभद्र आचार्य: आचार्य समन्तभद्र ने *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* नामक ग्रन्थ की रचना की। यह जैन श्रावकों की आदि आचार संहिता है। इसी कारण इसके प्रति सदैव एक असाधारण आकर्षण सभी में रहा है। मूलत: संस्कृत भाषा में होने के कारण कठिनाई से समझ में आनेवाला यह ग्रन्थ प्राय: प्रवचनों के माध्यम से ही जैनों तक पहुँचता रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

अनगारधर्मामृत, खूबचन्द शोलापुर प्रकाशन,1927

अमितगति, आचार्य, *तत्त्वभावना* या बृहत् सामयिक पाठ, ब्रह्मचारी सीतल प्रसाद जी (टीकाकार), सूरत: मूलचन्द किसनदास कापड़िया, 1930

अमृतनादोपनिषद्

अमृताचार्य, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,* हिन्दी भाषा टीकाकार और सम्पादक—नाथूराम प्रेमी, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1915

अमृताशीति

अलंकार चिन्तामणि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

आचारसार

आचारांग सूत्र, हरमन जैकोबी (अँगरेज़ी अनुवादक), सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट सीरिज़, अंक 22, पुनर्मुद्रण, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1964

आत्माराम जी महाराज, *श्री जैनतत्त्व कलिका विकास,* तृतीय संस्करण, लुधियाना: आत्मज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, 2004

उत्तराध्ययन, भाग 27, हरमन जैकोबी (अँगरेजी अनुवादक), सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरिज़, अंक 42, पुनर्मुद्रण, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1964

ऋगवेद

ऋषिभासित

एपिग्राफ़िका इंडिका

कबीर साखी-संग्रह, भाग 1 और 2, दसवीं बार, इलाहाबाद: बेलवीडियर प्रिंटिग वर्कस, 1996

कल्पसूत्र

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, 1960

कानजी स्वामी, *मूल में भूल,* भैया भगवतीदास जी और श्री बनारसीदास जी कृत दोहा पर श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, सोनगढ़: श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, 1947

कानजी स्वामी, *मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें,* कहान जैन शास्त्रमाला, सोनगढ़ : जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, 1950

कानजी स्वामी, *वीतराग विज्ञान,* भाग 2, *छहढाला* के दूसरे अध्याय पर कानजी स्वामी के प्रवचन, कहान जैन शास्त्रमाला, सोनगढ़ : 1971

काशलीवाल, दीपचंदजी शाह, *अनुभव प्रकाश,* पंडित परमानन्दजी जैन शास्त्री (सम्पादक), श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, 1963

कुन्थुसागर जी महाराज, आचार्य, *श्रावक प्रतिक्रमणसार,* तृतीय संस्करण, जबलपुर : शिखरचन्द्र कपूरचन्द जैन, 1957

कुन्थुसागर जी महाराज, आचार्य, *सुधर्मोपदेशामृतसार,* सोलापुर : आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, 1940

कुन्दकुन्दाचार्य, *नियमसार,* ब्रह्मचारी शीतलप्रासद जी कृत हिन्दी भाषाटीका सहित, बम्बई : जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, 1916

कुन्दकुन्दाचार्य, *समयसार,* पण्डित पन्नालाल (सम्पादक), वाराणसी : श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, 1969

कूमट, रणजीत सिंह, *ध्यान से स्वबोध,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007

गोपालन, एस, *जैन दर्शन की रूपरेखा,* नयी दिल्ली : वाइली ईस्टर्न लिमिट्ड, 1973

गोम्मटसार, *कर्मकाण्ड,* कलकत्ता : जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था

गोम्मटसार, *कर्मकाण्ड,* अगास : श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, 1978

गोम्मटसार, *जीवकाण्ड,* अगास : श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, 1972

चम्पकसागर जी महाराज, *आत्म-मन्थन,* जूनागढ़ : श्री जैन सदाचार साहित्य समिति, 1965

चारित्रसार, महाबीर जी प्रकाशन, 1962

छान्दोग्पयोपनिषद्

जयधवला, अमरावती प्रकाशन

जिनभद्रक्षमाश्रमण, *ध्यानशतक,* व्याख्याता—कन्हैयालाल लोढ़ा एवं सुषमा सिंघवी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007

जिनसेन, आचार्य, *आदि पुराण,* भाग 1-2, पन्नालाल जैन (सम्पादक तथा अनुवादक), सातवाँ संस्करण, नयी दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1944

जैन, नरेन्द्र, *करुणा का झरना,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2005

जैन, नाथूराम डोंगरीय, *जैन-धर्म,* द्वितीय संस्करण, बिजनौर: 'जैनधर्म' प्रकाशक कार्यालय, 1941

जैन, पन्नालाल (सम्पादक), *राम कथा,* पण्डित श्री गुणभद्र जी जैन (पद्यानुवाद लेखक), नयी दिल्ली: जैन साहित्य प्रकाशन, 1970

जैन, प्रकाश चन्द एवं जयसेन जैन (संपादक), श्रुत पंचमी महापर्व, इन्दौर: दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम, 1980

जैन, राजाराम, *शौरसेनी प्राकृत भाषा एवं उसके साहित्य का संक्षिप्त इतिहास,* नयी दिल्ली: कुन्दकुन्द भारती, 2001

जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, पाँचवा भाग, दूसरा संस्करण, देहरादून, आगरा: वीतराग विज्ञान साहित्य प्रकाशन समिति, 1974

जैनी, जे. एल. (सम्पादक), *तत्त्वार्थाधिगम सूत्र,* आरा: दिगम्बर सेन्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस

टोडरमल, पण्डित, *मोक्षमार्ग प्रकाशक,* हुकमचन्द भारिल्ल (सम्पादक), मगनलाल जैन (अनुवादक), दशम संस्करण, जयपुर: सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, 1989

तिलोयपण्णत्ती, शोलापुर: जैन संस्कृति संरक्षक संघ, 1943

दरिया साहिब (बिहारवाले), गणेश-गोष्ठी, हस्तलिखित ग्रन्थ

दर्शनपाहुड़ टीका, बम्बई: माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, विक्रमी सम्वत् 1977

दादू दयाल की बानी, भाग 1, इलाहाबाद: बेलवीडियर प्रिंटिग वर्क्स, 1974

दीघ निकाय, भाग 1-3, लन्दन: पालि टेक्स्ट सोसाइटी

देव, योगेन्दु, योगसार

देवसेनाचार्य, *बृहद नयचक्र,* बम्बई: माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, 1977

देवकीनन्दन, पंडित, *पंचाध्यायी,* 1932

देशभूषण महाराज, आचार्य (अनुवादक और सम्पादक), *रत्नाकर शतक,* आगरा : श्री स्याद्वाद प्रकाशन मंदिर, 1950

देशाई, ब्रह्मचारी मूलशंकर, *देव गुरु शास्त्र का स्वरूप,* आगरा : श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, 1961

दौलतराम, *छहढाला,* मगनलाल जी जैन (अनुवादक), दूसरी आवृत्ति, सोनगढ़ : श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, 1963

द्रव्यसंग्रह, मूल या टीका, देहली प्रकाशन, 1953

नादबिन्दूपनिषद्, भाग 3

पंचास्तिकाय, बम्बई : परमश्रुत प्रभावक मण्डल, 1916

पतञ्जलि, *योगसूत्र*

पद्मनन्दि, आचार्य, *अनित्य-भावना* (अनित्यपञ्चाशत्), जुगल किशोर मुख्तार (सम्पादक और अनुवादक), तृतीय संस्करण, सहारनपुर : वीर सेवा मन्दिर, 1946

पद्मनन्दि, आचार्य, *पंचविंशतिका,* शोलापुर : जीवराज ग्रन्थमाला, 1932

पद्मनन्दि, आचार्य, *सद्बोध चंद्रोदय*

परमात्म प्रकाश, द्वितीय संस्करण, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, 1960

पलटू साहिब की बानी, भाग 1, इलाहाबाद: बेलवीडियर प्रिंटिग वर्क्स, 2002

पार्श्वदेव, आचार्य, *भक्ति के अंगूर और संगीत-समयसार,* नेमीचन्द जैन (सम्पादक), इन्दौर : मुनि श्री विद्यानन्द चातुर्मास समारोह समिति, 1972

प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति

फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, महेन्द्र कुमार एवं कैलाशचन्द्र (सम्पादक), *कसायपाहुड,* भाग 1-13, मथुरा : भारतीय दिगम्बर जैन संघ, 1944-1972

बोध पाहुड़, बम्बई : माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, 1920

भगवती आराधना, मूल और टीका, सखाराम दोशी, सोलापुर, 1935

भगवती सूत्र, भाग 1-2, प्रधान सम्पादक—श्री अमर मुनि जी महाराज, पद्म प्रकाशन, दिल्ली, 2005-2006

भारिल्ल, हुकमचन्द, *सूक्तिसुधा,* संकलन और सम्पादन कर्ता—राजेश कुमार जैन एवं शान्तिनाथ पाटील, पण्डित टोडरमलस्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 2000

भारिल्ल, हुकमचन्द, *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ,* चतुर्थ संस्करण, आगरा : श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन, 1975

भारिल्ल, हुकमचन्द, *वीतराग-विज्ञान पाठमाला,* भाग 2, नवा संस्करण और भाग 3 पाँचवी आवृत्ति, जयपुर: पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, 1989 और 1984

भारिल्ल, हुकमचन्द (सम्पादक), *बृहज्जिनवाणी संग्रह,* दशम् संस्करण, जयपुर: अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन, 2006

भाव पाहुड़, बम्बई: माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, 1920

मज्झिम निकाय, भाग 1-3, लन्दन: पालि टेक्स्ट सोसाइटी, 1948-1951

महापुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, बनारस: 1951

मुण्डकोपनिषद्

मुनिराज, पद्मसिंह, *णाणसार (ज्ञानसार),* त्रिलोकचन्द जैन (भाषाटीकाकार), सूरत: मूलचन्द किसनदास कापड़िया, 1944

यजुर्वेद

रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समन्तभद्र कृत हिन्दी अनुवादक—जयकुमार जलज, हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय, मुम्बई, 2006

रयणसार

राजवार्तिक, दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1951

लोढ़ा, कन्हैयालाल, *जैन धर्म में ध्यान,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007

वर्णी, गणेशप्रसाद, *वर्णी-वाणी,* प्रथम भाग, नरेन्द्र विद्यार्थी (सम्पादक), पञ्चम संस्करण, वाराणसी: श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, 1968

वर्णी, गणेशप्रसाद (प्रवचनकार), *समयसार,* पण्डित पन्ना लाल (सम्पादक), वाराणसी: श्री गणेशाप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, 1969

वर्णी, जिनेन्द्र (सम्पादक), *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,* भाग 1-4, दिल्ली, वाराणसी: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1970-1986

शास्त्री, पण्डित गोविन्दराज जैन, *कुरल काव्य,* 1954

शिवमुनि, आचार्य, *भारतीय धर्मों में मुक्ति-विचार,* द्वितीय संस्करण, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2001

शुभचन्द्राचार्य, *ज्ञानार्णव,* पन्नालाल बाकलीवाल (सम्पादक और अनुवादक), बम्बई: श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, 1927

षट्खण्डागम

संगवे, विलास ए., *आसपेक्ट्स ऑफ़ जैन रिलिजन,* दूसरा संस्करण, नयी दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1999

समन्तभद्र, आचार्य, *रत्नकरण्ड श्रावकाचार,* हिन्दी अनुवादक—जयकुमार जलज, हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय, मुम्बई, 2006

सर्वार्थसिद्धि, बनारस: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1955

सागर, ललितप्रभ, *ज्योति कलश छलके,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1993

सोगाणी, कमलचन्द, *उत्तराध्ययन– चयनिका,* चतुर्थ संस्करण, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1998

स्कन्द पुराण

स्वयम्भू स्तोत्र, सरसावा: वीर सेवा मन्दिर, 1951

समाधिशतक, दिल्ली: वीर सेवा मन्दिर, 1964

सूरि, आचार्य अमृतचन्द्र, *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,* नाथूराम प्रेमी (हिन्दी भाषाटीकाकार और सम्पादक), बम्बई: श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, 1915

सूरि, नागसेन, *तत्त्वानुशासन,* दिल्ली: वीर सेवा मन्दिर, 1963

सूत्रकृतांग, सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट सीरिज़, अंक 45

स्वामी जी, *सारबचन, छंद-बंद,* तेरहवीं बार, ब्यास: राधास्वामी सत्संग, 1994

हरिलाल जैन, *वीतराग विज्ञान,* भाग 2, दौलतराम जी रचित *छहढाला* की द्वितीय ढाल पर कानजी स्वामी के प्रवचन, सोनगढ़: श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, 1971

हरिवंशपुराण, बम्बई: माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला

हीरालाल जैन, (संपादक-अनुवादक), *जिन-वाणी,* नयी दिल्ली, वाराणसी: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1944

हीरालाल जैन, (संपादक-अनुवादक), *जिन-वाणी,* नयी दिल्ली, वाराणसी: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1944

हमारे प्रकाशन

हज़ूर स्वामी जी महाराज

सारबचन संग्रह
सारबचन वार्तिक

बाबा जैमल सिंह जी

परमार्थी पत्र, भाग 1

महाराज सावन सिंह जी

परमार्थी पत्र, भाग 2
सन्तमत सिद्धान्त
शब्द की महिमा के शब्द
सन्तमत प्रकाश, भाग 1 से 5
प्रभात का प्रकाश
परमार्थी साखियाँ
गुरुमत सिद्धान्त, भाग 1, 2
गुरुमत सार

महाराज जगत सिंह जी

आत्म-ज्ञान
रूहानी फूल

महाराज चरन सिंह जी

सन्तों की बानी
सन्त-वचन (सन्त-संवाद, भाग 2)
सन्तमत दर्शन
सन्त-मार्ग
दिव्य प्रकाश
जीवत मरिए भवजल तरिए
प्रकाश की खोज
पारस से पारस
सन्त-संवाद
सत्संग संग्रह, भाग 1 से 6

'पूर्व के सन्त-महात्मा' पुस्तक-माला के अन्तर्गत

सन्त नामदेव—जनक पुरी, वीरेन्द्र कुमार सेठी, टी. आर. शंगारी
सन्त कबीर—शान्ति सेठी
परम पारस गुरु रविदास—के. एन. उपाध्याय
गुरु नानक का रूहानी उपदेश—जनक पुरी
गुरु अर्जुन देव—महिन्दर सिंह जोशी
भाई गुरदास—महिन्दर सिंह जोशी
सन्त तुकाराम—चन्द्रावती राजवाडे
नाम-भक्ति: गोस्वामी तुलसीदास—के. एन. उपाध्याय, पंचानन उपाध्याय
मीरा: प्रेम-दीवानी—वीरेन्द्र कुमार सेठी

सन्त दादू दयाल—के. एन. उपाध्याय
पलटू साहिब—राजेन्द्र कुमार सेठी, आर. सी. बहल
सन्त चरनदास—टी. आर. शंगारी
सन्त दरिया (बिहारवाले)—के. एन. उपाध्याय
तुलसी साहिब—जनक पुरी, वीरेन्द्र कुमार सेठी
उपदेश राधास्वामी (स्वामी जी महाराज)—सहगल, शंगारी, 'ख़ाक', भण्डारी
साईं बुल्लेशाह—जनक पुरी, टी. आर. शंगारी
हज़रत सुलतान बाहू—कृपाल सिंह 'ख़ाक'
सरमद शहीद—टी. आर. शंगारी, पी. एस. 'आलम'
बोलै शेख़ फ़रीद—टी. आर. शंगारी
कामिल दरवेश शाह लतीफ़—टी. आर. शंगारी

सतगुरुओं के विषय में

रूहानी डायरी, भाग 1, 2—राय साहिब मुंशीराम
धरती पर स्वर्ग—दरियाईलाल कपूर
अनमोल ख़ज़ाना—शान्ति सेठी
मेरा सतगुरु—जूलियन पी. जॉनसन

सन्तमत के सम्बन्ध में

नाम-सिद्धान्त—शंगारी, 'ख़ाक', भण्डारी, सहगल
सन्तमत विचार—टी. आर. शंगारी, कृपाल सिंह 'ख़ाक़'
सन्त-सन्देश—शान्ति सेठी
सन्त-समागम—दरियाईलाल कपूर
अमृत नाम—महिन्दर सिंह जोशी
अन्तर की आवाज़—सी. डब्लयू. सेंडर्स
मार्ग की खोज में—फ़्लोरा ई. वुड
रामचरितमानस का सन्देश—एस. एम. प्रसाद
हंसा हीरा मोती चुगना—टी. आर. शंगारी
जपुजी साहिब—टी. आर. शंगारी
हउ जीवा नाम धिआए—हेक्टर एस्पॉण्डा डबिन
हक़-हलाल की कमाई—टी. आर. शंगारी
जिज्ञासुओं के लिए—टी. आर. शंगारी
बिनती और प्रार्थना के शब्द—संकलित
अमृत वचन—संकलित
परमार्थ परिचय—हेक्टर एस्पॉण्डा डबिन
नितनेम की वाणियाँ और सलोक महला ९—टी. आर. शंगारी
बारह माहा—टी. आर. शंगारी

बच्चों के लिये पुस्तकें

आत्मा का सफ़र—विक्टोरिया जोन्ज़
एक नूर ते सभ जग उपजआ—विक्टोरिया जोन्ज़

To order books on the internet, please visit: www.rssb.org

भारत में किताबें ख़रीदने के लिये कृपया नीचे लिखे पते पर लिखें:

राधास्वामी सत्संग ब्यास
बी. ए. वी. डिस्ट्रिब्यूशन सेंटर, 5 गुरु रविदास मार्ग
पूसा रोड, नई दिल्ली 110005

जैन धर्म किसी घेरे में, सम्प्रदाय में, वेष में या शरीर की क्रिया में नहीं है,
किन्तु आत्मस्वरूप की पहिचान में ही जैन धर्म है—जैनत्व है।

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
जो परमात्मा है, वही मैं हूँ, तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है।

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ-भावं विपरीत-वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव!
भगवन्! संसार के सम्पूर्ण प्राणियों से मित्रता, गुणी पुरुषों को देखकर
प्रसन्नता, दुःखी जीवों पर दयार्द्रता और अकारण द्वेष करनेवालों
या दुष्ट जीवों पर माध्यस्थता अर्थात् न राग, न द्वेष,
मेरी आत्मा निरन्तर धारण करे।

Jain Dharm-Saar Sandesh
(Hindi)

ISBN 978-81-8256-924-9